

समयसार का सार

पहला प्रवचन

यह समयसार नामक परमागम है। इसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने दो हजार वर्ष पहले इसी पवित्रा भारतभूमि पर बनाया। यदि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैनाचार्य—परम्परा के शिरोमणि आचार्य हैं तो शुद्धात्मा का प्रतिपादक उनका यह समयसार ग्रंथ सम्पूर्ण जिनवाणी का शिरमौर है। भगवान् आत्मा का प्रतिपादक यह ग्रंथाधिराज समयसार जिनागम का बेजोड़ रत्न है।

आचार्य अमृतचन्द्र इसे जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु कहते हैं। वे कहते हैं कि जगत में इससे महान् और कुछ भी नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं ही समयसार का समापन करते हुए अंत में लिखते हैं कि जो व्यक्ति इस समयसार ग्रंथाधिराज का स्वाध्याय तत्त्व से व अर्थ से करेगा यानि उसके प्रतिपादक तत्त्व को वस्तुरूप से जानेगा, वह निश्चितरूप से सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्य की प्राप्ति करेगा, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करेगा, मुक्ति की प्राप्ति करेगा। ऐसा महान् क्रान्ति—कारी ग्रंथाधिराज है यह।

लाखों लोगों का जीवन इस समयसार के अध्ययन से बदला है। कविवर बनारसीदासजी, श्रीमद् रायचंद्रजी, आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी — इन सब के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लानेवाला यह ग्रंथाधिराज समयसार ही है।

इस ग्रंथाधिराज पर भरी सभा में उन्नीस बार प्रवचन करनेवाले आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि यह जैन आगम का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। लाखों शास्त्रों का सार इसमें भरा है। यह साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है और छटवें—सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्तों का जो आत्मानुभव है, वह इस ग्रंथ की प्रत्येक गाथा में समाहित है।

यह समयसार ग्रंथाधिराज जैनियों की गीता है, यह जैनियों का कुरान है, यह जैनियों की बाईबिल है। इसमें उस शुद्धात्मा का वर्णन किया गया है कि जिस शुद्धात्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रा की प्राप्ति होती है।

समय शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ होते हैं। समय माने काल, समय माने देश या क्षेत्रा, समय माने शास्त्रा, समय माने मत; यहाँ तक कि समय माने युद्ध भी होता है; लेकिन यहाँ समय शब्द आत्मा के अर्थ में है।

इसकी व्याख्या करते हुए आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं कि सम् उपसर्ग पूर्वक अय धातु है, जो गमनार्थक है। यह तो आप जानते ही हैं कि जिन-जिन धातुओं का अर्थ गमन होता है, उनका अर्थ नियम से जानना भी होता है। गमन अर्थात् परिणमन — इसप्रकार यदि हम ऐसा अर्थ लगायें कि जो परिणमन करे वह समय तो परिणमन तो छहों द्रव्य करते हैं; अतः समय शब्द का अर्थ हो जायेगा छहों द्रव्य; लेकिन जब हम ऐसा अर्थ करें कि जो गमन करे यानि परिणमन करे और साथ में जाने भी तो उसका अर्थ होगा आत्मा। इस तरह समय शब्द के मूलतः दो अर्थ होते हैं — एक अर्थ है छह द्रव्य और दूसरा अर्थ है आत्मा।

जब हम समय शब्द का अर्थ छहों द्रव्य करते हैं तो सार शब्द का अर्थ होता है कि उन छह द्रव्यों में से सर्वश्रेष्ठ सारभूत पदार्थ आत्मा। “सार पदारथ आत्मा सकल पदारथ जान” सम्पूर्ण पदार्थों में यह आत्मा ही एक सारभूत है। यदि हम समय का अर्थ आत्मा करते हैं तो सार का अर्थ — द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों से रहित शुद्ध आत्मा होता है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्म और उनकी 148 प्रकृतियाँ ही द्रव्यकर्म हैं। आत्मा में जो मोह-राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें भावकर्म कहते हैं। शरीर, स्त्री, पुत्रा, मकान, जायजाद, रुपया, पैसा आदि बाह्य पदार्थों को नोकर्म कहते हैं।

कर्म के उदय दो प्रकार से फलते हैं — एक जीवों के भावों के रूप में और एक संयोग के रूप में। ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के उदय

से आत्मा में अज्ञान, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया लोभ आदि जो विकारी परिणाम होते हैं, उन्हें भावकर्म कहते हैं और विशेषकर अघातिया कर्मों के उदय से हमें यह शरीर मिला; स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद, नगर, देश, गाँव मिले; यह हिन्दुस्तान जैसा परम पवित्रा देश मिला; हम ऐसे कुल में पैदा हुए कि जिसमें माँस-मदिरा नहीं है। — ये सब नोकर्म कहलाते हैं। कर्म के उदय से जो भी बाह्य संयोग मिलते हैं, उन्हें नोकर्म कहते हैं।

इसप्रकार कर्म तीन प्रकार का हो गया — द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। द्रव्यकर्म माने ज्ञानावरणादि कर्म, भावकर्म माने मोह, राग, द्वेष के परिणाम और नोकर्म माने कर्म के उदय से हमें जो भी संयोग मिला है — शरीर से लेकर देश, गाँव, नगर।

इन सबसे भिन्न है भगवान आत्मा। इन संयोगों और राग-द्वेष-मोह के संयोगी भावों से जो भिन्न है, वह आत्मा है — यह बताने के लिए ही सार शब्द जोड़ा गया है। इसतरह इस समयसार नामक ग्रंथाधिराज में द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मा को समझाया गया है।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम अर्थात् ‘यह ही मैं हूँ’ — ऐसी दृढ़ प्रतीति होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है। उस भगवान आत्मा को जानना; न केवल जानना, बल्कि आत्मानुभूतिपूर्वक जानना; ये जानना कि यह ही मैं हूँ — इसका नाम है सम्यक्ज्ञान। ऐसे उस आत्मा को जानकर, उसे ही निज मानकर, उसमें ही अपनापन स्थापित करके उस आत्मा में जो स्थिरता होती है, आत्मा में लीनता होती है; उसको बोलते हैं ध्यान अथवा सम्यक्चारित्रा।

इसी समयसार की 34 वीं गाथा में यह कहेंगे कि अपने में स्थिर हुए ज्ञान का नाम ही त्याग अथवा ध्यान है। इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रा को ही हम मुक्ति का मार्ग कहते हैं। इसतरह इस समयसार ग्रंथाधिराज में उस शुद्ध आत्मा का वर्णन किया जायेगा, जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है।

मंगलाचरण करके आचार्य कुन्दकुन्ददेव तत्काल दूसरी गाथा में

बात आरंभ करते हैं कि जो दर्शन—ज्ञान—चारित्रा में स्थित हैं, वे स्वसमय हैं और जो पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित हैं, वे परसमय हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है —

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठदो, तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठदं च, तं जाण परसमयं।।2।।
(हरिगीत)

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्वसमय।

जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे परसमय।।२।।

समय माने आत्मा। वह दो प्रकार का होता है — एक तो वह आत्मा जिसने अपने शुद्ध स्वभाव को पहचाना है और उसमें ही अपनापन स्थापित किया है, उसे ही निज जाना है, उसमें ही स्थित हो गया है; वह स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्रा से सम्पन्न मुक्ति—मार्गी है।

पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने का सीधा—सच्चा और सरल अर्थ यह है कि पुद्गलकर्म के उदय से जो भी हमें प्राप्त हुआ है, चाहे वह भावकर्म के रूप में हो या नोकर्म के रूप में हो; उसमें अपनापन स्थापित करे कि 'ये ही मैं हूँ' उसे ही अपना जानना, उसे ही अपना मानना और उसके ही ध्यान में मग्न रहना, उसकी ही चिंता में लगे रहना — इसका नाम है 'परसमय'।

यदि स्वसमय और परसमय — इन दोनों की उपेक्षा कर दें अर्थात् उसने अपनी आत्मा को निज जाना है या पर को निज जाना है — इन दोनों बातों को अलग कर दें तो जो शेष बचेगा; उसका नाम है समय; इसमें स्वसमय और परसमय का भेद नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो अनादि से लेकर, निगोद से लेकर मोक्ष तक एक, जैसा का तैसा रहता है — उसका नाम है समय।

तीसरी गाथा में आचार्यदेव बहुत महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं —

एयत्तणिच्छयगदो समओ, सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि।।3।।
(हरिगीत)

3

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में।
विसंवाद है पर बंध की यह कथा ही एकत्व में।।३।।

दुनिया में प्रत्येक पदार्थ एकत्वनिश्चयगत ही शोभा को प्राप्त होता है। हर चीज अकेले में ही सुन्दर है और मिलावट झगड़े का कारण है।

देखो ! दूध भी शुद्ध है और पानी भी शुद्ध है, लेकिन दूध में पानी मिला दें तो न केवल दूध अशुद्ध हो गया, मिलावटी हो गया; बल्कि पानी भी शुद्ध नहीं रहा। इसका मतलब है कि मिलावट में ही सारी गड़बड़ी है।

एक 25 वर्ष का बालब्रम्हचारी है। ज्ञान—ध्यान में लीन रहता है, दुनिया की झंझट में नहीं है। वह परम पवित्रा है; मन करता है कि उसके चरणों में माथा रख दें। ऐसी ही एक 20—22 वर्ष की बहन है। आत्मध्यान में, ज्ञान में लीन रहती है; किन्हीं झंझटों में नहीं। बालब्रम्हचारिणी है। उसके चरणों में भी माथा टेकने की हमारी इच्छा होती है। दोनों ही परम पवित्रा हैं।

अब यदि ये दोनों आपस में मिल जायें तो ? फिर आप उनके चरणों में माथा टेकेंगे या उन्हें घृणा की दृष्टि से देखेंगे? दो पवित्रा चीजें भी यदि मिलती हैं तो उनमें अपवित्रता आ जाती है। आचार्य यहाँ कह रहे हैं — दुनियाँ में हर पदार्थ अकेला अपने में ही शोभा पाता है; दूसरे के साथ मिलावट की बात तो विसंवाद पैदा करनेवाली है।

एकत्वनिश्चयगत माने प्रत्येक पदार्थ अपने में ही परिपूर्ण है, शुद्ध है; लेकिन दूसरे पदार्थों के साथ जो बंध की बात है, वह विसंवादिणी होदि — झगड़ा पैदा करनेवाली है; इसलिए अकेलापन ही सुन्दर है, एकत्व ही बढ़िया है। इसीलिए अगली चौथी गाथा में कहते हैं —

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।4।।

(हरिगीत)

सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा।

पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना॥४॥

काम, भोग और बंध की कथा तो दुनिया ने अनेकबार सुनी है, समझी है, उसके अनुभव में भी आई है; लेकिन पर से भिन्न और अपने से अभिन्न एकत्व—विभक्त भगवान आत्मा की बात न तो आजतक किसी ने सुनी है, न समझी है, न अनुभव में आई है; इसलिए अब मैं तुम्हें एकत्व—विभक्त भगवान आत्मा को समझाऊँगा।

लोक के समस्त जीव काम, भोग और बंध की कहानी में ही मग्न हैं। स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषय को काम कहते हैं। घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय के विषयों को भोग कहते हैं। ऐसा आचार्य जयसेन ने इस समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में स्पष्ट शब्दों में लिखा है।

यह तो आप जानते ही हैं कि यह ग्रंथाधिराज 2 हजार वर्ष पहले प्राकृत भाषा में लिखा गया है। तदनन्तर एक हजार वर्ष बाद आचार्य अमृतचन्द्र ने इस पर संस्कृत भाषा में आत्मख्याति नामक टीका लिखी। उसके 300 वर्ष बाद अर्थात् आज से करीब 700 वर्ष पहले आचार्य जयसेन ने सरल—सुबोध संस्कृत भाषा में तात्पर्यवृत्ति नामक टीका लिखी है।

आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका, जो गद्य और पद्य का मिश्रितरूप है — उसमें 278 छन्द हैं; वे छन्द कलश नाम से जाने जाते हैं। आज से 500 वर्ष पहले हुए पाण्डे राजमलजी ने उन कलशों पर तत्कालीन हिन्दी भाषा में टीका लिखी, जिसका नाम बालबोधिनी कलशटीका है। उसको आधार बनाकर पण्डित बनारसीदासजी ने पद्यरूप नाटक समयसार हिन्दी में लिखा है।

उसके बाद पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा ने आज से लगभग 200 वर्ष पहले इस समयसार की आत्मख्याति टीका पर भाषाटीका हिन्दी में लिखी। उसके आधार पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने समयसार का गहरा अध्ययन किया और सभा में समयसार पर 19 बार

प्रवचन किये; उनमें से उन्नीसवीं बार हुए प्रवचन प्रवचनत्नाकर नाम से प्रकाशित हुए हैं।

इसतरह इन 2 हजार वर्षों में इस समयसार पर बहुत कुछ लिखा गया, बोला गया। मैंने भी इसके अनुशीलन में लगभग 2200 पृष्ठ लिखे हैं; जो समयसार अनुशीलन के नाम से पाँच भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। समयसार के नाम पर शुद्धात्मा की चर्चा का यह विपुल साहित्य आज हमें सहज ही उपलब्ध है।

यहाँ ज्ञानावरणादि कर्मों की चर्चा को बंधकथा कहा है। एकप्रकार से यहाँ पूरे करणानुयोग की चर्चा को ही बंधकथा कह रहे हैं। कामभोग—कथा और बंध की कथा सारे जगत को अत्यन्त सुलभ है अर्थात् गली—गली में सुनने को मिलती है, जगह—जगह बताई जाती है। और तो जाने दो — बाप बेटे को सिखाता है, बेटा बाप को सिखाता है कि धन्धा—पानी कैसे करना है और कैसे पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने हैं।

आगे जाकर इसी समयसार के मोक्षाधिकार में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहेंगे कि बंध की चर्चा करने से और बंध का ज्ञान होने से बंध का नाश नहीं होता।

जब भोजन के ज्ञान से या भोजन की चर्चा से हमारी भूख नहीं मिटती तो बंध की चर्चा और बंध का ज्ञान हो जाने से मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी ?

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि हम भी तो यही कहते हैं कि कोरी चर्चा करने से कुछ नहीं होगा, कुछ करना पड़ेगा; लेकिन जो लोग ऐसी बात करते हैं, उनके करने शब्द का आशय मात्रा बाह्य क्रियाकाण्ड करने से है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भेदविज्ञान करना पड़ेगा, बंध से भिन्न भगवान आत्मा को जानना पड़ेगा, भावबंध अर्थात् मोह—राग—द्वेष से भिन्न भगवान आत्मा को जानना पड़ेगा। बंध और आत्मा में भेद—विज्ञान करके और बंध पर से उपयोग हटाकर आत्मा पर उपयोग ले जाना — यह है मुक्ति की प्राप्ति का उपाय।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि काम, भोग और बंध की कथा जगत में

सुलभ है, गली—गली में सुनने को मिलती है; लेकिन एकत्वगत भगवान आत्मा की कहानी तो आजतक सुनी ही नहीं है। धर्म के नाम पर भी जो चर्चा होती है; वह या तो खान—पान की या फिर क्रियाकाण्ड की या फिर करणानुयोग के नाम पर बंध की चर्चा ही होती है।

इन सबसे भिन्न जो भगवान आत्मा है; उसकी बात तो आज होती ही नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य के समय में भी ऐसी ही स्थिति थी। तब तो उन्हें लिखना पड़ा कि काम, भोग और बंध की कहानी सारी दुनियाँ के लिए सहज है, सुलभ है और एकत्वनिश्चयगत भगवान आत्मा की बात न तो आजतक सुनी है और यदि सुनी भी है तो समझी नहीं है; समझी भी है तो अनुभव में नहीं आई है; इसलिए मैं एकत्वनिश्चयगत भगवान आत्मा की बात कहूँगा।

यदि कोई कहे कि क्या हमने आजतक आत्मा की बात सुनी ही नहीं है? तो उससे कहते हैं कि अरे भाई ! ऊपर से तो ऐसा ही लगता है, लेकिन अंदर में जाकर गहराई से विचार करते हैं तो बात जचती है। यदि सच्चे दिल से हमने आत्मा की बात सुनी होती तो आज हम यहाँ नहीं होते।

अरे भाई ! आचार्यदेव कहते हैं कि इस भगवान आत्मा की कथा जिसने प्रीतिपूर्वक चित्त से सुनी है, वह निश्चितरूप से भव्य है। अकेला भव्य नहीं है, भाविनिर्वाणभाजनम् अतिशीघ्र मुक्ति को प्राप्त होगा।

यदि उस भगवान आत्मा की कथा को हमने गहराई से सुना होता, वह हमारे अन्दर उतरी होती तो हम इस खोटे काल में, खोटे क्षेत्रा में पैदा ही नहीं हुए होते। इसलिए यह बात सच्ची ही है कि यह आत्मा की बात हमने सुनी ही नहीं। मतलब यह नहीं है कि हमारे कान में यह बात पड़ी ही नहीं। हम भगवान के समवशरण में भी गये; लेकिन वहाँ भी अपने विषय—कषाय के पोषण की बात को ही को ग्रहण किया। केवलि आगल रह गयो कोरो केवली के आगे जाकर भी कोरे रह गये।

धर्म के क्षेत्रा में भी आए तो पाँच इन्द्रियों के विषयों की भोगसामग्री हमें कैसे मिले ? इसके उपायरूप में ही हमने धर्म का सेवन किया। यहाँतक की

भगवान से कहने लगे कि यदि मेरे बच्चे हो जावेंगे तो मैं एक नारियल चढ़ाऊँगा। यानि भगवान से भी भोगसामग्री की मांग करने लगे, पैसे की मांग करने लगे।

जबतक यह आत्मा की बात समझकर जीवन में न उतारी जाय तो यही कहा जायगा है कि जीव ने धर्म की बात सुनी ही नहीं।
5 बाप ने बेटे से कहा — एक गिलास पानी लाना।

जब वह नहीं लाया तो फिर दो मिनट बाद कहा कि एक गिलास पानी लाना। फिर भी नहीं लाया, तो तीसरी बार कहा कि सुनता नहीं है।

बेटा बोला — 'सुन लिया न ! आपने कहा है न कि एक गिलास पानी लाना। मेरे कान खराब नहीं हैं। मैंने अच्छी तरह सुन लिया है।'

बोलो, उसने सुना है कि नहीं सुना ? पिता फिर भी कहेगा कि देखो — आज के बच्चे सुनते ही नहीं हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि तेरे कान में पड़ी — इतने मात्रा से हम सुनना नहीं मानते। जबतक तू मूल बात को समझकर उसरूप परिणमित नहीं होगा, उसको जीवन में नहीं उतारेगा; तबतक हम उसे न सुनना ही कहेंगे। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि आजतक तुमने इस आत्मा की बात को सुना ही नहीं।

वे ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि तुम इस बात को हल्के तौर पर न लेना; क्योंकि वे हमें एक ऐसी अद्भुत बात सुनाने जा रहे हैं, जो हमारे लिए अभूतपूर्व है।

अरे भाई ! ये आत्मा की बात न कभी सुनी है और न जगह—जगह सुनने को ही मिलेगी। यह बात कोई तोता—मैना का किस्सा नहीं है। 'एक था राजा एक थी रानी, दोनों मर गये खतम कहानी' — ऐसा भी नहीं है। यह कोई अद्भुत बात है, अभूतपूर्व बात है, महाकल्याण करनेवाली बात है; इसलिए तुम इसे अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनना।

इसप्रकार उन्होंने यहाँ उस एकत्व—विभक्त आत्मा को समझाने की प्रतिज्ञा की है।

एकत्व माने अपने में अभेद अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड,

असंख्यात प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड और विभक्त माने द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म अथवा पर और पर्याय से जुदा — ऐसा एकत्व—विभक्त भगवान आत्मा। इस एक वाक्य से हम समझ सकते हैं कि पूरे समयसार की मूल विषयवस्तु क्या होगी ?

यह भगवान आत्मा पर से जुदा है और अपने से अभिन्न है। यह बतलाना ही पूरे समयसार का मूल प्रयोजन है।

पर से भिन्न और अपने से अभिन्न भगवान आत्मा को हम इस उदाहरण से भली-भाँति समझ सकते हैं — देश उसे कहते हैं, जिसका कोई निश्चित भू-भाग होता है अर्थात् ऐसा क्षेत्र जिसकी सीमा रेखा निश्चित होती है। निश्चित सीमा रेखा होने के बाद देश को दो तरह से खतरा हो सकता है। 'पड़ोस के देश हमारे देश की सीमा रेखा में प्रवेश न कर जाए; हमारे क्षेत्र का कोई हिस्सा छीन न लें; हमारी सीमा खण्डित न कर दें' — एक तो यह खतरा हो सकता है। दूसरा खतरा इसप्रकार हो सकता है — हमने हमारे देश को व्यवस्था के लिए प्रान्तों में बाँटा है, एक-एक प्रान्त को जिलों में बाँटा है, जिलों को तहसीलों में बाँटा है, तहसीलों को गाँवों में बाँटा है, गाँवों को मोहल्लों में बाँटा है, मोहल्लों को घरों में बाँटा है, घरों को कमरों में बाँटा है, कमरों को पलंगों में बाँटा है। एक कमरे में भी दो पलंग होते हैं। लोग इस व्यवस्था को न समझकर "मैं हिन्दू, तू मुसलमान; मैं मराठी, तू गुजराती" — ऐसे धर्म के नाम पर, भाषा के नाम पर, प्रान्त के नाम पर जब लड़ने-झगड़ने लगते हैं और अलग-अलग होने की माँग करने लगते हैं तो देश के टूटने का डर रहता है, टुकड़ों में बँट जाने का डर रहता है।

इसप्रकार देश को दो जगह से खतरे हैं — एक तो देश के बाहरवालों से और एक देश के अन्दरवालों से। अन्दरवालों से जो खतरा है, उस खतरे से सुरक्षा का नाम है देश में एकता कायम रहना। अन्दर के शत्रुओं से देश की एकता को खतरा है। बाहर के शत्रुओं से देश की एकता को खतरा नहीं है; क्योंकि बाहरवाले

जब आक्रमण करते हैं तब सारा देश एक हो जाता है। हम लोग प्रान्तों के नाम पर एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं; किन्तु जब बाहर से आक्रमण होता है, तब एक हो जाते हैं।

6

“बाहर से सीमा रेखा खण्डित न हो जाय; किसी 'पर' का हममें प्रवेश न हो जाय” — हमें इसका खतरा है। आत्मा भी देश जैसा ही है। यह द्रव्य देश जैसा ही है। देश और द्रव्य की एकता के उदाहरण स्वरूप मैंने नयचक्र में छह पेज लिखे हैं। हिन्दुस्तान में 20 प्रदेश हैं और आत्मा में असंख्यात प्रदेश हैं। यदि हिन्दुस्तान प्रदेशों में बँटेगा, तो 20 ही टुकड़े होंगे; किन्तु यदि आत्मा प्रदेशों में बँट गया तो उसके असंख्यात टुकड़े हो जाएंगे। इसीप्रकार देश में सौ-दो सौ समाज हैं तथा आत्मा में अनन्त समाज हैं; समाज अर्थात् गुण, गुण को समाज बोलते हैं, पण्डित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में मंगलाचरण में गुण को समाज कहा है — 'यातै मिलें समाज सब।' यदि देश समाजों में बँट गया तो सौ-दो सौ टुकड़े ही होंगे; किन्तु यदि आत्मा गुणों में बँट गया तो उसके अनन्त टुकड़े हो जाएंगे।

इसीलिए यह कहा जाता है कि हम आत्मा को गुणभेद में न बाँटें तथा प्रदेशभेद में न बाँटें — इसी का नाम आत्मा का एकत्व है।

हम पुद्गल को आत्मा न समझ लें, धर्म-अधर्म-आकाश-काल को आत्मा न समझ लें, दूसरे आत्मा को स्व-आत्मा न समझ लें; क्योंकि दूसरे आत्मा भी तो हमारे लिए परद्रव्य हैं, परपदार्थ हैं। स्त्री-पुत्रादि की आत्मा भी तो हमसे जुदा है — अतः वे भी परपदार्थ हैं। अपनी मान्यता में इन सभी परपदार्थों का प्रवेश न हो जाय — इसका नाम विभक्त है।

ये जो परपदार्थ हैं, ये हमारे लिए पाकिस्तान जैसे पर हैं। हमें यह ध्यान रखना है कि ये हमारे अन्दर नहीं आ जावें। वास्तव में ये परपदार्थ अन्दर आते तो हैं ही नहीं। क्या पाकिस्तान हिन्दुस्तान में आ जाएगा? हिन्दुस्तान पाकिस्तान में चला जावेगा? हिन्दुस्तान अमेरिका चला

जाएगा? कोई हिन्दुस्तानी अमेरिका जा सकता है, हिन्दुस्तान नहीं। कोई अमेरिकन हिन्दुस्तान में आ सकता है, अमेरिका हिन्दुस्तान में नहीं आ सकता।

इसीप्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तो कभी जाता ही नहीं है तथा जा भी नहीं सकता है। बस हमारी मान्यता में यह हो सकता है कि 'यह मेरा है' तथा मानने से हमें कोई रोक भी नहीं सकता है। पाकिस्तान यदि यह मान ले कि दिल्ली उसकी है, तो हम क्या कर सकते हैं। वह अपने घर में बैठे-बैठे मान तो सकता ही है; किन्तु उसके मानने से दिल्ली उसकी नहीं हो जाएगी। हम यदि यहाँ बैठे-बैठे यह मान लें कि वाशिंगटन हमारा है, तो हमारे मानने से वाशिंगटन हमारा नहीं हो जाएगा। उसीप्रकार एकद्रव्य दूसरे द्रव्य को अपना मान ले, तो उसके मानने से वह उसका नहीं हो जाएगा; अपितु मानने से उसकी मान्यता अवश्य झूठी हो जाएगी।

आत्मा की मान्यता में पर का प्रवेश न हो जाय, इसी का नाम विभक्त है। जिसप्रकार देश की दूसरे देशों से रक्षा करने के लिए उसकी सीमा रेखा जानना बहुत जरूरी है; उसीप्रकार आत्मा को 'ये मैं हूँ' और 'ये मैं नहीं हूँ' — ऐसी दो द्रव्यों के बीच की सीमा रेखा जानना बहुत जरूरी है।

जानने में मात्रा इतना ही नहीं है कि 'ये मेरे नहीं हैं' अपितु 'ये मैं नहीं हूँ', 'मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता हूँ', 'मैं इसका उपभोग भी नहीं कर सकता हूँ' — इनको भी जानना बहुत जरूरी है। इसीप्रकार 'परद्रव्य मैं नहीं हूँ', 'परद्रव्य की क्रिया का कर्ता मैं नहीं हूँ', 'परद्रव्य का उपभोग भी मैं नहीं कर सकता हूँ' — ऐसी मान्यता के होने का नाम है दो द्रव्यों के बीच में सीमा रेखा जानना। इसी का नाम विभक्त है।

भगवान आत्मा ऐसा द्रव्य है; जो असंख्य प्रदेशों में अखण्ड है अर्थात् एकत्व लिए हुए है, अपने अनंत गुणों में अखण्ड है, अनादि-अनंत है अर्थात् अपनी अनन्तानन्त पर्यायों में अखण्डता को लिए हुए है। कहने

का तात्पर्य यह है कि वह काल से भी खण्डित नहीं है, क्षेत्रा से भी खण्डित नहीं है, भाव से भी खण्डित नहीं है और द्रव्य से भी खण्डित नहीं है।

7

जिसप्रकार भारत देश जब क्षेत्रा से भी अखण्ड रहे, भाव से भी अखण्ड रहे, काल से भी अखण्ड रहे एवं स्वयं द्रव्य में भी अखण्ड रहे; तभी वह अखण्ड भारतदेश कहलाएगा। उसीप्रकार हमारा भगवान आत्मा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्रा, स्वकाल और स्वभाव से अखण्ड रहे, तभी वह अखण्ड आत्मा कहलाएगा, उसी का नाम एकत्व है एवं पर से एकदम जुदेपने का नाम विभक्त है।

नेहरूजी ने पंचशील का नारा दिया था। उसमें उन्होंने कहा था कि एक देश दूसरे देश पर आक्रमण नहीं करेगा, हस्तक्षेप नहीं करेगा तथा प्रत्येक देश अपनी प्रभुत्व सत्ता सम्पन्न है अर्थात् प्रत्येक देश की सत्ता उसकी स्वयं की है; स्वयं का मालिक वही है, कोई अन्य नहीं। इसप्रकार अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, प्रभुत्वसत्तासम्पन्न इत्यादि पंचशील के नारे नेहरूजी ने दिए थे। नेहरूजी ने जब दिए होंगे, तब दिए होंगे; किन्तु जैनदर्शन कहता है कि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का हस्तक्षेप सम्भव ही नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर आक्रमण कर ही नहीं सकता है, कोई भी द्रव्य अपनी सीमा के बाहर निकलता ही नहीं है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच में वज्र की दीवाल पड़ी है। चीन की दीवाल भी उस दीवाल के सामने कुछ नहीं है। दो द्रव्यों के बीच में वज्र की दीवाल होने का नाम ही पर से विभक्त है।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं तुम्हें ऐसा आत्मा समझाऊँगा जो अपने में अखण्ड है, अविभक्त है, अनादि-अनंत है, असंख्यातप्रदेशी होने के बाद भी एक है, अनंतगुणोंवाला होकर भी एक है, जो मोह-राग-द्वेष से रहित है। ऐसे शुद्ध आत्मा का नाम है एकत्व एवं पर से आत्मा का कोई संबंध नहीं है — इसका नाम है विभक्त। 'मैं तुम्हें एकत्व-विभक्त आत्मा समझाऊँगा' यह कुन्दकुन्दाचार्य की प्रतिज्ञा है। समयसार का सार समझते हुए हमें इस बात का ध्यान कदम-कदम

पर रखना होगा कि कुन्दकुन्दाचार्य ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हें एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा समझाऊँगा, इसलिए हर जगह यही बात निकलनी चाहिए।

ऐसी प्रतिज्ञा करने के बाद आचार्य सबसे पहले विभक्त का अर्थ समझाते हैं। आचार्य कहते हैं कि हम चार प्रकार से संबंध जोड़ते हैं; वे चार संबंध इसप्रकार हैं — 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है', 'मैं इसका कर्ता हूँ', 'मैं इसका भोक्ता हूँ'। इन चार प्रकार के संबंधों को तोड़ने का नाम है विभक्त। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'मैं परद्रव्यरूप नहीं हूँ एवं परद्रव्य मुझ रूप नहीं हैं अर्थात् परद्रव्य मेरे नहीं हैं', 'मैं उनका स्वामी नहीं हूँ एवं वे मेरे स्वामी नहीं हैं', 'मैं उनका कर्ता नहीं हूँ एवं वे मेरे कर्ता नहीं हैं', 'मैं उनका भोक्ता नहीं हूँ एवं वे मेरे भोक्ता नहीं हैं' — इन चारों प्रकार के संबंधों को तोड़ने का नाम विभक्त है।

समयसार के जीवाजीवाधिकार में इन दो प्रकार के संबंधों को तोड़ा है — 'परद्रव्य मैं नहीं हूँ' और 'परद्रव्य मेरा नहीं है'। 'परद्रव्य का कर्ता मैं नहीं हूँ' और 'परद्रव्य का भोक्ता मैं नहीं हूँ' — इन दो प्रकार के संबंधों को आचार्य कर्ता-कर्म अधिकार में तोड़ेंगे।

इसप्रकार यहाँ पर विभक्त की चर्चा हुई।

जैनदर्शन में दो प्रकार के व्यवहार का वर्णन है — पहला सदभूत व्यवहारनय और दूसरा असदभूतव्यवहारनय। असदभूतव्यवहारनय उसे कहते हैं जो पर से संबंध जोड़ता है तथा सदभूतव्यवहारनय उसे कहते हैं जो अपने में भेद डालता है। हमें यहाँ यह समझना है कि अपने में भेद न हो और पर से संबंध नहीं हो; किन्तु हम उन्हीं दोनों प्रकार के व्यवहार को करते हैं जो हमें नहीं चाहिए। हम इसप्रकार पर से संबंध जोड़ते हैं कि 'ये मैं हूँ', 'यह मेरा है', 'मैं इसका कर्ता हूँ', एवं 'मैं इसका भोक्ता हूँ'।

हमारे नजदीक का परपदार्थ शरीर है। स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद, रुपया, पैसा आदि परपदार्थ तो दूर के हैं; क्योंकि हम इनको अच्छी

तरह जान सकते हैं कि ये पर हैं। समयसार के जीवाजीवाधिकार में तो जिन परपदार्थों से आत्मा को भिन्न जानना है, उन परपदार्थों को उनतीस भागों में बाँटा है। आचार्य ने फिर उन्हीं उनतीस परपदार्थों को दो भागों में बाँट दिया, एक का नाम रागादि रखा तथा दूसरे का नाम वर्णादि।

8

इसी बात को छहढाला में इसप्रकार कहा है —

'वरणादि अरु रागादितैं निज भाव को न्यारा किया।'¹

समयसार-कलश में आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसी बात को इसप्रकार कहते हैं —

'वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा, भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंस।'²

'वर्णादि और रागादि — ये सभी भाव आत्मा से भिन्न हैं।'

यहाँ पर उन उनतीस प्रकार के भावों में से मात्रा शरीर को ही मुख्य रखकर चर्चा करते हैं; क्योंकि आत्मा का परपदार्थों में सबसे नजदीक का संबंध शरीर से ही है। आत्मा का शरीर से ही नजदीक का संबंध होने का कारण यह है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक आत्मा का और शरीर का एकसाथ रहना होता है। मकान, स्त्री, पुत्रा — ये परपदार्थ तो बीच में ही छूट जाते हैं और नए आ जाते हैं। इन परपदार्थों के छूटने और नए आने की भिन्नता का ज्ञान हमें आसानी से हो जाता है; किन्तु देह जन्म से लेकर मरण के बीच में छूटती नहीं है, इसलिए देह की भिन्नता का ज्ञान नहीं हो पाता है।

जन्म से पहले हम थे या नहीं थे? इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है और 'मरने के बाद क्या होगा?' — यह सिद्ध करना भी आसान नहीं है। जैसा स्त्री-पुत्रादि का वियोग हम अपनी आँख से देख लेते हैं, वैसा देह का वियोग हम अपनी आँखों से नहीं देख पाते हैं; क्योंकि देह का वियोग होने के पहले हम बेहोश हो जाते हैं तथा वियोग होने के बाद का हमें पता नहीं है कि क्या होता है? इसी कारण से देह और आत्मा हमें एक ही लगते हैं।

1. छहढाला, छटवीं ढाल, आठवाँ छन्द

2. समयसार कलश नं. 37

जीव देह से चार प्रकार से संबंध स्थापित करता है। वे चार संबंध निम्न हैं — 'देह मैं हूँ', 'देह मेरी है', 'देह की क्रिया का कर्त्ता मैं हूँ' और 'मैं देह का उपभोग करता हूँ'।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि 'देह मेरी है' यह बात तो समझ में आ सकती है; किन्तु 'देह मैं हूँ' ऐसा कौन समझता है? हम इतने मूर्ख थोड़े ही हैं।

अरे भाई ! कौन क्या समझता है — यह तो बाद की बात है; लेकिन 'आप क्या हो?' इसका निर्णय आपको ही करना है।

किसी व्यक्ति से उसका वजन पूछने पर यदि वह अपना वजन 60 किलो बताता है, तो वह 60 किलो वजन आत्मा का है या शरीर का? यदि वह 60 किलो वजन स्वयं का बताता है तो इसी का नाम शरीर में एकत्वबुद्धि है। वह व्यक्ति यही मानता है कि 'ये शरीर मैं हूँ'।

इसीप्रकार मैं गोरा, मैं काला, मैं बीमार, मैं स्वस्थ, मुझे बुखार आ गया — यह भाषा ही देह में एकत्वबुद्धि को सिद्ध करती है। 'यह मैं हूँ' — इसी को शास्त्रीय भाषा में एकत्वबुद्धि, अहंबुद्धि कहते हैं। 'यह मेरा है' — इसे ममत्वबुद्धि कहते हैं, स्वामित्वबुद्धि कहते हैं। 'मैं इसकी क्रिया का कर्त्ता हूँ, मैंने इसे सँभालकर रखा है, मैं इस उम्र में भी कितना स्वस्थ दिखता हूँ' — इसका नाम कर्तृत्वबुद्धि है। 'मैंने इस शरीर से पूरा काम लिया है, मैं इसका उपभोग करता हूँ' — इसका नाम भोक्तृत्वबुद्धि है।

इसप्रकार आत्मा परपदार्थों से चार प्रकार से संबंध स्थापित करता है; जिन्हें एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि कहा जाता है। इन चारों बुद्धियों को तोड़ने का नाम ही विभक्त आत्मा का ज्ञान है।

इसप्रकार एकत्व—विभक्त भगवान आत्मा की संक्षेप में चर्चा हुई। इसके बाद आचार्यदेव यह चर्चा करेंगे कि एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि का विस्तार कैसे होता है तथा ये कैसे टूटती हैं? ●

दूसरा प्रवचन

9

यहाँ समयसार परमागम की चर्चा चल रही है; जिसमें कल यह बात की थी कि समयसार में एकत्व—विभक्त भगवान आत्मा को समझाने की प्रतिज्ञा की है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मैं तुम्हें उस एकत्व—विभक्त भगवान आत्मा को समझाऊँगा कि जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्य की प्राप्ति होती है।

वास्तव में बात यह है कि इस जगत को दो भागों में बाँटना है। एक भाग में अपना त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा और दूसरे भाग में सारा जगत। इसी को वे विभक्त आत्मा कहते हैं। विभक्त अर्थात् पर से भिन्न। स्व और पर इन दोनों के बीच में सीमा रेखा खींचना ही भेदविज्ञान है। आत्मा—आत्मा तो सभी कहते हैं; लेकिन आत्मा का अर्थ क्या है? यह नहीं समझते। अपना कल्याण करो, ऐसा तो सारी दुनिया कहती है, लेकिन अपने कल्याण का क्या अर्थ होता है? यह कोई नहीं जानता।

अपनी आर्थिक स्थिति सुधारो, अपनी शारीरिक स्थिति सुधारो, अपनी सामाजिक स्थिति सुधारो, अपनी राजनैतिक स्थिति सुधारो; अपने कल्याण का क्या यही अर्थ है?

अरे भाई ! सारी दुनिया को दो भागों में विभक्त करना है — एक भाग में अपना आतमराम और दूसरे भाग में सारा जगत। लोक में एक कहावत प्रचलित है कि एक ओर राम और एक ओर गाँव — इन दोनों में से तेरे को चुनाव करने का मौका मिले तो तू किसे चुनेगा? तेरी दृष्टि में दोनों में से अधिक महत्त्व किसका है? यदि राम का महत्त्व है तो कहते हैं कि जिसने आतमराम को चुना, उसका कल्याण होगा और जिसने गाँव को चुना, उसका कल्याण नहीं होगा।

महाभारत की कथा से भी यही बात प्रगट होती है। जब महाभारत का युद्ध हो रहा था और युद्ध में सहायता के लिए दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही श्रीकृष्ण के पास पहुँचे। श्रीकृष्ण ने कहा कि देखो भाई ! एक

ओर मैं अकेला निहत्था रहूँगा और दूसरी तरफ मेरी सशस्त्रा सेना रहेगी। बोलो तुम्हें क्या चाहिए।

दुर्योधन ने कहा कि बिना हथियारों के अकेले आपका हम क्या करेंगे? लड़ाई तो हथियारों से लड़ी जाती है, सैनिकों से लड़ी जाती है, सेना से लड़ी जाती है। इसलिए हमें तो सशस्त्रा सेना ही चाहिए। अकेले आप करेंगे भी क्या? युद्ध के मैदान में भी व्याख्यान ही देंगे न, उपदेश ही देंगे न। उस उपदेश से हमारा क्या कल्याण होनेवाला है?

जब अर्जुन से पूछा गया कि तुम्हें क्या कहना है?

अर्जुन ने कहा कि जब चुनने का पहला अवसर दुर्योधन को ही मिला है और उसने चुन भी लिया; तब मेरे को चुनने का अवसर ही कहाँ है?

फिर भी मैं कहता हूँ कि यदि मुझे पहले चुनने का अवसर मिलता तो भी मैं निहत्थे अकेले आपको ही चुनता; क्योंकि मैं ऐसा मानता हूँ कि जिसकी तरफ आप हैं, उसकी निश्चितरूप से विजय है। गीता में भी एक ऐसा कथन आता है कि "यतो कृष्ण; ततो जयः" जहाँ कृष्ण है, वहाँ विजय है।

उदाहरण में भगवान के रूप में कृष्ण हैं और यहाँ अपना आत्मा भगवान के रूप में है। जहाँ अपना आत्मा है, वहाँ सुख-शान्ति है और जहाँ अपना आत्मा नहीं है, वहाँ सुख-शान्ति नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के बिना सारा जगत हो, चक्रवर्ती की सम्पदा हो, इन्द्र जैसा भोग-वैभव हो तो भी सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं होगी।

महाभारत के युद्ध का परिणाम भले ही अठारह दिन बाद निकला हो; लेकिन असली फैसला तो उसी दिन हो गया था; जिस दिन दुर्योधन ने सेना को चुना और श्रीकृष्ण को छोड़ दिया था, जिस दिन अर्जुन ने निहत्थे श्रीकृष्ण को चुना था और हथियारों सहित सेना को छोड़ दिया था। इससे सिद्ध होता है कि जगत में हथियार नहीं जीतते हैं; बुद्धि जीतती है, विवेक जीतता है, धर्म जीतता है, अध्यात्म जीतता है। हथियार तो हिंसा के प्रतीक है। सेना तो युद्ध की प्रतीक है।

यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है कि महाभारत में श्रीकृष्ण का क्या

योगदान है? यदि हम बाहर से देखें तो आखिर उनकी क्या हैसियत है महाभारत के युद्ध में?

10

वे अर्जुन के मात्रा सारथी ही थे न? सारथी किसे कहते हैं, आज की भाषा में? अरे भाई! एक ड्राइवर का नाम ही तो सारथी है। ड्राइवर किसी का ही क्यों न हो, भले ही प्रधानमंत्री का ही ड्राइवर क्यों न हो; है तो आखिर ड्राइवर ही। ऐसे ही श्रीकृष्ण का स्थान महाभारत के युद्ध में एक सारथी (ड्राइवर) का था। भले ही वह सारथी प्रधान सेनापति का ही क्यों न हो, लेकिन सारथी तो सारथी ही है। युद्ध की विजय में सारथी का क्या स्थान हो सकता है? लेकिन महाभारत की विजय का सम्पूर्ण श्रेय यदि किसी को जाता है तो वे हैं एकमात्र श्रीकृष्ण।

जब अर्जुन को युद्ध में व्यामोह हो गया और वे युद्ध करने से विरक्त हो गये, तब श्रीकृष्ण ने ही अपनी सशक्त वाणी से उन्हें उत्साहित किया था, प्रेरित किया था। जब सेनापति का ही मन टूट जायेगा, वह ही लड़ना पसंद नहीं करेगा तो जीत कैसे होगी? आखिर इस युद्ध के मैदान में ही गीता का उपदेश दिया गया और उस गीता के उपदेश का ही यह प्रभाव माना जाता है कि महाभारत में पाण्डवों की विजय हुई।

विजय तो आखिर उपदेश की ही हुई, हथियारों की नहीं। भले ही लोग कहें कि तुम्हारे कोरे उपदेश से क्या होता है? भगवान आत्मा और कर्मों की जो लड़ाई है, दोनों के बीच में जो महाभारत है; उस महाभारत में भी इस जीवात्मा की विजय तभी होगी, जब जीव आत्मा को चुनेगा, आत्मा को समझेगा। आत्मा को सुनना, समझना — यह देशनालब्धि से प्रारंभ होता है। बाद में आत्मा का अनुभव होता है। शास्त्रीय भाषा में बात करें तो पहले देशनालब्धि होती है, बाद में करणलब्धि होती है; फिर आत्मा का अनुभव होता है। अतः उपदेश का कोई महत्त्व नहीं है — यह बात सत्य नहीं है।

यहाँ यह समझ लीजिए कि यह अध्यात्म का महाभारत है। इस अध्यात्म के महाभारत में सारी दुनिया को दो भागों में बाँटना है। एक भाग में अपना वह आत्मा रखना है कि जिस आत्मा को जानने का नाम

सम्यग्ज्ञान है। न केवल जानने का नाम, बल्कि 'यह ही मैं हूँ' — ऐसे जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है। उसी में अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन और उस के ही ध्यान का नाम सम्यक्चारित्र है। उस आत्मा को सारे जगत में से खोज निकालना समयसार का काम है। समयसार की मूल विषयवस्तु अथवा प्रतिपादन केन्द्रबिन्दु वह आत्मा ही है, वह आत्मस्वभाव ही है कि जिसके आश्रय से मुक्ति का मार्ग आरंभ होता है।

आत्मा, आत्मा तो सारी दुनिया कहती है; पर आत्मा को जानता कौन है? मनुष्य, तिर्यच, नारकी, देव, हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, हम—तुम सब जीव ही तो हैं, सब आत्मा ही तो हैं। जीव के रूप में इस जगत में हमें जो कुछ दिखाई देता है और सारी दुनिया जिन्हें जीव मानती है; वह देहरूप में ही दिखाई देता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि यह प्राणी अकेला देह नहीं है, वह देह और आत्मा का मिश्रण (मिक्चर) है। जैसे हाथी, घोड़े, मनुष्य, चींटी — ये अकेले देह तो नहीं हैं? यदि अकेली देह को जीव कहा जाता होता तो मुर्दे को भी जीव कहा जाता; लेकिन मुर्दे को जीव नहीं कहा जाता है। देह में जीव है — यह बात सत्य है; पर यह बात भी तो सत्य ही है कि देह जीव नहीं है; क्योंकि यह देह तो रूप, रस, स्पर्श और गंधवाला पदार्थ है और भगवान आत्मा में तो रूप, रस, स्पर्श और गंध हैं ही नहीं।

समयसार में मूलतः नौ अधिकार हैं, जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं — 1. जीवाजीवाधिकार, 2. कर्ताकर्माधिकार, 3. पुण्यपापाधिकार, 4. आस्रवाधिकार, 5. संवराधिकार, 6. निर्जराधिकार, 7. बंधाधिकार, 8. मोक्षाधिकार और 9. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार।

मूल समयसार में तो उपरोक्त नौ अधिकार ही हैं। बाद में टीकाकारों ने टीका लिखते समय और भी जो आवश्यक चीजें समझीं, उनको भी परिशिष्ट के रूप में इसमें जोड़कर स्याद्वाद अधिकार, साध्यसाधकभावाधिकार आदि जोड़ दिये हैं।

जीवाजीवाधिकार को भी कहीं—कहीं जीव अधिकार और अजीव अधिकार — ऐसे दो भागों में भी विभाजित किया है; लेकिन मूलतः देखा जाये तो दोनों को मिलाकर 68 गाथा तक यह जो अधिकार है, उसका नाम है — जीवाजीवाधिकार।

जीवाजीवाधिकार की 49वीं गाथा में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इस भगवान आत्मा में न रस है, न रूप है, न गंध है, न स्पर्श है। यानि रूप, रस, गंध, स्पर्श — ये सब पुद्गल के गुण हैं, आत्मा के नहीं। इन आँखों से जो कुछ दिखाई दे रहा है — यह शरीर, रूप, रंग, आकार—प्रकार, यह सब पुद्गल है। इसलिए यह तो बहुत अच्छी तरह से कहा जा सकता है कि जो हमें इस चमड़े की आँखों से दिखाई देता है, वह आत्मा नहीं है; वह तो देह ही है।

इस देह में आत्मा है, लेकिन सारा जगत इस देह को ही जीव कहता है, इसको ही आत्मा मानकर बैठा है। इसलिए यहाँ समयसार यह कहता है कि यदि हमें आत्मा का कल्याण करना है तो पहले हमें यह तो नक्की करना ही चाहिए कि वह आत्मा है कौन? वह कैसा है? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है?

जो हमसे भिन्न परपदार्थ हैं, उनको इसी समयसार में 29 भागों में बाँटा है, जिन्हें प्रमुख दो भागों में बाँटा गया है — एक वर्णादि और एक रागादि।

वर्णादि याने रूप, रस, गंध, स्पर्शादि। रागादि याने आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग—द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। इन सब भावों से आत्मा को भिन्न जानना है। जब हम वर्णादि कहते हैं, तब उसमें पुद्गल ही आता है अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्शवाला पदार्थ ही आता है और जब हम रागादि कहते हैं तो उसमें आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह—राग—द्वेष के भाव आते हैं।

आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि हमारा आत्मा यद्यपि देह में रहता है, फिर भी देह नहीं है। देह में रहना अलग बात है और देह होना

अलग बात है। जैसे हम कहते हैं कि भगवान मन्दिर में हैं; लेकिन मन्दिर भगवान नहीं है। हम अपने घर में रहते हैं, लेकिन घर तो मैं नहीं हूँ न? घर जुदा है और मैं जुदा हूँ। ऐसा ही यह आत्मा देहरूपी मन्दिर में रहता है, पर देह नहीं है।

यद्यपि इस आत्मा में वर्तमानदशा में/अज्ञान अवस्था में राग-द्वेष के परिणाम होते हैं। संसारावस्था में क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव आत्मा में ही होते हैं, पुद्गल में नहीं होते; फिर भी वे आत्मा नहीं हैं।

देहदेवल में रहे पर देह से जो भिन्न है।

है राग जिसमें किन्तु जो उस राग से भी अन्य है।।

देह तो एक प्रतिनिधि के रूप में है। सारे परपदार्थों में अत्यन्त नजदीक का परपदार्थ यह हमारा शरीर ही है। इसलिए जिसने देह से भिन्नता जान ली तो उसके लिए फिर पुत्रादि, मकान, जायदाद, देश, नगर से भिन्नता जानना कठिन नहीं होगा।

जरा-सी प्रतिकूलता आई तो हम कहने लगते हैं कि मुझे तो आज पता चला कि कोई किसी का नहीं है। मैंने अपने पत्नी और बच्चों के लिए कितना किया। मैंने मोहल्लेवालों की, गाँववालों की, परिवारवालों की कितनी सेवा की, सारी जिन्दगी बर्बाद कर दी; लेकिन आखिर में किसी ने साथ नहीं दिया।

इसतरह से लौकिक प्रतिकूलता आने पर तो ये जुदे हैं और मैं जुदा हूँ – ऐसा अज्ञानियों को भी भासित होने लगता है। कहा भी जाता है – 'न्यारा पूत पड़ौसी बराबर' यानि जबतक बेटा हमारे साथ था, धन्धा-व्यापार साथ था, कमाना-खाना साथ-साथ था; तबतक वह अपना था और जब वह अलग हो गया तो पड़ौसी बराबर हो गया।

इसतरह लौकिक प्रतिकूलता के काल में स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद, रुपया-पैसा, नगर, और ग्राम से भिन्नता कदाचित् भासित हो भी जाती है; किन्तु देह से भिन्नता तो तब भी भासित नहीं होती। इसलिए

यहाँ देह से भिन्नता बताने पर विशेष जोर दिया जा रहा है।

प्रश्न – यहाँ एक प्रश्न होता है कि लोक में तो शरीर व स्त्री-पुत्रादि के साथ अपनत्व का व्यवहार होता ही है; शास्त्रों में भी इन्हें अपना कहा जाता है और ज्ञानीजन भी शरीर व स्त्री-पुत्रादि में अपनत्व का व्यवहार करते हैं, उन्हें अपना कहते हैं।

उत्तर – अरे भाई ! जबतक हम जिनागम की प्रतिपादन शैली नहीं जानेंगे; तबतक इसप्रकार के प्रश्न होते ही रहेंगे। समस्त जिनागम नयों की भाषा में निबद्ध है; अतः जबतक हम नयों के स्वरूप को नहीं समझेंगे, तबतक इसप्रकार के प्रश्न अनुत्तरित ही रहेंगे।

वैसे तो नय अनन्त होते हैं; किन्तु यहाँ इस समयसार को समझने के लिए कम से कम आध्यात्मिक नयों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

आध्यात्म के नय निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के होते हैं। व्यवहारनय भी दो प्रकार का होता है – असद्भूतव्यवहारनय और सद्भूतव्यवहारनय।

पर से संयोग की चर्चा जिस नय में की जाती है, उस नय का नाम है – असद्भूतव्यवहारनय। देह और आत्मा एक नहीं हैं; फिर भी देह और आत्मा को एक कहना यह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, नगर-देश, गाँव – ये सब अपने नहीं हैं; किन्तु इन्हें जो नय अपना कहता है, वह भी असद्भूतव्यवहार-नय ही है।

इस असद्भूत-व्यवहारनय के भी दो भेद किए गये हैं। एक उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय एवं दूसरा अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय।

नजदीक के संबंध को अनुपचरित और दूर के संबंध को उपचरित कहते हैं।

देह का सम्बन्ध जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त हमारे साथ है; इसलिए इस संबंध को नजदीक का संबंध कहते हैं। स्त्री-पुत्रादिक का जो संबंध है, वह जन्म से लेकर मृत्यु तक का नहीं है। स्त्री हमारे जीवन में 20-25 वर्ष

पश्चात् आई है। पुत्रादिक उसके भी बाद में हुए हैं। हम उनसे पूर्व ही इस जगत से चले जायेंगे और वे हमारे बाद भी इस जगत में रहेंगे। इसप्रकार यह संबंध जन्म से मरण तक का नहीं है; अतः दूर का संबंध है। इसप्रकार हम देखते हैं कि दूर का संबंध औपचारिक संबंध है और नजदीक का संबंध अनौपचारिक संबंध है।

दूसरे शब्दों में जिसके साथ औपचारिकता निभानी पड़े, वह औपचारिक संबंध है और जिसके साथ औपचारिकता जरूरी नहीं, वह अनौपचारिक संबंध है।

कोई व्यक्ति हमारा मित्रा है और वह हमारे घर पर आता है तो हमें यह कहना पड़ता है कि – ‘आइए, बैठिए; चाय-पानी पीजिए।’ यद्यपि हम यह जानते हैं कि हमारा यह मित्रा रात्रि में पानी भी नहीं पीता है तो चाय क्या पीयेगा ? फिर भी हमें ऐसा लगता है कि यदि पूछेंगे नहीं तो उन्हें अच्छा नहीं लगेगा।

आप, अपने घर में आराम से बैठे हैं और यदि बाहर से कोई व्यक्ति आता है तो हम जल्दी से कुर्ता पहन लेते हैं, टोपी लगा लेते हैं – इन क्रियाओं के माध्यम से हम उसके साथ औपचारिकता निभाते हैं। यहाँ तक कि हम यदि अकेले चड़िड पहनकर बैठे हों और हमारा बेटा भी आ जाय तो कम से कम एक चदर तो ओढ़ ही लेते हैं। लेकिन शरीर के साथ में हमें ऐसी औपचारिकता नहीं निभानी पड़ती। क्या शरीर से भी कभी ऐसा पूछना पड़ता है कि क्या एक ग्लास पानी लोगे, क्या एक कप चाय लोगे ?

जिसके साथ औपचारिकता निभानी पड़े, उसके साथ का संबंध उपचरितव्यवहार है एवं जिसके साथ कोई औपचारिकता नहीं निभानी पड़े, उसके साथ का संबंध अनुपचरितव्यवहार है।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद, रुपया, पैसा, नगर, देश और गाँव – ये सब मेरे हैं ‘ये मैं हूँ’ मैं इनका कर्ता-भोक्ता मैं हूँ। – ऐसा यह नय कहता है और ऐसा ही सारी दुनिया

मानती है। यह असद्भूतनय दुनिया की मान्यता का प्रतिनिधित्व करनेवाला नय है। जगत के इस व्यवहार को जिनवाणी ने भी इसी रूप में स्वीकार कर लिया है।

13

जबतक हमें इस दुनिया में रहना है; तबतक दुनिया से व्यवहार भी निभाना है। यद्यपि हमने यह जान लिया है कि ‘शरीर मैं हूँ’ – इस बात में कोई दम नहीं है; तथापि कोई व्यक्ति हमसे पूछता है कि आपकी तबियत कैसी है, आपका स्वास्थ्य कैसा है ? तब हम उस व्यक्ति को यह उत्तर देते हैं कि मुझे बुखार आया है। वहाँ हम ऐसा नहीं कहते हैं कि शरीर को बुखार आया है।

ज्ञानीजन ऐसा जानते हैं कि मुझे बुखार नहीं आया है, बुखार शरीर को आया है; लेकिन लोक में चूँकि व्यवहार अज्ञानियों से करना है; इसलिए उन्हें भाषा ऐसी ही बोलनी पड़ती है कि मुझे बुखार आ गया है।

हमारे घरों में भाषा बच्चों की ही चलती है। हम हमारे बच्चों को कहते हैं कि – ‘जाओ, अम्मा को बुलाओ।’ अब मैं आपसे पूछता हूँ कि इसका अर्थ क्या यह नहीं होता है कि बच्चे की अम्मा को बुलाना है। आप ऐसा क्यों नहीं कहते हो कि ‘पत्नी को बुलाना।’ ऐसा इसलिए नहीं कहा जाता है; क्योंकि घर में भाषा बच्चों की चलती है। हम बच्चों की तरफ से बोलेंगे। बच्चा जिन्हें अम्मा या मम्मी कहता है, हम भी उन्हें अम्मा या मम्मी कहने लगते हैं। बच्चे जिन्हें दादा कहते हैं, उन्हें भी हम दादा ही कहते हैं। यद्यपि घर में बच्चों के अनुसार भाषा चलती है; लेकिन अन्दर से हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि जिन्हें हम मम्मी कह रहे हैं, वह हमारी मम्मी नहीं है, वह बच्चे की मम्मी है।

इसप्रकार हमारे घर में भाषा बच्चों की ही चलती है; लेकिन घर के दूसरे कार्य उनके हिसाब से नहीं चलते हैं। मोटर-साईकिल लाना तो बहुत दूर की बात; लेकिन एक दिन की सब्जी भी बच्चों के हिसाब से नहीं लायी जाती है। अरे भाई! वस्तुतः तो भाव माता-पिता का होता है एवं भाषा बच्चों की होती है।

जब हम यह कहते हैं कि शरीर में हूँ, स्त्री-पुत्रादिक मेरे हैं; तब ज्ञानी अंदर में यह जानता है कि कोई किसी का नहीं है; लेकिन बाहर से भाषा ऐसी ही बोलते हैं।

आजकल अध्यात्म के जोर में कुछ लोग ऐसी भाषा बोलने लगे हैं कि 'मेरे को क्या हुआ यह कैसर तो शरीर को हुआ है, यह हार्ट-अटैक तो शरीर को हुआ है, मुझे कुछ भी नहीं हुआ है। ऐसे लोग स्वयं को अध्यात्मी कहलवाने के लिए ऐसी भाषा बोलते हैं। ये लोग जिनवाणी की शैली को नहीं जानते; क्योंकि जिनवाणी के अनुसार व्यवहारनय की भाषा बोलना – इस जीव का अधिकार है, कर्तव्य है। किसी भाषा को विकृत करने की जरूरत नहीं है; मात्रा हमें अंदर से यह समझना है कि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है, वास्तविक स्थिति अंदर में कुछ और है। इसलिए इसका नाम असद्भूत व्यवहारनय है। इसप्रकार असद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार का हो गया एक तो स्त्री-पुत्र-मकान को अपना कहनेवाला एवं दूसरा देह को अपना कहनेवाला।

पड़ोसी का मकान मेरा नहीं है, यह उसका है; इसे समझाने में क्या दम है ? क्योंकि ये तो सभी जानते हैं कि पड़ोसी का मकान मेरा नहीं है, वह उसका ही है। इसमें समझाना तो यह है कि जिस मकान को आप स्वयं का मानते हो, वह भी आपका नहीं है।

आपका शरीर मेरा नहीं है – यह समझाने में क्या दम है ? मैं तो ऐसा मानता ही नहीं हूँ। लेकिन जिस शरीर को मैंने मेरा मान रखा है, वह भी मेरा नहीं है।

इसप्रकार जो हमारे पुण्य-पापकर्म के उदय से सामग्री हमें उपलब्ध हैं, संयोग हमें उपलब्ध हैं – उन संयोगों में दो भेद किए। जो हमारे जन्म से लेकर मरण तक के साथी नहीं है और जिनके साथ हमें औपचारिकता निभानी पड़ती है; वे और दूसरा वह जो जन्म से मरण तक का साथी है और जिसके साथ औपचारिकता नहीं निभानी पड़ती।

व्यवहारनय जिन्हें अपना कहता है – ऐसा कहें, अथवा दुनिया जिन्हें अपना कहती है – ऐसा कहें अथवा अज्ञानी लोग जिन्हें

अपना कहते हैं – ऐसा कहें; वे वस्तुतः हमारे नहीं हैं, वे मैं नहीं हूँ, मैं उनसे जुदा तत्त्व हूँ – इसका ज्ञान कराना ही जीवाजीवा-धिकार की मूल विषयवस्तु है। जीवाजीवाधिकार की 68 गाथाओं के माध्यम से आचार्यदेव यही समझाना चाहते हैं।

14

हमारी भाषा कितनी कमजोर है। हम बोलते हैं कि हिन्दुस्तान हमारा है, फिर कहते हैं राजस्थान हमारा है, फिर कहते हैं जयपुर हमारा है, फिर कहते हैं बापूनगर हमारा है, फिर कहते हैं टोडरमल स्मारक भवन हमारा है, फिर यह कमरा हमारा है, फिर यह शरीर हमारा है – इन सबमें हमने एक ही शब्द का प्रयोग किया है। वह है 'हमारा'। लेकिन क्या इसका वजन सभी जगह बराबर है ?

हिन्दुस्तान हमारा है और राजस्थान हमारा है – इन दोनों के वजन में फर्क है। जब हिन्दुस्तान की सरकार यह निर्णय करे कि हम अमेरिका के सहयोग से देश में पाँच बड़े कारखाने खोलेंगे, जिनमें लाखों लोगों को रोजगार मिलेगा, जिससे देश में बहुत तरक्की होगी; तब हम कहते हैं कि एक कारखाना राजस्थान में भी अवश्य होना चाहिए।

चलो, राजस्थान को एक कारखाना दे दिया, अब तो खुश हो ? अब यह कहता है कि यह कारखाना उदयपुर या जोधपुर में नहीं होना चाहिए; यह हमारे जयपुर में होना चाहिए। इसप्रकार राजस्थान में भी जयपुर पर अधिक वजन है।

मान लो यह निश्चित हो गया कि जयपुर में एक पार्क बनना है। तब यह कहता है कि यह पार्क हमारे बापूनगर में बनना चाहिए; क्योंकि जयपुर में भी बापूनगर हमारे ज्यादा नजदीक है।

बापूनगर भी हमारा नहीं है, हमारा तो स्मारक है। स्मारक में भी हमारा एक कमरा है। उस कमरे में भी दो पलंग हैं – एक पत्नी का है और एक मेरा है। भाषा में तो ऐसा ही व्यक्त होता है कि सब हमारा है; लेकिन इसमें वजन का बहुत फर्क है। व्यवहार के पास इतनी समर्थ भाषा नहीं है कि वह अपने सभी भेदों को व्यक्त कर सके।

इस उपचरित असद्भूतव्यवहारनय में कोई दम नहीं है; क्योंकि मैं चला जाऊँगा; लेकिन हिन्दुस्तान, बापूनगर, टोडरमल स्मारक ये सब यही रह जायेंगे। एक न एक दिन हमें इन सबको छोड़कर जाना ही पड़ेगा।

हिन्दुस्तान से लेकर बापूनगर तक तो ये सब हमारे बिना मरे ही छूट सकते हैं। हम हिन्दुस्तान से अमेरिका चले जावें और वहीं जाकर बस जायें तो इसी भव में हिन्दुस्तान छूट जायेगा। वहाँ की नागरिकता ग्रहण करेंगे, तब वहाँ से आर्येंगे तो वीजा लेकर हिन्दुस्तान आना पड़ेगा। बिना वीजा के कोई यहाँ अन्दर घुसने भी नहीं देगा। तब हिन्दुस्तान हमारा नहीं रहेगा। ये तो इसी भव में छूट सकते हैं; इसकारण उन्हें अपना कहने वाला नय उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है और समयसार इसे अभूतार्थ कहता है।

ये हमारे हैं नहीं और हमने इन्हें स्वयं का मान रखा है। इनमें जो भी परिवर्तन होता है, वह हमारा किया रंचमात्रा भी होता नहीं है, हमारे मन के अनुकूल ये चलते नहीं हैं — इसप्रकार हमारे अनंतदुःख का कारण जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना ही है।

अब अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की चर्चा करते हैं। शरीर को आत्मा कहना तथा शरीर और आत्मा को एक कहना, इसप्रकार शरीर में एकत्व, ममत्व, स्व-स्वामी सम्बन्ध स्थापित करके बोलना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

‘मैं स्वामी हूँ और ‘ये मेरी संपत्ति है’ — ऐसा मानना यह स्व-स्वामित्व बुद्धि है और ‘ये मैं हूँ’ — इसप्रकार की जो एकत्वबुद्धि है, अहंबुद्धि है — यह सब अज्ञान है।

आत्मा में जो मोह-राग-द्वेष के भाव होते हैं; वे मैं नहीं हूँ, वे मेरे नहीं हैं, मैं उनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ — ऐसा मानना यह सदद्भूतव्यवहारनय का निषेध है; क्योंकि जिनवाणी में इन्हें सदद्भूतव्यवहारनय से अपना कहा गया है।

15

स्त्री-पुत्रादिक से सम्बन्ध बाहर से माना हुआ सम्बन्ध है। पण्डित ने सात फेरे डाल दिए और पत्नी हो गई, अपनी स्त्री हो गई, उसे हमने अपना माना है — इसप्रकार का सम्बन्ध है, वह वास्तविक सम्बन्ध नहीं है; परन्तु अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष परिणामों से हमारा सम्बन्ध ऐसा नहीं है, वे तो हमारी आत्मा में उत्पन्न हुए हैं; इसलिए उन्हें सदद्भूत कहा जाता है और उन्हें उपचरित इसलिए कहा जाता है; क्योंकि वे आत्मा को दुःख देनेवाले हैं।

जो चीज दुःख देनेवाली है, उसे उपचार से ही अपना कहा जा सकता है; इसलिए राग-द्वेष को अपना उपचरित सदद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है। व्यवहार अर्थात् कहना। नय अर्थात् ज्ञान का अंश। ज्ञान ऐसा जानता है कि सारी दुनिया में राग-द्वेष आत्मा के कहे जाते हैं; क्योंकि वे आत्मा में पैदा होते हैं।

कुएँ के पानी में ऊपर हरी-हरी सी घास पैदा हो जाती है, उसे काई कहा जाता है। वह पानी में पैदा हुई घास / काई पानी के ऊपर फैल जाती है। वह काई जमीन में पैदा नहीं होती है, जल में ही पैदा होती है; लेकिन फिर भी वह जल नहीं है; क्योंकि वह जल का मैल है। काई जुदी है और जल जुदा है।

जो जिसमें पैदा हुआ हो, वह उसका हो ही — यह जरूरी नहीं है। काई जल में पैदा होकर भी जल नहीं है, जल का मैल है। ऐसे ही राग-द्वेष-मोह के परिणाम आत्मा में पैदा होकर भी आत्मा नहीं है, आत्मा के मैल है, आत्मा का विकार है, आत्मा की विकृति है। वह छोड़ने योग्य है।

भाईसाहब! आँख में कीचड़ पैदा होता है तो क्या वह कीचड़ आँख में रखने योग्य है? सभी इन्द्रियों से कुछ न कुछ उत्पन्न होता है। नाक (नाक का मेल) नाक में ही पैदा हुई है, नाक में बाहर से नहीं आई है; लेकिन वह निकाल देने योग्य है, रखने लायक नहीं है।

लोक में भी जो निकालने योग्य होता है, उसे अपना नहीं कहा जाता है। उसे अपना कहना उपचार है।

सभी के नाक में जो नाक पैदा होती है, वह भी उसी की कही जाती है; लेकिन वह नाक नाक में से निकलकर जमीन पर पड़ जाय, तब किसी से पूछा जाय की यह नाक किसकी है? कोई भी इसे स्वीकार करनेवाला नहीं है। कोई देख ले कि इसने छिनकी है, तब स्वीकार करना पड़े तो अलग बात है; लेकिन दिल से कोई उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता है।

राग—द्वेष आत्मा में उत्पन्न होकर भी आत्मा के मैल हैं, विकार हैं, आत्मा को दुःख देनेवाले हैं, बंधन में डालनेवाले हैं। अतः निश्चय से वे अपने नहीं हैं।

आचार्यों ने इसे समझाने के लिए और एक उदाहरण दिया है — यदि पीपल के पेड़ में लाख पैदा हो जाय तो समझ लेना चाहिए उस वृक्ष के दिन पूरे हो गये हैं। यद्यपि लाख पीपल में पैदा हुई है; लेकिन वह पीपल के लिए घातक है; इसलिए वह पीपल नहीं है; क्योंकि जो जिसके लिए घातक होता है, वह उसका नहीं माना जाता है।

यद्यपि कैंसर शरीर में ही पैदा होता है; लेकिन फिर भी वह शरीर के लिए घातक है; इसलिए वह शरीर नहीं है, बीमारी है, वह निकाल देने लायक है। उसे रखनेयोग्य नहीं माना जाता है। ऐसे ही ये राग—द्वेष—मोह के परिणाम आत्मा के कैंसर हैं, ये आत्मा के लिए घातक हैं। आत्मा के सुख और शांति का घात करनेवाले हैं; इसलिए इन्हें आत्मा नहीं माना जा सकता है, इन्हें आत्मा कहनेवाला नय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

सम्पूर्ण जगत तो यही कहता है कि बेटा यदि खोटा है तो क्या वह अपना नहीं रहेगा? ऐसे ही राग अपने में ही पैदा हुआ है तो क्या वह अपना नहीं रहेगा?

अज्ञानी तो यही कहते हैं कि चाहे वह कैसा भी हो, वह तो अपना

ही है; लेकिन समझदार लोग यह कहते हैं कि यदि वह सप्त व्यसनों में पारंगत हो गया है, यदि वह हिंसा करता है, चोरी करता है, डाका डालता है, माफिया गिरोह में शामिल हो गया है, आतंकवादी हो गया है तो समझदार लोगों को अखबार में यह निकाल देना चाहिए कि इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह कोई लेन—देन करेगा तो इसमें मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं रहेगी। क्योंकि यदि वे ऐसी घोषणा नहीं करे तो पुलिस उन्हें परेशान करेगी, गाँववाले उन्हें परेशान करेंगे, सारे लोक से उन्हें खतरा है।

लोक में हमारे लिए जो दुःखदायक है, उसे हम अपना नहीं कहते हैं। मोह—राग—द्वेष के परिणाम आत्मा में उत्पन्न होते हैं; इसलिए सदभूत हैं; वे आत्मा के लिए दुःख देनेवाले हैं, दूर के हैं; इसलिए उपचरित हैं और उन्हें दुनिया में अपना कहा जाता है; इसलिए व्यवहार हैं।

ज्ञान रागादिक को उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से अपने में पैदा हुआ जानता है। समयसार के अनुसार यदि निश्चय से विचार करें तो वे वास्तव में अपने नहीं हैं। निश्चयनय से मैं उनसे जुदा तत्त्व हूँ और उनसे मेरा चारों प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। ये मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका कर्ता नहीं हूँ, मैं इनका भोक्ता नहीं हूँ — यही जीवा—जीवाधिकार एवं कर्ता—कर्माधिकार में कहा गया है।

समयसार का मूल प्रतिपाद्य भगवान आत्मा को खोज निकालना है; क्योंकि भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रा की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार यहाँ उपचरित असद्भूत व्यवहारनय अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय एवं उपचरित सदभूत व्यवहारनय की चर्चा हुई। ●

धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से ही होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एक मात्रा यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है। — मैं कौन हूँ, पृष्ठ—10

तीसरा प्रवचन

समयसार की मूल विषयवस्तु उसके प्रतिज्ञावाक्य से ज्ञात होती है; जिसमें कहा गया है कि मैं एकत्व—विभक्त भगवान आत्मा को समझाऊँगा। एकत्व का अर्थ अखण्ड है और विभक्त का अर्थ है परपदार्थों से भिन्न। परपदार्थ में अपने आत्मा को छोड़कर जगत में जितने पदार्थ हैं, वे सभी आ जाते हैं; जिनमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल — ये पाँच अजीव द्रव्य और स्व को छोड़कर जितने भी जीवद्रव्य हैं, वे सभी जीवद्रव्य तथा इन सभी परपदार्थों के लक्ष्य से अपने आत्मा में जो मोह—राग—द्वेषरूप विकारी परिणाम होते हैं, वे सभी आ जाते हैं।

यद्यपि ये विकारी परिणाम आत्मा में उत्पन्न होते हैं, तथापि ये आत्मा नहीं हैं। इन सभी परपदार्थों से आत्मा विभक्त है।

ये सभी परपदार्थ व्यवहारनय की सीमा में सम्मिलित होते हैं। स्त्री, पुत्रा, मकान, संपत्ति आदि को अपना कहनेवाला उपचरित—असद्भूत—व्यवहारनय है और शरीर को अपना कहनेवाला अनुपचरित—असद्भूत—व्यवहारनय है। निश्चयनय इन स्त्री—पुत्रादि से आत्मा को पृथक् करता है एवं तर्क देता है कि स्त्री, पुत्रा, मकान — ये परपदार्थ न जन्म से हमारे साथ थे और न मरण तक हमारे साथ रहेंगे। ये तो हमारे अतिथि हैं। अतिथियों को घरवालों में सम्मिलित नहीं किया जाता, उनका नाम राशनकार्ड में नहीं लिखा जाता। इसप्रकार स्त्री—पुत्रादि से भिन्न बताकर निश्चयनय आत्मा को उपचरित—असद्भूत व्यवहारनय की विषयवस्तु से पृथक् करता है।

शरीर को ही आत्मा कहनेवाले अनुपचरित—असद्भूतव्यवहारनय से भी निश्चयनय आत्मा को पृथक् करता है। इसमें वह यह तर्क देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; क्योंकि शरीर तो जन्म से लेकर मरण तक ही साथ रहता है, लेकिन मैं तो जन्म—मरण से भी परे हूँ। मेरी सीमा जन्म—मरण तक नहीं है, मैं तो जन्म से पूर्व में भी था और मरण के बाद में भी रहूँगा।

17

इसप्रकार निश्चयनय स्त्री—पुत्रादि और शरीर से भिन्न बताकर आत्मा को असद्भूतव्यवहारनय की विषयवस्तु से पृथक् करता है।

पर के लक्ष्य से आत्मा में जो रागादिभाव होते हैं, यद्यपि वे आत्मा में ही उत्पन्न हुए हैं, आत्मा की ही पर्याय हैं; तथापि रागादिभाव आत्मा के लिए सुखदायक नहीं, दुःखदायक हैं, वे आत्मा के विभाव हैं। जिसप्रकार जल में उत्पन्न काँई जल का मैल है; उसीप्रकार आत्मा में उत्पन्न रागादिभाव आत्मा के मैल हैं, आत्मा के घातक हैं; इसलिए वे आत्मा नहीं हैं और इन रागादिभावों को जो नय अपना कहता है, वह उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। ये दुःखदायी एवं दूर के होने के कारण उपचरित हैं और हमारी आत्मा में उत्पन्न होने के कारण सद्भूत हैं।

इन तीन प्रकार के व्यवहार नयों का निषेध तो पूर्व में विस्तार से हो चुका है। अब यहाँ चौथे व्यवहारनय के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। चौथे नय का कार्य अभेद वस्तु में भेद डालना है।

यद्यपि आत्मा में अनंत गुण हैं, आत्मा असंख्यात प्रदेशी है; तथापि आत्मा के अनंत गुण बिखर कर अलग—अलग नहीं हो सकते। ऐसा नहीं हो सकता कि हमारा ज्ञान यहाँ रह जाय और सुख चला जाय अमेरिका में। ये गुण एक साथ ही रहते हैं, इनको कभी अलग नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार असंख्यात प्रदेशों में जो आंतरिक एकता है, वह भी वास्तविक है। लेकिन आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्रा, सुख, वीर्य — इन गुणों के लक्ष्य से ज्ञान में विकल्प की तरंग उठती है और जबतक ज्ञान में विकल्प की तरंग उठेगी; तबतक आत्मानुभव नहीं होगा। यही कारण है कि इन गुणभेद और प्रदेशभेद को विषय बनानेवाला चौथा अनुपचरित—सद्भूत व्यवहारनय भी अभूतार्थ कहा गया है; क्योंकि इसके कारण 'आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, सुख है, वीर्य है; वह असंख्य प्रदेशी है' ऐसे विकल्प खड़े होते हैं। जबतक ऐसे विकल्प रहेंगे; तबतक आत्मा का अनुभव नहीं होगा; स्वाद नहीं आयेगा।

इसप्रकार इन चार प्रकार के व्यवहार नयों से आत्मा का जो स्वरूप बताया जाता है, वह वास्तविक नहीं है।

ग्रंथाधिराज समयसार की 27वीं गाथा में लिखा है कि —

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ॥
(हरिगीत)

‘देह-चेतन एक हैं’ हू यह वचन है व्यवहार का।

‘ये एक हो सकते नहीं’ हू यह कथन है परमार्थ का ॥२७॥

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है; किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं। यह असद्भूतव्यवहारनय की बात है।

समयसार की 7वीं गाथा में लिखा है कि —

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥
(हरिगीत)

एग ज्ञान चारित जीव के हैं हू यह कहा व्यवहार से।

ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥७॥

व्यवहारनय कहता है कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्रा है; लेकिन निश्चयनय से विचार करें तो आत्मा न तो दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्रा है। यह असद्भूतव्यवहारनय की बात है।

इन दोनों गाथाओं पर यदि हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों गाथाओं की ऊपर की पंक्ति में व्यवहारनय का और नीचे की पंक्ति में निश्चयनय का प्रतिपादन है।

ध्यान रहे निश्चयनय का प्रतिपादन व्यवहारनय के निषेधरूप है। 27वीं गाथा की प्रथम पंक्ति में यह कहा कि देह और जीव एक हैं — यह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। व्यवहारनय के इस कथन का निषेध करते हुए इसी गाथा की दूसरी पंक्ति में निश्चयनय कहता

है कि देह और जीव कदापि एक नहीं हो सकते। इसीप्रकार 7वीं गाथा की पहली पंक्ति में सदभूतव्यवहारनय से कहा गया कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है और चारित्रा है और गाथा की दूसरी पंक्ति में कहा गया कि निश्चयनय से आत्मा में न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्रा है।

इसतरह निश्चय और व्यवहार में निषेधक-निषेध्य संबंध है। व्यवहार निषेध्य और निश्चय निषेधक है। इसका आशय मात्रा इतना है कि व्यवहार निषेध करने योग्य है और निश्चयनय उसका निषेध करनेवाला है।

समयसार में उस परमशुद्धनिश्चयनय का कथन है; जिस नय से न तो स्त्री, पुत्रा, मकान आत्मा हैं; न देह आत्मा है, न राग आत्मा है, न क्रोधादिभाव आत्मा हैं; यहाँ तक कि आत्मा के अन्दर विद्यमान जो ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं, उनका भेद अर्थात् विकल्प भी आत्मा नहीं है। इन सबसे पार जो शुद्धात्मा है; वह समयसार का प्रतिपाद्य है। वह आत्मा हमारे ख्याल में आये; उस आत्मा में ‘ये मैं हूँ’ ऐसी दृढ़ प्रतीति अंतर में जगे और उसी के ध्यान में हम मग्न हो जायें, इसका नाम है धर्म।

जबतक ऐसा धर्म हमारे जीवन में प्रगट नहीं हुआ, तबतक हम बाह्य में कितना ही क्रियाकाण्ड क्यों न करें, कितने ही व्रत, उपवास क्यों न करें, कितने ही दया-दान की प्रवृत्ति क्यों न करें, कितनी ही तीर्थयात्रायें क्यों न करें, शरीर को सुखा दें तो भी जैनदर्शन के अनुसार रंचमात्रा भी धर्म होनेवाला नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि समयसार एक ऐसा शास्त्रा है, जिसमें सच्चा मोक्षमार्ग, अर्थात् सुखी होने का उपाय बताया गया है। जबतक समयसार में बताये गए शुद्धात्मा का स्वरूप हमारे ख्याल में नहीं आता, तबतक हम आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते।

‘शुद्धात्मा के अनुभव में ही धर्म है, उसमें ही सच्चा सुख निहित है’; यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पाँचवीं गाथा में प्रतिज्ञा की कि ‘मैं तुम्हें एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा समझाऊँगा।’

इसके तत्काल बाद ही आचार्य कुन्दकुन्द छठवीं गाथा में कहते हैं कि—

ण वि होदि अप्रमत्तो ण प्रमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥

(हरिगीत)

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है ।

इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है ॥६॥

जो एक ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ; वह तो वही है, अन्य कोई नहीं ।

जिसे पाँचवी गाथा में एकत्व—विभक्त कहा है, उसे ही यहाँ छठवीं गाथा में आचार्यश्री ज्ञायकभाव कह रहे हैं और यह जो ज्ञायकभाव है, वह न तो प्रमत्त है, न अप्रमत्त — यह कह रहे हैं ।

जैनदर्शन में 14 गुणस्थानों का वर्णन आता है । ये 14 गुणस्थान आत्मा के विकास की सीढ़ियाँ हैं । प्रथम गुणस्थानवर्ती आत्मा संसार—दशा में है । यही जीव यहाँ से जब निकलता है तो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा बनता है, साधु बनता है और एक दिन केवली परमात्मा बनकर सिद्धदशा को प्राप्त होता है । मिथ्यात्व से परमात्मदशा तक का जो क्रमिक विकास होता है, वे ही चौदह गुणस्थान कहलाते हैं ।

इसमें छठवें गुणस्थान का नाम है प्रमत्त और सातवें गुणस्थान का नाम है अप्रमत्त । समयसार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं ही इन छठवें—सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले संत थे ।

वे छठवीं गाथा के माध्यम से स्वयं ही कहते हैं कि 'न मैं प्रमत्त हूँ, न मैं अप्रमत्त हूँ।' अर्थात् न मैं छठवें गुणस्थानवाला हूँ और न मैं सातवें गुणस्थानवाला हूँ, मैं तो गुणस्थानवाला ही नहीं हूँ ।

जो 29 प्रकार के परभाव होते हैं, इनमें पहला भाव है वर्ण और अन्तिम भाव है गुणस्थान । वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यंत जो 29 भाव हैं, उनमें से अन्तिम गुणस्थान भाव को लेकर मानों समयसार

की छठवीं गाथा में सारा समयसार भर दिया है । ये 29वाँ भाव भी मैं नहीं हूँ, इसका अर्थ यह है कि इससे पहले के जो 28 भाव कहे हैं, वे भाव तो मैं हूँ ही नहीं ।

19

आचार्य जयसेन इसका विशद विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि प्रमत्त को मात्रा छठवें गुणस्थान तक ही सीमित मत करना । प्रमत्त का अर्थ प्रथम से छठें गुणस्थान तक लेना और अप्रमत्त का अर्थ 7वें से लेकर 14वें गुणस्थान तक लेना । इसका अर्थ यह हुआ कि मैं प्रथम से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक कुछ भी नहीं हूँ ।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में सारी पर्यायों का निषेध करते हैं ।

आत्मा को पहिचानने के लिए इस बात का ध्यान रखना होगा कि सम्पूर्ण लोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन पदार्थों में से हमें हमारा आत्मा खोजना है ।

किसी लड़की की शादी में जमाई को देने के लिए हीरे की अँगूठी चाहिए; इसके लिए किसी व्यक्ति से पूछें कि — हीरा कहाँ मिलेगा ?

वह कहे कि हीरा पृथ्वी में मिलेगा । बात तो सत्य ही है; क्योंकि हीरा आकाश से तो टपकनेवाला है नहीं; हीरा तो पृथ्वी के भीतर खदानों से ही मिलनेवाला है । यह जवाब सत्य होने पर भी संतोष प्रदान करनेवाला नहीं है; क्योंकि एक हीरे की अँगूठी के लिए सारी पृथ्वी को खोदना सम्भव नहीं है ।

ऐसे ही कोई व्यक्ति कहे कि मुझे आत्मा चाहिए; वह कहाँ मिलेगा? उसे यह उत्तर मिले की आत्मा लोकाकाश में मिलेगा तो क्या होगा ?

यद्यपि यह उत्तर गलत नहीं है; क्योंकि जीव अलोकाकाश में तो है नहीं, अलोकाकाश में तो अकेला आकाश ही है, जीवों की सत्ता तो लोकाकाश में ही है ।

यह बात सत्य होने पर भी हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि पूरे लोकाकाश में से आत्मा को खोज निकालना आसान काम नहीं

है। फिर भी यह कथन निरर्थक भी नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार 'पृथ्वी में ही हीरा मिलेगा' — इस कथन से इतना तो स्पष्ट हुआ कि हीरा प्राप्त करने के लिए मंगल ग्रह पर नहीं जाना पड़ेगा, चन्द्रमा पर नहीं जाना पड़ेगा, स्वर्ग और नरकों में नहीं जाना होगा। हीरा मध्यलोक में जहाँ पृथ्वी है, वहाँ ही मिलेगा। इस कथन से इतना तो काम हुआ ही कि हीरा को हम ब्रह्माण्ड, स्वर्ग, नरक या सिद्धशिला में न खोजकर अथवा विज्ञान के हिसाब से मंगलग्रह या ब्रह्मस्पति ग्रह में न जाकर पृथ्वी पर ही खोजेंगे।

उसीप्रकार यह आत्मा लोकाकाश में है; इस कथन से कम से कम इतना तो हुआ ही कि अलोकाकाश की ओर दृष्टि डालने की जरूरत नहीं रही। इसलिए यह कथन पूर्णतः निरर्थक भी नहीं है।

यही कारण है कि इस व्यवहारनय को जिनवाणी में स्थान प्राप्त है। चूँकि इस कथन से हमारे प्रयोजन की सिद्धि पूर्णतः नहीं होती; इसलिए आचार्य कहते हैं कि इससे काम नहीं चलेगा, यह असत्यार्थ है।

हीरा, पन्ना की खदान में मिलेगा। इस कथन ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है, इसने समग्र पृथ्वी से हमारी दृष्टि हटाकर जहाँ हीरे की खदानें हैं, ऐसे क्षेत्रों में ही हमारी खोज को सीमित कर दिया है।

परन्तु हमारे प्रयोजन की सिद्धि इस कथन से भी नहीं होती; क्योंकि हमारी बेटी की शादी 10 तारीख को है और इस सीमित समय में हम पन्ना की खदानें खुदवाकर अँगूठी बनाकर जमाई को भेंट नहीं कर सकते।

इसीप्रकार अभीतक इस आत्मा को उपचरित—असद्भूतव्यवहारनय ने सारे लोकाकाश में बताया था; अब अनुपचरित—असद्भूतव्यवहारनय कहता है कि आत्मा देह—देवल में विराजमान है। इस नय ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसने दृष्टि को लोकाकाश से हटाकर देह पर केन्द्रित कर दिया। अब हमें बाहर जाने की जरूरत नहीं है; क्योंकि आत्मा इसी देह में है। उपचरित—असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा

अनुपचरित—असद्भूतव्यवहारनय का वजन कुछ अधिक है; क्योंकि उसकी अपेक्षा इसने हमें आत्मा के बहुत कुछ नजदीक पहुँचा दिया है, लेकिन फिर भी हमारा काम नहीं हुआ; क्योंकि अभी आत्मा प्राप्त नहीं हुआ है।

20

अतः यहाँ भी उलझने से काम नहीं चलेगा; क्योंकि पन्ना नामक नगर में हीरा की खदान है, पर पन्ना नगर की खदान का हर पत्थर हीरा नहीं है। उसीप्रकार देह में आत्मा है, पर देह आत्मा नहीं है।

हम और आगे बढ़ें और पूछें कि हीरा कहाँ है ? उत्तर मिले कि 'जो खदान से निकला मैला—कुचैला पत्थर का टुकड़ा है, वह हीरा ही है।'

क्या आपने कभी खदान से निकला हुआ हीरा देखा है ? बिलकुल कोयले जैसा होता है। आप तो इसे समझ ही नहीं सकते कि यह भी हीरा हो सकता है ? किसी साधारण आदमी को यह पत्थर दिखाए तो वह यही कहेगा कि इस पत्थर की अँगूठी बनाने की अपेक्षा हम तो सोने की अँगूठी बनाना ही पसंद करेंगे।

ऐसे ही जब उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से पूछा गया कि आत्मा कहाँ है ? तो उसने कहा कि जिसमें मोह—राग—द्वेष हैं, जो इच्छाएँ करता है; वही तो आत्मा है। इस कथन ने भी बहुत काम किया है; क्योंकि अब हमें आत्मा को जिसमें स्पर्श—रस—गंध—वर्ण है, ऐसी देह में तो नहीं खोजना होगा। जो काला—गोरा हिस्सा है, वह मैं नहीं हूँ। जिसमें से क्रोध—मान—माया—लोभ आ रहा है, वह मैं हूँ। ये क्रोध शरीर में से नहीं आ रहा है, अंदर जो आत्मा है, उसमें से आ रहा है।

जिसप्रकार हमारी दृष्टि खदान में से हटकर उस पत्थर तक सीमित हो गई है; उसीप्रकार अब हमारी दृष्टि देह पर से हटकर जिसमें से क्रोध, मान, माया, लोभ आ रहा है; उस आत्मा पर सीमित हो गई है। इसप्रकार इसने भी कुछ काम किया ही है।

जिसप्रकार पन्ना की खदान में से निकले हुए पत्थर को उसीरूप में अँगूठी में जड़ाकर उस अँगूठी को भेंट नहीं किया जा सकता,

उससे शोभा नहीं होगी। उसीप्रकार राग—द्वेषवाले आत्मा का ध्यान करने से धर्म नहीं होता है, सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्रा की प्राप्ति नहीं होती है। अतः यह नय भी असत्यार्थ है, लेकिन इस उपचरित—सद्भूत व्यवहार नय ने भी कुछ न कुछ काम तो किया ही है; अतः उपयोगी ही है।

फिर भी इस उपचरित—सद्भूतव्यवहारनय ने भी पूर्ण सत्य को प्राप्त नहीं कराया है; अतः आगे बढ़ते हैं। ये जो काला—कलूटा खदान से निकला हीरा है; इसके भीतर सफेदी भी है और चमक भी है। उसीप्रकार जिस चारित्रा गुण की विकारी पर्याय में क्रोध है, वह चारित्रागुण क्रोधस्वरूप नहीं है, वह तो क्षमा का भण्डार है। इस चारित्रागुण का स्वभाव क्षमा है, क्रोध नहीं।

जो हीरा काला—कलूटा दिख रहा है, वह काला—कलूटा नहीं है, वह एकदम सफेद एवं चमकदार है। जिसप्रकार काला—कलूटा हीरा ही सफेद एवं चमकदार है; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है। जिसमें मिथ्यादर्शन है, उसमें ही एक श्रद्धा नाम का गुण है, जिसमें से सम्यग्दर्शन की पर्याय निकलती है। जिसमें अनादि से मिथ्यादर्शन की पर्याय नहीं है, उसमें श्रद्धा नाम का गुण भी नहीं है; इसलिए उसमें सम्यग्दर्शन का होना भी संभव नहीं है।

जिसप्रकार घड़ी में मिथ्यादर्शन नहीं है, घड़ी मिथ्यादृष्टि नहीं है; इसकारण उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता, वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकती; क्योंकि जो मिथ्यादृष्टि नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं होगा; क्योंकि उसमें श्रद्धा गुण ही नहीं है। जो क्रोधी है, वही क्षमावान होगा। जिसमें क्रोध नहीं है, वह क्षमावान भी नहीं होगा। क्रोध तो दोष है, आत्मा नहीं। दोष के पीछे जो गुण छुपा है, वही आत्मा है। दोष तो किसी गुण की पर्याय है और आत्मा गुणस्वरूप है — ऐसा जो कथन करता है, वह अनुचरित—सद्भूतव्यवहारनय है।

जो व्यक्ति मैले—कुचैले पत्थर के अंदर चमकदार हीरा देख लेता है, वही व्यक्ति हीरे के व्यापार में कमाई करता है। चमकनेवाले हीरे

को यदि हम बाजार में खरीदने जाएँगे तो जो उसकी असली कीमत है, उसी में हमें खरीदना होगा, एक नया पैसा भी कम नहीं होगा।

21

हीरे का व्यापारी अथवा सर्राफ़ कैसे कैसे कमाता है? उसे शुद्धता की पहचान है। यदि कोई ग्रामीण किसान उसके पास अपने सोने के गहने बेचने आता है, तो सर्राफ़ उन्हें कसोटी पर कसकर देखता है और वह जान लेता है कि यह सोना 75 प्रतिशत शुद्ध है और इसमें 25 प्रतिशत खोट है। इसी आधार पर वह व्यापार कर लेता है।

इसीप्रकार जो इस मैले—कुचैले आत्मा में राग—द्वेष ही देखता है, वह अशुद्धता को ही प्राप्त होता है और जो इस आत्मा को राग—द्वेष से पार देख लेता है, वही भगवान बनता है। इसलिए कहते हैं कि 'जिसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है; वह आत्मा है। जो जाने सो आत्मा, जो देखे सो आत्मा; जो क्रोध करे, वह आत्मा नहीं।' — इसप्रकार जो कथन करता है, वह अनुचरित—सद्भूत—व्यवहारनय है।

लेकिन इस पर भी यदि हम गंभीरता से विचार करते हैं तो पाते हैं कि 'जो जाने सो आत्मा, जो देखे सो आत्मा।' ऐसी विकल्पों की तरंगें जबतक अपने आत्मा में उठती रहेंगी; तबतक हमें आत्मा का अनुभव नहीं होगा। जैसे — हीरे के बारे में 'यह सफेद है, यह चमकदार है' — ऐसे ही विकल्प करते रहेंगे, तबतक हमें उन विकल्पों मात्रा से हीरे की उपलब्धि नहीं होगी। यही कारण है कि यह नय भी पूर्ण सत्य को प्राप्त नहीं कराता; इसलिए इसे भी असत्यार्थ कहते हैं।

इसतरह जो हीरा पृथ्वी में बताया गया था, उसी हीरा के बारे में इन चार नयों का प्रतिपादन हमें मुम्बई के किसी जवेरी की दुकान पर पहुँचा देता है और हमें वहाँ असली हीरा मिल जाता है। ऐसे ही यह व्यवहारनय लोकाकाश से निकालकर त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा तक पहुँचा देता है और उसी आत्मा में जब 'यही मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होती है, अनुभूति होती है तो वही प्रतीति—अनुभूति सम्यग्दर्शन

नाम पाती है। इसी सम्यग्दर्शन को, सच्चे मुक्तिमार्ग को प्राप्त कराना ही समयसार शास्त्र का मूल लक्ष्य है।

यही कारण है कि समयसार में 8वीं गाथा से 11वीं गाथा तक इन नयों की चर्चा की है।

यहाँ एक बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि आप व्यवहारनय के बारे में पुनः—पुनः ऐसा कहते हैं कि यह असत्यार्थ है, अभूतार्थ है, सत्य बात नहीं कहता, उपचरित बात कहता है; स्त्री, पुत्रा, मकान जायदाद को अपना कहता है, देह को अपना कहता है और ये कभी अपने हो नहीं सकते। जैसा कि छहढाला के तीसरी ढाल के चौथे छन्द में कहा है —

देह जीव को एक गिनै, बहिरातम तत्त्व मुधा है।

जो देह और जीव को एक मानता है, वह मूर्ख है, बहिरात्मा है और देह को आत्मा कहनेवाला कथन असत्यार्थ है; तो क्या कारण है कि जिनवाणी में ऐसे असत्यार्थ कथन को स्थान प्राप्त है ?

इसप्रकार का प्रश्न स्वयं आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार में उपस्थित किया है और इसका उत्तर समयसार की 8वीं गाथा में इसप्रकार दिया है —

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमथ्युविदेसणमसक्कं ।।
(हरिगीत)

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को।

बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को॥८॥

जिसप्रकार अनार्य (मलेच्छ) भाषा के बिना अनार्य (मलेच्छ) जन को कुछ भी समझाना संभव नहीं है; उसीप्रकार अज्ञानी आत्मा को सीधे त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा समझाना संभव नहीं है।

अनार्य मलेच्छ को कहते हैं। जो व्यक्ति संस्कृत अथवा हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ है और वह मात्रा अंग्रेजी समझता है; उसे हम संस्कृत—प्राकृत में भगवान आत्मा समझाते रहें तो उसकी समझ में कुछ भी नहीं आयेगा।

कोई मलेच्छ था, वह आचार्यों की भाषा नहीं समझता था। उस मलेच्छ को आचार्य ने 'स्वस्ति' — ऐसा कहकर आशीर्वाद दिया। स्व अर्थात् अपना भगवान आत्मा और 'अस्ति' शब्द अस्तित्व का द्योतक है। इसका आशय यह है कि तुम्हारे भगवान आत्मा का अस्तित्व तुम्हारे ख्याल में आये। — इसी का नाम है — स्वस्ति ! स्वस्ति माने तुम्हारा अविनाशी अर्थात् चिरस्थायी कल्याण हो।

मलेच्छ को आचार्यश्री का आशीर्वाद समझ में ही नहीं आया, पर उसे इतना अवश्य समझ में आया कि ये कोई बड़े महात्मा हैं और कोई सुन्दर बात कह रहे हैं। आचार्यश्री की मुखमुद्रा, आशीर्वादवाले हाथ की मुद्रा और उनकी आँखों में वात्सल्यभाव देखकर मलेच्छ को यह प्रतीति हो गई कि ये संत मेरा बुरा नहीं चाहते हैं, भला ही चाहते हैं और अवश्य ही कोई महत्वपूर्ण बात कह रहे हैं।

इस मलेच्छ की जिज्ञासा का वर्णन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने तो यहाँ तक लिखा है कि इस अनार्य को अर्थ समझ में नहीं आया तो मेढे की भाँति आँखें फाड़—फाड़कर आचार्य की तरफ देखने लगा।

अमृतचन्द्र की टीका से स्वयमेव ही यह स्पष्ट हुआ कि आत्मा को समझनेवाला शिष्य कैसा होना चाहिए ? उसकी पात्राता कैसी होनी चाहिए ? इस बात को आचार्यश्री ने अनार्य का चित्रण करके बहुत ही सरलता से समझाया है। ऐसे पात्रा शिष्य की समझ में बात समझाने से आती ही है।

जो इसप्रकार प्रश्न करे कि जिसमें उसकी उद्दण्डता प्रतीत हो, जो विनयरहित हो, जो प्रश्न के उत्तर के लिए जोर—जबर्दस्ती करे — ऐसे शिष्य को समझाने से उसकी समझ में बात नहीं आती है। जो अति विनयपूर्वक कहे कि ये बात मेरे समझ में नहीं आ रही है, कृपया आपको कोई तकलीफ न हो तो एक बार और समझा दें। तब कहीं, गुरु को समझाने का भाव आये, तो वे समझाते हैं। विद्या प्राप्त करने का उपाय शास्त्रों में विनय को ही कहा है।

यदि किसी सेठ की तिजोरी का माल लेना है तो उसकी छाती पर बंदूक तानकर लिया जा सकता है; लेकिन यदि किसी से कुछ सीखना है, किसी से ज्ञान की प्राप्ति करनी है, गुरुओं से यदि आत्मा समझना है तो उनकी छाती पर बंदूक रखकर आत्मा नहीं समझा जा सकता है।

गुरु के ज्ञान की तिजोरी उनके चरणों में बैठकर विनम्रता से ही खुलवायी जा सकती है। यदि गुरु के ज्ञान की तिजोरी खुलवाने के लिए उनकी छाती पर बंदूक रख दी गयी तो उन्हें जो भी ज्ञान है, वह भी भूल जाएंगे। वे भयाक्रान्त हो जाएंगे तो समझाने का भाव ही नष्ट हो जायेगा, तब वे समझाएँगे भी कैसे ?

समझने व समझाने का भाव तो अंतर के उल्लास से आता है। अंतर का उल्लास बंदूक तानकर नहीं लाया जा सकता। अपने विनम्र शब्दों के माध्यम से, हम उनके हृदय को प्रफुल्लित कर दें और उन्हें ऐसी प्रतीति करा दें कि इसे समझाना ही चाहिए — ऐसा दयाभाव उत्पन्न कर दें तो ही समझा जा सकता है।

इसी को आचार्यदेव ने इस उदाहरण से स्पष्ट किया है कि शिष्य के हृदय में ऐसा भाव आया कि ये संत ! जरूर कोई अच्छी बात कह रहे हैं, जिसे मुझ जैसा अभागा समझ नहीं पा रहा है। ये तो मेरा भला ही चाहते हैं — ऐसा समझकर मेढ़े की भाँति टकटकी लगाकर देखता है।

ऐसे जिज्ञासु शिष्य को देखकर यदि आचार्य कदाचित् उसकी भाषा समझते हों तो करुणा से द्रवित होकर उसी की भाषा में समझाने लगते हैं, कदाचित् ये आचार्य उस शिष्य की भाषा नहीं समझते हों तो समीपस्थ अन्य आचार्य, जो उसकी भाषा समझते हों, उनसे उस शिष्य को समझवाते हैं तो उसकी समझ में वह बात आ जाती है।

आचार्य शिष्य को बताते हैं कि निश्चय से 'आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी है'। यदि शिष्य की समझ में नहीं आता है तो ऐसा शिष्य जिज्ञासावश अत्यंत विनम्रतापूर्वक मेढ़े की भाँति आँखें फाड़-फाड़कर देखता है, वह गुरु से विनयपूर्वक पूछता है।

यदि वे उसकी भाषा जानते हों तो वे व्यवहार की प्रक्रिया से उसे समझाते हैं कि 'जो जाने सो आत्मा, जो देखे सो आत्मा।'

23

तब वह शिष्य कहता है, 'महाराज समझ में नहीं आया ?' तब आचार्य उससे कहते हैं 'जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ है; वह आत्मा।' अभी भी शिष्य की समझ में नहीं आता है; तब आचार्य कहते हैं, 'जो देह-देवल में विराजमान है, वह आत्मा है।'

इतने पर भी समझ में न आये तो आचार्य कहते हैं कि जो कहता है कि 'ये मेरा भाई है, ये मेरी पत्नी है, ये मेरा बेटा है; वह आत्मा है। धीरे-धीरे उसे उसकी भूमिका के अनुसार स्त्री-पुत्रादिक से हटाकर शरीर की तरफ लाते हैं, जैसे ही उसकी भूमिका में वृद्धि होती है, वैसे ही उसे शरीर से हटाकर मोह-राग-द्वेष और मोह-राग-द्वेष की ओर से हटाकर आत्मा के अनंतगुणों की ओर लाते हैं। उसे समझाते हैं कि 'भले ही यह नय कहता है कि स्त्री-पुत्रादिक आत्मा हैं; लेकिन वास्तव में वे आत्मा नहीं हैं, भले ही आत्मा शरीर में रहता है, लेकिन शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा में मोह-राग-द्वेष के विकारी परिणाम रहते हैं, लेकिन मोह-राग-द्वेषरूप विकारी परिणाम आत्मा नहीं हैं; यद्यपि आत्मा में अनंतगुण रहते हैं, आत्मा असंख्यात प्रदेशी है; लेकिन आत्मा स्वयं अनंत नहीं है। तू अनंत गुणों का अखण्डपिण्ड एक आत्मा है और तुमसे भिन्न जो अनंत आत्मायें हैं, वे तेरे लिए पर हैं।

असंख्यातप्रदेशी होने पर भी आत्मा अखंड कैसे हो सकता है ?

जिसप्रकार हिन्दुस्तान की महिमा बतानी हो तो हम कहते हैं कि इसमें 20-20 प्रांत हैं, हजारों जिले हैं, एक अरब लोग रहते हैं। हिन्दुस्तान की महत्ता बताने के लिए ये बात कही जा रही है; पर 20 प्रान्तों का नाम हिन्दुस्तान नहीं है, 20 प्रांतों में जो अखण्डता है, उस अखण्डता का नाम हिन्दुस्तान है। जब कोई 20 प्रांतों को देखता है तो उसे

हिन्दुस्तान दिखाई नहीं देता। जब वह उन 20 प्रांतों में अखण्डता देखता है तो वह हिन्दुस्तान देखता है।

मुझसे एक व्यक्ति ने कहा कि मैंने सारा भारत घूमा। भारत में मुझे मराठी मिले, पंजाबी मिले, मद्रासी मिले; लेकिन एक भी भारतीय नहीं मिला। जिससे भी पूछा कि 'आप कौन हैं?' उसने यही कहा कि मैं मराठी हूँ, मद्रासी हूँ, पंजाबी हूँ। हमारी समझ में महाराष्ट्र आता है, राजस्थान आता है; लेकिन हिन्दुस्तान नहीं आता है। ऐसे ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य-सुख-वीर्य असंख्य प्रदेश समझ में आते हैं, लेकिन असंख्य प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड, ज्ञानादि अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा हमारी समझ में नहीं आता।

चार प्रकार के व्यवहारनों के माध्यम से ही आत्मा की यह यात्रा लोकाकाश से लेकर ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा तक सम्पन्न हुई है। अतः व्यवहारनय सर्वथा अनुपयोगी नहीं है, सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। व्यवहारनय अपनी मर्यादा में उतना ही सत्य है, जितना की गणित में एक के माने ग्यारह। जिसतरह ग्यारह में से आठ गए तो तीन बचते हैं। यहाँ हम एक का अर्थ ग्यारह मानते हैं। यद्यपि यह बात सत्य है; लेकिन एक का अर्थ ग्यारह ही है — ऐसा सर्वथा होता तो मुझे आपसे एक रु. चाहिए, तब तो मैं आपसे ग्यारह रुपए ही लेता; पर ऐसा नहीं होता। लेकिन ये बात भी सत्य है कि यदि हमें 21 में 18 घटाने हैं तो हम 21 के 1 को 11 मानते हैं और उसमें से 8 घटाते हैं तो 3 बचते हैं; यह बात मात्रा तात्कालिक गणित पुरतः ही सत्य है; पर पूरे गणित में भी यह बात सत्य नहीं है।

ऐसे ही चाहे जहाँ व्यवहार का प्रयोग उचित नहीं है, वह मात्रा प्रयोजन पुरतः ही सत्यार्थ है। जब 21 में से 18 घटाने हों तो वहाँ तुम 1 का अर्थ 11 मान सकते हो। वह इतनी ही मर्यादा में सत्य है, इसके बाहर झूठ है। इसे ही स्याद्वादी जैनदर्शन कथंचित् सत्य और कथंचित् असत्य कहता है। व्यवहारनय अपने प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ

होने से सत्य है, उपादेय है और प्रयोजनसिद्धि के पश्चात् उसकी उपयोगिता नहीं रहती; अतः हेय है।

24

व्यवहारनय की प्रयोजनपुरतः उपयोगिता एवं तत्पश्चात् उसकी असत्यार्थता को सिद्ध करने के लिए बहुत उदाहरण हैं।

क्या नाव में बैठे बिना नदी पार की जा सकती है? क्या नाव में बैठे बैठे नदी पार की जा सकती है? ऐसे ही व्यवहारनय को समझे बिना आत्मा समझ में नहीं आता और व्यवहार में ही उलझे रहे तो आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

यदि हमें गन्तव्य पर पहुँचना है तो नाव में बैठना भी होगा और नाव से उतरना भी पड़ेगा। यदि नाव में बैठेंगे ही नहीं तो रहेंगे इस पार और यदि नाव में ही बैठे रहेंगे तो रहेंगे मंझधार। नाव में इस पार बैठना पड़ेगा और उस पार उतरना पड़ेगा, तब जाकर पार होंगे। ऐसे ही व्यवहारनय से पहले आत्मा समझना होगा और बाद में उसको असत्यार्थ मानकर छोड़ना होगा, तभी हम आत्मा की प्राप्ति कर सकते हैं और यही समयसार का मूल उद्देश्य है।

कोई कहे कि आप कभी कहते हैं उतरो, कभी कहते हैं बैठो तो हम कब बैठें, कहाँ बैठें और कहाँ उतरें?

उससे कहते हैं कि हम समझा रहे हैं न कि इस पार बैठो और उस पार उतरो।

तब वह व्यक्ति कहता है कि 'इस पार बैठने की और उस पार उतरने की' — ये दो बातें एकसाथ मत कहो; क्योंकि हमारी बुद्धि जरा स्थूल है, कहीं हम भूल गए और जहाँ नहीं उतरना है — ऐसे मंझधार में उतर गए तो क्या होगा? इसीलिए जब नाव में बैठना है तो 'नाव में बैठने से ही पार होते हैं' — ऐसा कहो, उतरने की बात ही मत करो और जब हम उस पार पहुँचें, नाव किनारे लग जायें, तब उतरने की बात करना। यदि आप पहले ही उतरने की बात करोगे और हम बीच में उतर गए तो?

यदि तुम्हें नदी से पार होना है तो तुम्हें नदी से पार होने का पूरा रास्ता अभी समझना होगा और उसे अच्छीतरह से याद भी रखना होगा; क्योंकि इसे यदि अच्छी तरह से याद नहीं रखा तो मंझधार में उतरकर समुद्र में बह भी सकते हो। इसलिए कहाँ बैठना और कहाँ उतरना — इसे अच्छी तरह से अभी समझना तुम्हारी ही जिम्मेदारी है।

ऐसे ही कोई कहे कि आप व्यवहारनय को असत्यार्थ, हेय मत कहो; क्योंकि हम निश्चय के किनारे नहीं पहुँचे हैं और व्यवहारनय को मध्य में ही छोड़ देंगे तो संसार—समुद्र में भटक जायेंगे। इसलिए हमें निश्चय तो बाद में ही बताना; लेकिन ऐसा नहीं होता है, देशनालब्धि तो एकसाथ ही पूरी होती है।

प्रथमतः व्यवहार की संधि को सावधानीपूर्वक समझना अत्यंत आवश्यक है। जहाँ व्यवहारनय की उपयोगिता है, वहाँ व्यवहारनय का उपयोग करना है एवं जहाँ उसकी उपयोगिता समाप्त होती है, वहाँ उसे छोड़ देना है।

एक नाव की ही बात होती तो हम तुम्हारे साथ भी चल सकते हैं, लेकिन यदि मुम्बई जाना हो और यहाँ बीच में नदी आती है तो नाव में बैठना, नाव में से उतरना, फिर तांगे में बैठना, फिर रेलवे स्टेशन जाना और वहाँ रेल में बैठना और तुम्हारा स्टेशन आ जाय तो वहाँ उतरना; बीच में नहीं उतरना, फिर टैक्सी में बैठना और घर जाना। तभी तुम अपने घर पहुँचोगे, अन्यथा भटक जावोगे।

इस पर वह कहे कि यहाँ तो बहुत बार उतरना—चढ़ना हो गया, इसमें तो गड़बड़ हो ही सकती है।

गड़बड़ हो सकती है तो क्या हम तुम्हारे साथ चलें? नदी के उस पार जाने की बात होती तो सोच भी लेते, पर तुम्हें तो मुम्बई जाना है। तो क्या हम तुम्हारे साथ मुम्बई तक चलें। अरे भाई ! यह नहीं हो सकता। जाना तो तुम्हें अकेले ही होगा और पूरा रास्ता अभी यहीं

समझना होगा तथा उसे याद भी अच्छी तरह रखना होगा; तभी घर पहुँचोगे। यदि मुम्बई पहुँचना है तो इतनी प्रक्रिया से गुजरना ही होगा।

25 ऐसे ही यहाँ अनेक व्यवहारनय हैं। प्रथम तो उपचरित—असद्भूत—व्यवहारनय की नाव में बैठना है, फिर अनुपचरित—असद्भूतव्यवहारनय की नाव में बैठना है; फिर उससे उतरकर उपचरित—सद्भूतव्यवहारनय की नाव में बैठना है, फिर उसका किनारा आने के पश्चात् अनुपचरित—सद्भूतव्यवहारनय की नाव में बैठकर उसका किनारा आने के पश्चात् उससे भी उतरकर निश्चय में चले जाना है।

यह तो बहुत लम्बी प्रक्रिया है। यदि हम कहीं भूल गए तो ?

अरे भाई ! जो समस्या तुम्हारी है, वही समस्या हमारी भी है। हम भी कहाँ तक साथ देंगे ? अन्ततः रास्ता यही है कि जो कुछ समझना है, समग्रता से समझ लो, अच्छी तरह समझ लो; क्योंकि अपना रास्ता तो तुम्हें ही पार करना है।

‘अपनी मदद आप करो — यही महासिद्धान्त है। यह सब स्वयं समझोगे, तभी पार हो पाओगे, दूसरे के भरोसे काम नहीं चलेगा।’ दूसरा तो आपको मात्रा समझा सकता है, लेकिन सारे व्यवहारों का स्वरूप स्वयं को ही सूक्ष्मता से समझना होगा और जहाँ व्यवहारनय की प्रक्रिया की उपयोगिता है, वहाँ उसका उपयोग करना होगा एवं जहाँ उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है, वहाँ उसको छोड़ना पड़ेगा। तब हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति होगी।

एक बार यदि आप अन्तर से ये दृढसंकल्प कर लें कि मुझे ये सब समझना ही है तो आप जरूर समझ सकते हैं; क्योंकि जिनवाणी में यह कहा है कि ‘प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रिय मुक्ति के मार्ग पर चलने की अथवा भगवान आत्मा को समझने की पूर्ण सामर्थ्य रखता है।’ इतनी योग्यता प्रत्येक आत्मा के पास है। एक चिड़िया के पास जितनी बुद्धि है, आत्मा समझने के लिए उतनी बुद्धि ही चाहिए; क्योंकि चिड़िया को भी सम्यग्दर्शन होता है। चारों गतियों में सम्यग्दर्शन होता है।

इसलिए हमारी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं है — यह तर्क सर्वथा अनुचित है।

मेरे से पूछा गया, 'क्या नयचक्र समझे बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा?' मैंने कहा, 'क्यों नहीं, जरूर हो जायेगा।' फिर मैंने उनसे पूछा, 'क्या समयसार के पढ़े बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा? तो उन्होंने कहा — नहीं होगा; तब मैंने कहा — 'जिस चिड़िया को नयचक्र समझे बिना सम्यग्दर्शन हुआ; उस चिड़िया ने समयसार भी कहाँ पढ़ा था? लेकिन इतनी बात निश्चित है कि 'जो समयसार का विषयभूत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा है, जिसे समयसार में स्वयं नयों के माध्यम से समझाया है; वह आत्मा जबतक समझ में नहीं आता; तबतक आत्मानुभव नहीं होगा।' हमें आत्मानुभव करना है; अतः नयों को समझने से अपने उपयोग को विमुख नहीं करना चाहिए। तीन दिन के अल्प परिश्रम से ही नय समझ में आ सकते हैं और सारे जीवनभर के लिए आत्मानुभव का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

यद्यपि समयसार की विषयभूत वस्तु नयातीत है, लेकिन वह नयों के माध्यम से ही समझी जाती है। अतः उसे समझकर अपने आत्मा की प्राप्ति करें। यही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है। ●

अब, आप स्वयं ही सोच लें

आत्मा की चर्चा में थकावट लगना, ऊब पैदा होना आत्मा की अरुचि का द्योतक है। अब आप स्वयं सोच लो कि आपको किसकी रुचि है? हमें इस बारे में कुछ नहीं कहना है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के अनुसार जहाँ हमारी रुचि होती है, हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी दिशा में काम करती हैं।

यदि हमें भगवान आत्मा की रुचि होगी तो हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ भगवान आत्मा की ओर ही सक्रिय होंगी और यदि हमारी रुचि विषय-कषाय में हुई तो हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ विषय-कषाय की ओर ही सक्रिय होंगी।

— गागर में सागर, पृष्ठ-253

चौथा प्रवचन

26

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ व्यवहारनय की जो उपयोगिता बताई है, वह मात्रा भेदविज्ञान की दृष्टि से ही है या इस व्यवहारनय की कोई और भी उपयोगिता है?

व्यवहारनय की आचरण की दृष्टि से भी बहुत बड़ी उपयोगिता है।

स्त्री-पुत्रा, मकानादि मेरे नहीं हैं, शरीर मेरा नहीं है — यह तो सभी जानते हैं, फिर भी जिनवाणी में व्यवहारनय से ही सही इन्हें अपना क्यों कहा गया है?

यदि हम इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करते हैं तो पाते हैं कि व्यवहारनय से इन संयोगों को अपना कहने का भी बहुत बड़ा हेतु है।

स्त्री-पुत्रा, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा, देश-नगर और गाँव — ये उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से अपने कहे गए हैं और निश्चयनय से ये अपने नहीं हैं।

यदि हम ऐसा मान लें कि ये सर्वथा ही अपने नहीं हैं, किसी भी नय से अपने नहीं हैं तो यह मान्यता ठीक नहीं है। कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि ये तो अपने सिर्फ कहे गए हैं, हैं नहीं।

अरे भाई! भगवन्तों के, आचार्यों के, जिनवाणी के कथन की 'यह सिर्फ कहे गए हैं' — ऐसा कहकर उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जिनवाणी में इसे स्थान दिया है तो इसकी कोई न कोई उपयोगिता अवश्य है। व्यवहारनय की सार्थकता पर यदि गहराई से विचार करें तो जो कुछ तथ्य हमारे सामने उभरकर आते हैं, वे इसप्रकार हैं —

स्त्री-पुत्रा, मकान, जायदाद — ये निश्चयनय से अपने नहीं हैं, इस कथन को ही हम सर्वथा सत्य मानें और इन्हें अपना कहनेवाले व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानें तो स्वस्त्री-परस्त्री, अपनाघर-परायाघर, अपनी संपत्ति-पराई संपत्ति — इसप्रकार का भेद कैसे संभव

होगा ? क्योंकि निश्चयनय से कोई भी स्त्री, कोई भी मकान या कोई भी संपत्ति मेरी या तेरी, किसी की भी है ही नहीं।

अरे भाई ! यह अकेले अज्ञानियों का व्यवहार नहीं है; क्योंकि अणुव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के भी ऐसा व्यवहार पाया जाता है। अणुव्रत में परस्त्री का त्याग और स्वस्त्री का ग्रहण होता है। यदि हम इस व्यवहारनय को नहीं मानेंगे तो स्वस्त्री एवं परस्त्री का व्यवहार कैसे होगा ? क्योंकि निश्चयनय से तो स्वस्त्री भी पर है और परस्त्री भी पर है।

न्याय से उपार्जित और पुण्य के उदय से प्राप्त संपत्ति को व्यवहार-नय अपनी कहता है। यदि इसे सर्वथा अपनी नहीं मानेंगे तो परिग्रह का परिमाण कैसे होगा ? ब्रह्मचर्याणुव्रत में भी बाधा आएगी; सात व्यसन का त्याग और परस्त्रीसेवन त्याग व्यवहारनय के बिना संभव नहीं है; क्योंकि निश्चयनय से तो परमाणुमात्रा भी मेरा नहीं है, सब पर ही हैं। इसप्रकार संपूर्ण चरणानुयोग की आधारशिला यही व्यवहारनय है।

न केवल चरणानुयोग अपितु; प्रथमानुयोग की भी आधारशिला यही व्यवहारनय है। जिनागम में यह कथन आता है कि ऋषभदेव के नंदा और सुनंदा ये दो पत्नियों और भरतादिक सौ पुत्रा थे, बाहुबली भी ऋषभदेव के ही पुत्रा थे। यह सब व्यवहारनय का कथन है और यदि हम व्यवहारनय को सर्वथा मानेंगे ही नहीं तो प्रथमानुयोग के ये सभी कथन सर्वथा असत्यार्थ हो जायेंगे; क्योंकि निश्चयनय से कोई किसी का होता ही नहीं है।

भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के मालिक थे, बाहुबली के पिता का नाम ऋषभदेव था — ये सभी कथन व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानने पर व्यवहारपुरतः भी सत्य नहीं ठहरेंगे।

ये मात्रा प्रथमानुयोग की ही समस्या नहीं रहेगी। हमारे दैनिक जीवन में भी व्यवहारनय को असत्यार्थ मानने पर बहुत बड़ी बाधा आएगी। बारह भावनाओं में हम विचार करते हैं कि कोई किसी का

पिता नहीं है और कोई किसी का पुत्रा नहीं है। यदि आप स्कूल में अपने पुत्रा को भर्ती कराने जाते हैं, वहाँ पिता के बारे में पूछा जाता है; उसके उत्तर में आप कहें कि इसका कोई पिता नहीं है तो क्या होगा ?

27

अदालत में कोई आप पर केस करे और वहाँ न्यायाधीश आपसे आपके पुत्राओं के बारे में पूछे तब आप यही उत्तर दें कि मेरा तो कोई पुत्रा नहीं है तो आपको न्यायाधीश झूठ बोलने के आरोप में जेल भी भेज सकता है।

इसप्रकार जिनवाणी में व्यवहारनयों का कथन जिस दृष्टि से आया है, उसे उसी दृष्टि से सत्यार्थ ग्रहण करना चाहिए। इसे ही शास्त्रीय भाषा में कथंचित् सत्यार्थ कहते हैं।

व्यवहारनय की कथंचित् सत्यार्थता के बिना सारे दैनिक व्यवहारों का ही लोप हो जायेगा। अतः सदाचार की दृष्टि से व्यवहारनय की अत्यंत उपयोगिता है।

यहाँ कोई ऐसा कहे कि सदाचार की दृष्टि से यदि इस नय की उपयोगिता है तो रहने दो, इसमें हमें क्या फर्क पड़ता है। कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी व्यवहारनयों को व्यवहाराभास कहते हैं। अतः हम तो उन्हें किसी भी अपेक्षा सत्य नहीं मानेंगे।

इसप्रकार आगम के अध्येताओं में भी कई ऐसे व्यक्ति हैं, जो व्यवहारनय की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित करते हैं; किन्तु जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि व्यवहारनय की आधारशिला पर ही प्रथमानुयोग और चरणानुयोग के महल खड़े हैं।

‘व्यवहारनय निरर्थक है’ — यह कथन अनुचित है; क्योंकि व्यवहार-नय अपनी सीमा में सर्वथा सत्यार्थ है एवं उस सीमा के बाहर सर्वथा असत्यार्थ है। — इस कथन के आधार पर यदि कोई कहे कि यदि यह सत्यार्थ है तो फिर इसे पुनः-पुनः असत्यार्थ एवं हेय कहने का क्या प्रयोजन है ? यदि यह प्रयोजनपुरतः भी सत्यार्थ है, उपयोगी है तो इसका सम्मान होना चाहिए। इसे हेय है, असत्यार्थ है — ऐसा क्यों कहते हैं ?

व्यवहारनय का सम्मान अवश्य होना चाहिए, लेकिन इससे पूर्व व्यवहारनय को यदि असत्यार्थ नहीं कहेंगे तो क्या हानि है ? इस विषय पर चिंतन करना अत्यंत आवश्यक है।

स्त्री—पुत्रा, मकान—जायदाद अपने हैं; पर क्या इन्हें अपने ही रखना है या छोड़ना है ? क्या इनको साथ में लेकर हम मोक्ष में जा पायेंगे ? कहा है —

ले दौलत प्राणप्रिया को तू मुक्ति न जाने पायेगा।

यही कारण है कि इन्हें हेय कहा गया है। 'ये मेरा है, लेकिन मैं इसे छोड़ता हूँ।' — ऐसा मानना वास्तविक त्याग नहीं है। पर को पर जानकर छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। जैसा कि समयसार की 34वीं गाथा में स्पष्ट कहा है —

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
(हरिगीत)

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे।

अर्थात् परपदार्थों को 'ये पर है' — ऐसा जानकर छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। इसप्रकार पर को पर जानकर उससे राग त्यागा जाता है, उनसे एकत्व तोड़ा जाता है, इसे ही त्याग कहते हैं। सर्वप्रथम यह स्वीकार करना होगा कि 'ये मेरे हैं' — ऐसा कथन करनेवाला नय असत्यार्थ है अर्थात् वह पारमार्थिक सत्य नहीं है, व्यावहारिक सत्य है, प्रयोजनपुरतः सत्य है। जब इसे छोड़ना है तो उसे असत्यार्थ, हेय मानकर ही छोड़ना होगा।

इसे हम इस उदाहरण से समझते हैं — एक सुरेश नामक लड़का है और वह नाटक की स्टेज पर श्रीपाल नामक महापुरुष का अभिनय कर रहा है। स्टेज पर वह मैनासुन्दरी बनी लड़की से पति—पत्नी जैसा ही व्यवहार कर रहा है।

नाटक के मंच पर जो श्रीपाल जैसा व्यवहार कर रहा है, क्या वह श्रीपाल नहीं है ? यदि हम नाटक की दृष्टि से भी सुरेश को श्रीपाल

और कमला को मैनासुन्दरी नहीं मानेंगे तो उस नाटक का आनन्द नहीं ले सकेंगे।

स्टेज पर आपस में वे जिसप्रकार बातचीत कर रहे थे, वैसी ही बातचीत और वैसा ही व्यवहार यदि सुरेश और कमला बाहर आकर किसी सड़क के कोने पर खड़े होकर करें तो वे लोग ही इसे अनुचित कहकर उन्हें धिक्कारने लगेंगे।

ऐसा ही व्यवहार यदि वे नाटक के मंच पर करते हैं तो लोग उसे उचित कहते हैं और तालियाँ पीटते हैं; क्योंकि नाटक की दृष्टि से वह श्रीपाल है — यह सत्य है, अन्यथा नाटक ही नहीं हो सकता और यदि नाटक सत्य है तो श्रीपाल भी सत्य है और मैनासुन्दरी भी सत्य है।

यदि हम नाटक की दृष्टि से नहीं देखें और गहराई में जाकर उस अभिनेता के वास्तविक जीवन की दृष्टि से देखें तो वह श्रीपाल नहीं है, सुरेश है। नाटक के मध्य में हमने जो इनाम दिया है, वह किसे दिया है — श्रीपाल को दिया है या सुरेश को ? उस वक्त हमारे मस्तिष्क में कौन था ? उस वक्त हमने सुरेश को इनाम दिया है, श्रीपाल को तो इनाम दे ही नहीं सकते; क्योंकि श्रीपाल तो मोक्षमार्गी जीव हैं। नाटक में इनाम तो बालकों को दिया जाता है, बड़ों को नहीं; क्या भगवान आदिनाथ और भगवान महावीर को कोई इनाम देता है? उनके तो चरणों में माथा झुकाकर अष्टद्रव्य से पूजा की जाती है।

जब हम उस अभिनेता को इनाम दे रहे हैं तो वह हमारी दृष्टि में सुरेश है और जब हम उस नाटक को देख रहे हैं तो वही हमारी दृष्टि में श्रीपाल है। श्रीपाल यह व्यवहार है; क्योंकि वास्तव में वह श्रीपाल नहीं है, सुरेश है; श्रीपाल के वेश में श्रीपाल का अभिनय कर रहा है। यह सत्यार्थ होने पर भी यह मात्रा नाटक के मंच तक ही सीमित है। नाटक जब चल रहा है, उस समय यदि उस नाटक का दर्शक अभिनेता का नाम लेकर उसे बीच में ही टोके, तब वह नाटक नहीं, नाककट हो जायेगा। इसलिए डायरेक्टर नाटक के समय श्रीपाल को नहीं, अपितु नाटक के पश्चात् सुरेश को ही टोकता है।

उसीप्रकार जब व्यवहार का प्रकरण चल रहा है, किसी उद्देश्य विशेष से परिग्रहपरिमाणुव्रत या ब्रह्मचर्याणुव्रत की चर्चा चल रही है या राम या आदिनाथ की कहानी चल रही है; तब व्यवहारनय सत्यार्थ है, भूतार्थ है और इस समय जो जानना होता है, वह प्रयोजनवान है।

उस तीन घंटे के नाटक के अलावा ही नहीं, अपितु नाटक करते समय भी सुरेश श्रीपाल नहीं है; सुरेश ही है — यह निश्चयनय है। निश्चय एवं व्यवहार — ये दोनों नय एकसाथ घटित होते हैं। मंच से उतरने के पश्चात् ही नहीं, अपितु जब वह श्रीपाल का अभिनय कर रहा है, तब भी वह व्यवहारनय से श्रीपाल है एवं निश्चयनय से सुरेश है। वह एक ही समय में दोनों है।

हमारी समस्या यह है कि हम दोनों नयों से युगपत् नहीं देख सकते हैं। देखने में क्रम पड़ता है अर्थात् कभी व्यवहारनय मुख्य होता है तो निश्चयनय गौण; कभी निश्चयनय मुख्य होता है तो व्यवहारनय गौण। यह जो अन्तर है, भेद है; उसे जानना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जो समय का भेद है, वह देखनेवाले के ज्ञान में है। वस्तु में तो श्रीपाल और सुरेश दोनों एकसाथ हैं।

अनेक दर्शक एकसाथ श्रीपाल—मैनासुन्दरी का नाटक देख रहे हैं। उनमें से जिसे व्यवहारनय मुख्य है, उसे श्रीपालमैनासुन्दरी दिख रहे हैं और कोढ़ी श्रीपाल को देखकर वह आँसू बहा रहा है। उसीसमय उसके बगल में बैठा हुआ व्यक्ति इस नाटक को निश्चयनय से देख रहा है और वह मन ही मन मुदित हो कह रहा है, 'वाह ! सुरेश! क्या अभिनय किया है।' उसे प्रसन्नतावश सुरेश को पुरस्कार देने का भाव भी आ रहा है।

एक ही नाटक को देख रहे दोनों दर्शकों में एक प्रसन्न हो रहा है और दूसरा आँसू बहा रहा है। ये दोनों स्थितियाँ सत्य हैं। दोनों ही नयों की विषयभूत वस्तु सुरेश नामक श्रीपाल में एकसाथ विद्यमान

हैं। यदि यह विद्यमान नहीं होते तो एक ही समय में एक को श्रीपाल एवं दूसरे को सुरेश क्यों दिखता ? इसलिए यह स्वयमेव सिद्ध है कि एक ही वस्तु में व्यवहारनय एवं निश्चयनय दोनों एकसाथ घटित होते हैं।

29

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि व्यवहारनय भेदविज्ञान की दृष्टि से एवं सदाचारी जीवन की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है। यदि हम व्यवहारनय को सर्वथा निरर्थक कहेंगे तो मानव और पशु में कोई अंतर ही नहीं रहेगा। मानव में ही स्वस्त्री और परस्त्री का भेद होता है, पशुओं में ऐसा भेद नहीं होता है।

इसप्रकार व्यवहारनय की उपयोगिता लौकिक जीवन में भी है। व्यवहारनय की सबसे बड़ी उपयोगिता उसे अभूतार्थ, असत्यार्थ एवं असत्य जानने में है, इसके बिना हमारा प्रयोजन सधनेवाला नहीं है। इसे हम इस उदाहरण से समझते हैं।

बादाम नामक वृक्ष का, उसके फल और उसमें फल के अंदर की मिगी का भी नाम बादाम ही है। बादाम फल के अंदर जो मिगी है, उसे ही खाया जाता है और निश्चय से वही बादाम है। छिलका तो फेंकने योग्य है, वस्तुतः वह बादाम नहीं है; लेकिन छिलके को भी बादाम कहा जाता है। छिलके को निरर्थक ही बादाम नहीं कहा जाता; उसकी भी उपयोगिता है; क्योंकि आजतक दुनिया में ऐसा कोई बादाम का पेड़ पैदा नहीं हुआ है, जिस पर बिना छिलके की बादाम की मीगी लगती हो। यदि ऐसा होता तो सभी लोग सीधी बादाम की मीगी का ही वृक्ष लगाते, लेकिन ऐसा संभव नहीं है।

जो खानेयोग्य बादाम अर्थात् निश्चय बादाम है, वह व्यवहार बादाम अर्थात् छिलके के अन्दर ही पायी जाती है। यदि छिलका और अंदर की मिगी साथ में है तो बाजार में उसकी बिक्री 100 रुपया प्रति किलो होती है। यदि छिलका और अंदर की मिगी अलग—अलग होती है तो बाजार में बादाम की मिगी तो चार सौ रुपये किलो बिकती है और छिलके को 1 रुपये किलो में भी कोई नहीं पूछता। छिलका

निकलवाने के पैसे और लग जाते हैं। जब छिलका बादाम की मिगी से अलग हो जावेगा, तब उसे कोई बादाम भी नहीं कहेगा। सभी उसे बादाम का छिलका ही कहेंगे।

जबतक वह बादाम के साथ है, तबतक उसे बादाम कहा जाता है एवं उसकी कीमत 100 रुपये किलो है; बादाम से अलग होते ही छिलका निरर्थक हो जाता है।

इसीप्रकार व्यवहारनय की कीमत निश्चयनय के साथ होने में ही है। यदि व्यवहारनय निश्चयनय का प्रतिपादक नहीं होता, निश्चय को बतानेवाला नहीं होता तो उसकी कीमत नहीं होती; लेकिन वह निश्चय का प्रतिपादक है, निश्चय को बतलानेवाला है, निश्चय तक पहुँचानेवाला है; इसलिए उसकी कीमत है।

मिगी से अलग होते ही छिलके की कीमत शून्य रह जाती है और मिगी की कीमत चौगुणी हो जाती है।

मिगी की कीमत छिलके के साथ रहने में कम होती है और छिलके की कीमत मिगी के साथ रहने से बढ़ती है।

इसीप्रकार निश्चय की कीमत व्यवहार के साथ रहने में घटती है और व्यवहार की कीमत निश्चय के साथ रहने से बढ़ती है।

जिसके साथ रहने से जिसकी कीमत घटती है, वह तो उसका निषेध करेगा ही एवं जिसके साथ रहने से जिसकी कीमत बढ़ती है, वह तो उसके साथ ही रहने की चेष्टा करेगा।

छिलका का साथ होना बादाम की मिगी की मजबूरी नहीं, अपितु उसकी भी उपयोगिता है; क्योंकि बादाम के पेड़ पर जब बादाम का फल लगा, तब धूप, सर्दी, बरसात, गर्मी – सब अपने माथे पर किसने झेली ? छिलके ने। छिलके ने ही बादाम को कितने ही संकटों से सुरक्षित रखा।

कोई भी संकट आयेगा तो सबसे पहले उसे बादाम का छिलका झेलेगा और जबतक वह छिलका है, तबतक उस बादाम की मिगी

सुरक्षित है। छिलका निकला कि बादाम की मिगी पूरी तरह से असुरक्षित है।

जिसप्रकार प्रधानमंत्री के सुरक्षागार्डों को वह स्थान उनकी जान की कीमत पर मिला है; उसीप्रकार व्यवहार को जो कीमत मिली है, वह अपनी जान की कीमत पर मिली है।

जिनवाणी में यदि उसे स्थान मिला है तो निश्चय का प्रतिपादक है; इसलिए मिला है, मुफ्त में नहीं मिला है। वह सदाचार का पोषक है; इसलिए उसे जिनवाणी में स्थान प्राप्त है।

जिसका जितना योगदान हो, उसकी उतनी कीमत होनी ही चाहिए। व्यवहार का निश्चय तक पहुँचाने में जितना योगदान है, उसका उतना ही सम्मान होना चाहिए, न इससे अधिक सम्मान होना चाहिए न ही कम।

व्यवहार का उतना ही सम्मान होना चाहिए, जितना कि सुरक्षा कर्मचारी का। सुरक्षाकर्मचारी जान की बाजी लगाकर प्रधानमंत्री के पीछे खड़ा है। ऐसा तो नहीं हो सकता है कि इसने प्रधानमंत्री की 24 घंटे सुरक्षा की है, सेवा की है; इसलिए इसे प्रधानमंत्री की तबियत खराब होने के कारण उनके स्थान पर भाषण देने के लिए खड़ा कर दें। इस हेतु से उसे प्रधानमंत्री का पद तो नहीं दिया जा सकता है; क्योंकि सेवक को सेवक का ही पद मिल सकता है, प्रधानमंत्री का पद नहीं।

यदि बादाम के छिलके का यथासमय निषेध नहीं हो तो बादाम का छिलका मिगी पर ही जमा रहेगा। यदि वह बादाम की मिगी से अन्ततक निकले ही नहीं तो मिगी की कुछ भी कीमत नहीं, कोई मुफ्त में भी नहीं खरीदेगा; क्योंकि जिसका छिलका वज्र के प्रहार से भी नहीं टूटे, ऐसा बादाम कौन खरीदेगा। उस बादाम को जो कीमत मिली थी, वह छिलका हटाने के बाद खाने के काम आती है; इसलिए मिली थी। इससे यह स्पष्ट है कि बादाम खाने के काम कब आता

है, जब छिलका हट जाता है। ऐसे ही आत्मानुभव कब होता है? जब व्यवहार हट जाता है, तब आत्मानुभव होता है।

अतः व्यवहार उपयोगी भी है, यथासमय उसका सम्मान भी है और समय के पूर्व उसका हट जाना भी उतना ही जरूरी है; क्योंकि उसके हटे बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता। आत्मा को समझने के लिए व्यवहार की जरूरत है और आत्मा में रमने—जमने के लिए व्यवहार के निषेध की जरूरत है।

आत्मा को वाणी के माध्यम से, गुरु के माध्यम से, समझने के लिए व्यवहार की जरूरत है और आत्मा के अनुभव के लिए व्यवहार का निषेध भी अनिवार्य है। यही कारण है कि जिनागम में व्यवहारनय को कथंचित् उपादेय एवं कथंचित् हेय कहा गया है, कथंचित् सत्यार्थ एवं कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है।

प्रथम जो उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है; वह सदाचार की सीमा का प्रतिपादक है। वह मानव एवं पशु, स्वधन एवं परधन, स्वस्त्री तथा परस्त्री में अंतर स्पष्ट करनेवाला है।

दूसरा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय जो देह और आत्मा के मिश्रण को आत्मा कहता है; उसकी क्या उपयोगिता है ?

इसका उत्तर समयसार के जीवाजीवाधिकार के 46वीं गाथा की टीका में इसप्रकार स्पष्ट दिया है कि यदि हम इस नय को नहीं मानेंगे तो जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा नहीं होती है, राख को मसल देने से हिंसा नहीं होती है; वैसे ही त्रास—स्थावर जीवों के मसल देने से भी हिंसा नहीं होगी।

यद्यपि हमारा शरीर भी अजीव है और यह लकड़ी भी अजीव है; लेकिन दोनों अजीव में अंतर है। एक तो पूर्ण शुद्ध अजीव है, इसमें तो जीव है ही नहीं। दूसरा, शरीर तो अजीव है; लेकिन इसमें जीव विद्यमान है; इस कारण उसे सजीव भी कहते हैं। यह जो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, वह अहिंसात्मक आचरण की सिद्धि करने वाला है। यदि शरीर और आत्मा एक नहीं है और अकेला आत्मा तो

कभी मरता नहीं है; क्योंकि निश्चयनय से जीव अजर—अमर है। शरीर और आत्मा को एक कहनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही जीव मरता है।

31

इसप्रकार के मृत्युविषयक कथन इसी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के कथन हैं। यदि इसे सर्वथा नहीं मानेंगे तो जीवनमृत्यु—विषयक कथन ही समाप्त हो जाएंगे। देह और आत्मा के वियोग का नाम ही तो मरण है। यदि इस नय को नहीं मानेंगे तो मात्रा देह का तो मरण होता ही नहीं है।

इसप्रकार हमारा संपूर्ण अहिंसात्मक आचरण इसी नय पर आधारित है। रात्रि में भोजन नहीं करना, मांस—मदिरा का सेवन नहीं करना, आलू—जमीकंद नहीं खाना; क्योंकि इनमें अनंत जीव है, इनको खाने से इन अनंत जीवों की मृत्यु हो जाएगी। ये सब इसी नय के कथन हैं।

यदि हम इस नय को नहीं मानेंगे तो बहुत आपत्तियाँ उपस्थित होंगी। कोई गाय का मांस खाएगा और कहेगा कि जीव तो खाया ही नहीं जाता है, मैं तो पुद्गल को खा रहा हूँ। लोक में भी प्रसिद्ध है कि 'जीवो जीवस्य भोजनम्' अर्थात् जीव, जीव का भोजन बनता है। इस जगत् में छोटी मछली बड़ी मछली को खाती है। इसमें जो खा रहा है, वह भी देहवाला है और जिसे खाया जा रहा है, वह भी देहवाला है। यदि हम इस नय को नहीं मानेंगे तो हमारा जितना भी अहिंसक आचरण है; उसमें बाधा आएगी।

जिसकारण सारे जगत् से जैनी श्रेष्ठ हैं — ऐसा शाकाहार भी इसी नय पर आधारित है। इसलिए कहते हैं कि दूसरा व्यवहारनय जो देह और आत्मा को एक कहता है; उसकी उपयोगिता अहिंसात्मक आचरण और भेदविज्ञान के लिए है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस नय की अहिंसक आचरण एवं भेदविज्ञान के लिए इतनी उपयोगिता है तो फिर इसे असत्यार्थ क्यों कहते हैं ?

अरे भाई ! क्या इस देह को अनंतकाल तक रखना है ? पर को पर मानकर ही छोड़ा जा सकता है, अपना मानकर नहीं। जैसा कि कहा है –

तन कारागृह वनिता बेड़ी। परिजन जन रखवाले।

यह जो देह है, वह कारागृह है। जो व्यक्ति कारागृह से भागना चाहता है, क्या वह उसे अपना मानता है ? यदि इसे अपना घर माना जाएगा तो इससे कभी छूटना नहीं होगा।

पत्नी बेड़ी और कुटुम्बीजन रखवाले हैं। रखवाले भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो साहूकार की रक्षा करने के लिए खड़े हुए रखवाले और दूसरे आतंकवादी अथवा चोर भाग न जाय; इसलिए उसकी रक्षा करनेवाले रखवाले। एक प्रधानमंत्री के साथ रहनेवाला रखवाला है तो दूसरा बड़े चोर के साथ रहनेवाला। रखवाले-रखवाले में अंतर है, एक रखवाला तो कोई उसे मार न दे; इसलिए है एवं दूसरा यह भाग न जाय, छूट न जाय; इसलिए है। परिजन दूसरे प्रकार के रखवाले हैं, देह कारागृह है एवं वनिता बेड़ी है।

इसप्रकार अनुपचरित असद्भूत व्यवहार अहिंसक आचरण, भेदविज्ञान एवं जीवन-मृत्यु विषयक कथनों में अत्यंत उपयोगी है – ऐसा होते हुए भी हमें देह को कारागृह, वनिता को बेड़ी तथा परिजन को रखवाले मानकर छोड़ना है; इसलिए इस नय को असत्यार्थ कहा है।

तीसरा व्यवहारनय, उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है, जो कहता है कि ये राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा के बाहर उत्पन्न नहीं होते। क्या कभी रुमाल में, घड़ी में राग-द्वेष उत्पन्न हुआ है ? नहीं। राग-द्वेष आत्मा में ही उत्पन्न होता है। यह आत्मा की विकारी पर्याय है। यही कारण है कि इसे कथन करनेवाले नय को उपचरितसद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

सद्भूत अर्थात् 'है' और उपचरित अर्थात् 'दुःख देनेवाली है, दुःखदायक है।' सुखरूप नहीं है तो क्या मोह-राग-द्वेष को आत्मा

में रखना है या छोड़ना है ? छोड़ना है – इसी को हेय कहते हैं।

हेय का कोई पृथक् अर्थ नहीं है। जो कुछ छोड़ने योग्य है, वह सब हेय है। इसके संदर्भ में जिनागम में एक कहानी प्रसिद्ध है।

32

ब्राह्मण की कन्या जब जैन मुनिराज के पास पहुँची, मुनिराज का उपदेश सुनकर सभी श्रावकों के साथ उसने भी पाँच अणुव्रत ले लिए। जब वहाँ से लौटकर वह कन्या घर पहुँची, तब ब्राह्मण विद्वान उसके पिता ने उससे कहा, 'ये जैनियों के व्रत तुमने क्यों लिए ? व्रत लेना ही था तो अपने यहाँ से लेना चाहिए, चलो, इन व्रतों को वापिस कर देते हैं।'

बेचारी लड़की हताश होकर पिता के साथ व्रत वापिस करने चली। रास्ते में किसी को फाँसी पर चढ़ाया जा रहा था – यह देखकर लड़की ने अपने पिता से पूछा, 'पिताजी, इन्होंने ऐसा क्या किया था कि जिसकारण इन्हें फाँसी पर चढ़ाया जा रहा है।' पिता ने कहा – 'इसने एक आदमी की हत्या की है।' तब तपाक् से बेटी बोली – 'पिताजी ! क्या आप भी अपनी बेटी को फाँसी पर चढ़ाना चाहते हैं।'

'यह क्या बोल रही हो ?'

'पिताजी ! महाराजजी ने यही तो कहा था कि किसी को मारो नहीं, इसलिए तो अहिंसाव्रत लिया था मैंने।'

'चलो बेटी ! यह एक व्रत रख लेना; बाकी चार व्रत वापिस कर देंगे।'

फिर आगे बढ़े तो कुछ ऐसा संयोग बना कि किसी व्यक्ति की जिह्वा काटी जा रही थी, उसे देखते ही बेटी बोली, 'क्यों पिताजी ! यह क्या हो रहा है ?' पिता बोले – 'इसने झूठ बोला है; इसलिए इसकी जुबान काटी जा रही है।' यह सुनते ही बेटी को दूसरे व्रत का स्मरण आया और बोली – 'पिताजी ! क्या आप अपनी बेटी की जिह्वा कटवाना चाहते हैं।'

'महाराजजी ने अपने उपदेश में यही तो कहा था कि झूठ नहीं बोलना, कम से कम झूठ बोलना।'

‘चलो बेटी ! अन्य तीन व्रत वापिस करते हैं।’

आगे बढ़े तो देखा कि एक व्यक्ति के हाथ काटे जा रहे हैं। इस प्रसंग को देखकर द्रवित हो पुत्री बोली – ‘पिताजी ! इनके हाथ क्यों काटे जा रहे हैं ?’ पिता बोले – ‘बेटी ! इस व्यक्ति ने चोरी की है; इसलिए इसके हाथ काटे जा रहे हैं, कभी चोरी नहीं करना चाहिए।’

‘पिताजी ! मैंने क्या गलती की है ? यही तो महाराजजी ने कहा था कि कभी चोरी नहीं करना।’

‘अच्छा-अच्छा, यह व्रत भी रख लेना, अन्य दो व्रत वापिस कर देते हैं।’

आगे जाते-जाते कुछ ऐसी घटना घटी की बेटी ने पाँचों ही व्रत रख लिए। अब बेटी विद्वान पिता से बोलती है, ‘अब मैंने पाँचों व्रत रख लिए हैं, अब मुनिराज के पास क्यों जाना ?’ तब ब्राह्मण विद्वान कहते हैं, चल-चल, बहुत होशियार बनती है; अब मैं उन्हें उलाहना देकर आऊँगा कि मुझे पूछे बिना ये व्रत क्यों दिये ? तब पुत्री कहती है, ‘पिताजी उन्होंने हमें कुछ दिया ही है, हमसे कुछ उन्होंने लिया तो है नहीं।’

‘चल-चल, उलाहना देकर आएँगे।’

महाराजजी के पास पहुँचते ही तुरंत ब्राह्मण विद्वान बोला, ‘तुमने मेरी पुत्री को, मुझसे पूछे बिना व्रत क्यों दिए?’

महाराज बोले – ‘मैंने तुम्हारी बेटी को व्रत दिए ही नहीं हैं, मैंने तो मेरे भानजे को व्रत दिए हैं।’ ब्राह्मण सोच में पड़ गया। तुरंत उसने महाराज से आश्चर्य से पूछा – ‘भानजे को व्रत दिए हैं? तुम मेरी लड़की को अपना भानजा कहते हो।’

तुरंत महाराजश्री ने लड़की के माथे पर हाथ रखकर कहा –

‘हे वायुभूत ! मैंने तुम्हें जो पढ़ाया था, वह बोल !’

उसे पूर्वभव का जातिस्मरण हो गया। वह पूर्वभव में उनका भानजा था एवं वे भी उसके मामा थे, जो उसे जैनधर्म पढ़ाते थे। उसने सम्पूर्ण

पढ़ाए हुए सिद्धान्त बोले। महाराजश्री ने ब्राह्मण विद्वान को स्पष्ट किया कि यह पहले भव का मेरा भानजा है। पाप के फल से यह पुरुष से महिला हो गया है।

33

इसीप्रकार आज यह परमसत्य सबकी समझ में भी आता है, यह जगत कहता है कि तुम्हारी बात शत-प्रतिशत सत्य है; लेकिन तुम्हें उलाहना तो देंगे ही।

अरे भाई ! उलाहने से क्या होगा ? एक बार गहराई से विचार करो कि जिनवाणी में कौनसा कथन किस दृष्टि से है एवं इसमें क्या कहा गया है ?

तीसरा व्यवहारनय, जो आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष-मोह को अपना कहता है, एक दृष्टि से सत्यार्थ है; लेकिन क्या यह व्यवहारनय रखने योग्य है ? यह व्यवहारनय ‘ये मैं हूँ फिर भी छोड़ देता हूँ।’ इसप्रकार मानकर छोड़ने योग्य नहीं है; अपितु ‘ये मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, इनका मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ;’ इसप्रकार मानकर यह व्यवहारनय त्यागने योग्य है। इसप्रकार यह व्यवहारनय कथंचित् उपादेय भी है एवं कथंचित् हेय भी। ये मोह-राग-द्वेष मेरे में पैदा हुए हैं तो ये मेरी गलती है, गलती का त्याग हो सकता है।

गलती स्वीकार नहीं करना – यह व्यवहारनय के सत्यार्थपने को स्वीकार नहीं करना है। व्यवहारनय की दृष्टि से मैं विकारी पर्याय का कर्त्ता हूँ। ये सत्यार्थ है कि मेरी पर्याय में भूल हुई है; इसलिए मैं ही कर्त्ता हूँ। लेकिन क्या यह भूल रखने लायक है ? व्यवहारनय के विषय को अच्छा नहीं है, ये मेरा नहीं है – ऐसा माने बिना इसे छोड़ा नहीं जा सकता है। इसप्रकार व्यवहारनय की उपयोगिता सदाचारी जीवन एवं अहिंसक आचरण के लिए है। विशेषकर इस तीसरे व्यवहार-नय की उपयोगिता अपनी भूल स्वीकार कर भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए है और भेदविज्ञान के लिए भी है।●

पाँचवाँ प्रवचन

समयसार के प्रतिपादन का केन्द्रबिन्दु शुद्धात्मा है, जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्यरूप मुक्तिमार्ग की प्राप्ति होती है। इसी प्रयोजन से व्यवहारनय के माध्यम से शुद्धात्मा तक पहुँचाया गया है। इसकी चर्चा पूर्व—प्रकरण में हो चुकी है।

पूर्व प्रकरण में व्यवहारनय की उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसमें दो दृष्टियों से व्यवहारनों की उपयोगिता स्पष्ट हुई है। एक, भेदविज्ञान की दृष्टि से और दूसरी, सदाचार, अहिंसात्मक आचरण की दृष्टि से। अभी तक तीन प्रकार के व्यवहारनों की चर्चा हो चुकी है।

चौथा अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है; जिसे हम भेदव्यवहार कहते हैं। आत्मा तो अनंतगुणों का अखण्ड पिण्ड है; फिर भी जबतक किसी वस्तु को भेद करके नहीं समझाते हैं; तबतक वह सामान्यजन की समझ में नहीं आती है; इसलिए यह व्यवहारनय आत्मा में भेद करते हुए कहता है कि जो जाने वह आत्मा, जो देखे वह आत्मा, जो अनंतगुणों का गोदाम है, जो अनंत शक्तियों का संग्रहालय है; वह भगवान आत्मा है।

इसमें एक—एक गुण भी अनंत महिमावंत है। जैसे ज्ञानगुण में केवलज्ञान जैसी अनंतानंत पर्यायें भी निकल जायें तो भी उसका अंत आनेवाला नहीं है। इसप्रकार यह व्यवहारनय एक—एक गुण की, एक—एक पर्याय की महिमा बताकर भेद की चर्चा करता है। यदि इसप्रकार भेद करके आत्मा की महिमा नहीं बतावें तो आत्मा ही समझ में नहीं आवे। यह आत्मा हमारे समझ में आवे; इसलिए यह व्यवहारनय भेद करता है; लेकिन यदि दृष्टि इस भेद में ही उलझी रही तो आत्मा का अनुभव नहीं होगा।

हम कई तरह के मसाले डालकर चाय बनाते हैं। मानलो उसे बनाने में 25 मसालों का प्रयोग किया गया है। पीने पर चाय बहुत

34

बढ़िया लगी। चाय बढ़िया लगेगी ही, क्योंकि उसमें इलायची, लोंग आदि कई मसालों का प्रयोग हुआ है। इसप्रकार जबतक उसे विस्तार से नहीं बताएँगे; तबतक उसे उस चाय की महिमा आनेवाली नहीं है। उसके घर पर तो वह चाय बनती ही नहीं है; इसलिए वह मात्रा 'बढ़िया चाय है' इतना ही कहेगा।

जबतक भेद को खोलकर नहीं बताएँगे; तबतक महिमा नहीं आएगी। महिमा समझाने के लिए भेद को खोलना अत्यंत आवश्यक है। लेकिन जब स्वाद लेना है, तब चाय पीते वक्त एक—एक मसाले के नाम गिनने लग जायें एवं उनके ही विकल्पों में उलझे रहें कि आजकल तो इलायची बहुत महंगी हो गई है। ऐसे विकल्प करते हुए एक—एक मसाले पर विचार करने लगें और ऐसा करते हुए पूरी चाय भी पी जाएँ तो भी उसका स्वाद समझ में आनेवाला नहीं है।

जब हम ज्यादा चिंता में रहते हैं तो इधर—उधर के विकल्प अधिक चलते हैं और इस स्थिति में यदि हम भोजन भी करते हैं तो भोजन में नमक था या नहीं, इसके बारे में पता ही नहीं चलता। पण्डित टोडरमलजी जब गोम्मटसार की टीका लिख रहे थे; तब वर्षों तक भोजन में नमक नहीं होने का उन्हें पता ही नहीं चला।

ऐसे ही उपयोग यदि बाहर उलझा रहता है तो अतीन्द्रिय आत्मा का स्वाद नहीं आता है। अतः ज्ञान को भेद के विकल्पों में नहीं उलझाना है। यही कारण है कि इस भेदव्यवहारनय के निषेध की अत्यंत आवश्यकता है।

इसप्रकार चारों प्रकार के व्यवहारनों की अपने—अपने स्थान पर उपयोगिता है। इनकी उपयोगिता भी तभी सार्थक है जब हमें आत्मानुभव हो, आत्मा की प्राप्ति हो। यही कारण है कि आत्मानुभव के लिए इन चारों नयों के निषेध की भी अत्यंत आवश्यकता है।

लेकिन निश्चय और व्यवहार — इन दोनों का सर्वथा निषेध सर्वथा अनुचित है। आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका में एक प्राचीन गाथा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं एवं ऐसा आग्रह करते हैं

कि यदि हमें तत्त्व को प्राप्त करना है तो निश्चय एवं व्यवहार — इन दोनों नयों में से एक को भी नहीं छोड़ना चाहिए।

वह गाथा इसप्रकार है —

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा, वयवहार णिच्छए मुअह।

एकेण विणा छिज्जइ, णिच्चं अण्णेण पुण तच्चं।।

यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करना चाहता है तो दोनों नयों को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा, तो धर्मतीर्थ का अभाव हो जायगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होगा; अतः पहले व्यवहार—निश्चय को भले प्रकार जानकर पश्चात् यथायोग्य इनको अंगीकार करना, पक्षपात नहीं करना।

यदि व्यवहार को छोड़ देंगे तो तीर्थ का लोप हो जायेगा और यदि निश्चय को छोड़ देंगे तो तत्त्व का लोप हो जायेगा।

तीर्थ का वास्तविक अर्थ वस्तुतत्त्व का प्रचार है। जो तीर्थ को करे उसे तीर्थकर कहते हैं। तीर्थ करोतीति तीर्थकरः। तीर्थ अर्थात् वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करके उसे जन—जन तक पहुँचाना — इसी का नाम तीर्थ का प्रवर्तना है।

गिरनार या सम्मेदशिखर तीर्थ हैं, यह तो बहुत ही स्थूल बात है। वास्तविक तीर्थ तो द्वादशांग जिनवाणी है; जिसके माध्यम से संपूर्ण जैनतत्त्वज्ञान सारे जगत के सामने पहुँचता है। जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है तथा जिनके माध्यम से वह वाणी जन—जन तक पहुँचती है, उन्हें तीर्थकर कहते हैं।

लेकिन आज हम जिस जगह पर उन्होंने तप किया, जहाँ से वे मोक्ष गये; उस स्थान को तीर्थ कहते हैं। यदि गिरनार से भगवान नेमिनाथ मोक्ष नहीं जाते तो क्या उस पर्वत को तीर्थ नाम मिलता ? यदि महावीर पावापुर से मोक्ष नहीं जाते तो क्या उस स्थान को कोई तीर्थ कहता ? महावीर के कारण वह स्थान तीर्थ कहलाया। महावीर

ने तो मात्रा वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया; इसीलिए उन्हें तीर्थकर कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन ही तीर्थ है।

यदि व्यवहारनय को नहीं मानेंगे तो तीर्थ का लोप हो जायेगा; क्योंकि वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन व्यवहारनय से ही होता है। निश्चयनय तो मौन रहता है। व्यवहारनय की विषयवस्तु का तो व्यवहारनय कथन करता ही है, साथ ही साथ निश्चयनय की विषयवस्तु का भी व्यवहारनय ही प्रतिपादन करता है। इसको माने बिना 'समझने—समझाने' की जो प्रक्रिया है, जो भगवान महावीर से लेकर आज तक विद्यमान है; वह समाप्त हो जायेगी अर्थात् तीर्थ का लोप हो जायेगा।

निश्चयनय को छोड़ देंगे तो तत्त्व का लोप हो जायेगा; क्योंकि जिस व्यवहारनय ने तत्त्व का निरूपण किया; वह तत्त्व जबतक हमें अनुभव में नहीं आता; तबतक सुरक्षित कहाँ है ?

हम कहते हैं कि हमें भगवान महावीर की वाणी की सुरक्षा करनी है। जब भी महावीर की वाणी की सुरक्षा की चर्चा चलती है तो धनवान व्यक्ति कहते हैं कि उनके तत्त्व को संगमरमर के पाटियों पर उत्कीर्ण कराके, दीवालें पर जड़ाकर, परमागम मंदिर बनाकर ही उसकी रक्षा हो सकती है। कोई कहता है कि ताम्रपत्रा पर लिखकर उनको जमीन में गाड़ देने से रक्षा होगी; जिससे वह सभी विपत्तियों से सुरक्षित रह सकेगी। कोई कहता है कि इन्हें प्रकाशित करके सभी के घर में पहुँचा दें तो यह वाणी सुरक्षित रह सकती है। लेकिन क्या दीवालें पर उत्कीर्ण कराने से, ताम्रपत्रा जमीन में गाड़ देने से और छपाकर घर—घर पहुँचा देने से महावीर की वाणी सुरक्षित हो सकेगी ? उत्कीर्ण लेख, ताम्रपत्रा एवं किताबें सुरक्षित रह भी गईं, लेकिन इन्हें पढ़नेवाला कोई नहीं रहा तो ?

आज दो हजार वर्ष पूर्व के कई भाषाओं में लिखे हुए शिलालेख मिलते हैं, यदि इन्हें पढ़नेवाले कोई नहीं हों तो इनमें क्या है ? ये कैसे पता चलेगा ? और अंदाज से पढ़कर, 'शायद इसका यह अर्थ होगा'

इसप्रकार अर्थ निकालें तो उससे कुछ भी लाभ होनेवाला नहीं है; क्योंकि यह तत्त्व की बात है; यहाँ जरा सी भूल से अर्थ का अनर्थ हो सकता है। उस तत्त्व को उस भाषा के विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। इन दीवारों को, ताम्रपत्रों को, किताबों को पढ़ेगा कौन ?

इसप्रकार जड़द्रव्य पर उत्कीर्ण कराने से जिनवाणी की सुरक्षा संभव नहीं है। जिनवाणी की सुरक्षा लोगों के दिमाग में उत्कीर्ण करने पर ही संभव है। भगवान महावीर का तत्त्वज्ञान गौतमस्वामी के मस्तिष्क में उत्कीर्ण हुआ और जो परम्परा से उनके शिष्यों में पहुँचते-पहुँचते आज हमतक पहुँचा है। मस्तिष्क में उत्कीर्ण होते-होते ही यह सुरक्षित रहा है। यदि हमें वास्तव में जिनवाणी की सुरक्षा करना है तो उसे जनमानस पर ही उत्कीर्ण करना होगा।

इसके लिए जिनवाणी का अध्ययन करनेवाले एवं करानेवाले चाहिये; पर इसमें एक समस्या है कि दीवारों और ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराने के लिए तो मात्रा दो वर्ष चाहिए और इतने मात्रा से हजारों वर्ष तक निश्चिन्त हो सकते हैं; लेकिन जिससे जिनवाणी की सच्ची सुरक्षा होगी — ऐसे जीवन्त तीर्थ व्यक्तियों के मस्तिष्क में उत्कीर्ण करने के लिए एक-दो वर्ष नहीं, अपितु पाँच-पाँच वर्ष लग जाते हैं। पाँच वर्ष में भी कोई तत्त्वज्ञ थोड़े ही बनता है। तत्त्व में परिपक्व होने के लिए तो सम्पूर्ण जीवन लग जाता है। तब कहीं उनको विशेषज्ञ मानकर उनकी बात को प्रमाणित माना जाता है। अब जब प्रमाणित परिपक्व विद्वान तैयार होते हैं तो बुढ़ापा आ जाता है, जाने का समय हो जाता है और सम्पूर्ण श्रम पर पानी फिर जाता है।

जैसे दीवारों पर उत्कीर्ण कराने के लिए कारीगर एवं उनको आजीविका देनेवाले की आवश्यकता रहती है; वैसे ही जीवन्ततीर्थ (लोगों के दिमाग) में जिनवाणी उत्कीर्ण करनेवाले गुरु व उनको आजीविका देनेवालों की भी आवश्यकता है।

शिला पर वाणी उत्कीर्ण करने के लिए समय व कारीगर दोनों कम लगते हैं और वह हजारों वर्ष तक उत्कीर्ण भी रह सकता है;

लेकिन चेतन के मस्तिष्क में उत्कीर्ण वाणी सीमित समय तक ही रहती है एवं इसमें परिश्रम भी अधिक लगता है। अगले भव में जातिस्मरण कितने व्यक्तियों को होगा, बहुतों को तो मृत्यु के पूर्व ही विस्मरण हो जाता है। यद्यपि यह बहुत परिश्रम का कार्य है; फिर भी इसके बिना जिनवाणी की सुरक्षा संभव नहीं है।

जीवन्त तीर्थप्रवर्तन का कार्य सरल नहीं है। ताम्रपत्र एक जगह गाड़ दें तो चलेगा; लेकिन इसे गाँव-गाँव में हजारों लोगों के दिमाग में खुदवाना होगा, तब कहीं दस-पाँच लोगों के दिमाग में मुश्किल से खुदेगा, इस पर भी वे जिन्दा रहें और वे अन्य लोगों के दिमाग में जिनवाणी उत्कीर्ण करें, तब कहीं जिनवाणी सुरक्षित रह सकती है। यदि जिनवाणी समझकर भी धंधे-पानी के प्रपंच में पड़ गये तो उनमें जिनवाणी उत्कीर्ण करना व्यर्थ ही रहा।

यह वर्तमान की अत्यंत ज्वलंत समस्या है। यह कोई विषय से पृथक विश्लेषण नहीं है; अपितु आज के परिप्रेक्ष्य में तीर्थ-प्रवर्तन की वास्तविक व्याख्या है। आत्मकल्याण एवं तीर्थसुरक्षा के लिए यह बात प्रत्येक को समझना अत्यंत आवश्यक है।

इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं कि जिसप्रकार क्रिकेट टीम क्रिकेट खेलने जाती है तो उसमें ग्यारह खिलाड़ी होते हैं। यदि अच्छी क्रिकेट टीम तैयार करनी है तो ग्यारह आदमी को निष्णात करने मात्रा से काम नहीं चलेगा, उसके लिए सारे देश में, गाँव-गाँव में क्रिकेट का बुखार चढ़े, दो वर्ष का बालक भी मनोरंजन कक्ष में क्रिकेट खेले — ऐसा वातावरण बने; तब कहीं उसमें से ग्यारह खिलाड़ी विश्व स्तर पर खेलने योग्य तैयार होते हैं।

लाखों लोग घण्टों क्रिकेट खेलते हैं; तब कहीं जाकर ग्यारह व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जिन्हें खिलाड़ी के रूप में हम विश्वस्तर पर प्रस्तुत कर सकते हैं और इतना करने पर भी जीतने के अवसर बहुत कम होते हैं। इससे यह अर्थ निष्पन्न होता है कि लाखों लोगों को अवसर देते-देते उसमें से एक-दो तेंदुलकर, कपिलदेव और गावस्कर

जैसे प्रतिभावान खिलाड़ी मिलते हैं। हम एक को ही निष्णात करें और वह पूर्णरूप से निष्णात हो जावे — यह बहुत ही दुर्लभ है; अतः क्रिकेट को यदि चलाना है तो उसे गाँव-गाँव में बच्चे-बच्चे के मस्तिष्क में उत्कीर्ण कराना होगा; तभी क्रिकेट चलेगी।

इसी भाँति जब गाँव-गाँव में बच्चे-बच्चे के दिमाग में यह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का, तत्त्व प्रतिपादन का, तीर्थप्रवर्तन के क्रिकेट का बुखार चढ़ेगा, हर गाँव की पाठशाला में इस तत्त्व का प्रचार चलेगा, तब कहीं उसमें से दस-पाँच व्यक्ति ऐसे प्रतिभावान मिल सकते हैं जो पूरे देश में जिनवाणी माता को आगे बढ़ायें।

आज क्रिकेट के क्षेत्रा के 10-20 प्रतिभावान खिलाड़ियों के नाम सहज ही लिए जा सकते हैं; लेकिन तत्त्वप्रचार के इस मैदान के लोगों के नाम तो अंगुलियों पर गिनने के लायक भी नहीं हैं। आज तत्त्वप्रचार के इस मैदान में प्रतिभावानों की स्थिति कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास जैसी हो गई है। कहा है —

पुरा कवीनां गणना प्रसंगे, कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः।

अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात्, अनामिका सार्थवती बभूव।।

अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, और कनिष्ठा — ये पाँच अंगुलियों के नाम हैं। सबसे छोटी कनिष्ठा, मध्य में रहनेवाली मध्यमा, धमकी देने के काम में आनेवाली तर्जनी और सबसे अधिक बलिष्ठ है; इसलिए अंगुष्ठ है। अब मध्यमा और कनिष्ठा के मध्य एक अंगुली शेष रहती है, जिसका कोई नाम नहीं है। यह किसी काम की नहीं है, इसलिए इसका नाम रख दिया गया 'अनामिका'।

जिसप्रकार बच्चे खेल-खेल में एक-एक अंगुली पर मम्मी, पापा, गुड्डा, गुड्डी आदि को रख देते हैं; वैसे ही प्राचीन समय में जब कवियों की गिनती हुई तो सर्वप्रथम सबसे छोटी कनिष्ठा अंगुली पर कालिदास को बिठाया गया। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अगली अंगुली पर किस कवि को बिठाया जाय। कालिदास से कोई बड़ा कवि हो तो उसे इस पर बिठाया जा सकता है।

37

आजतक संस्कृत साहित्य में कालिदास से बड़ा तो छोड़ो कालिदास के बराबरी का भी कोई कवि नहीं हुआ; इसलिए यह गिनती यहीं खत्म हो गई। सबसे छोटी अंगुली कनिष्ठा पर तो कालिदास बैठे हुए हैं, अब इसकी अगली अंगुली पर बैठनेवाला कोई है ही नहीं; इसलिए इसका 'अनामिका' यह नाम सार्थक हो गया।

कालिदास कवि के समान आजतक कोई कवि नहीं हुआ है, अंगुली पर गिनने लायक एकमात्रा वे ही हैं। ऐसे ही जैनतत्त्वज्ञान के विशेषज्ञ, ज्ञानी, आत्मानुभवी; जो भगवान महावीर की वाणी को लोगों के मस्तिष्क में उत्कीर्ण कर सकें — ऐसे लोगों की यदि गिनती करने जायें और किसी एक को भी कनिष्ठा पर बिठा दिया जाय तो अनामिका सार्थवती हो जाएगी; लेकिन वर्तमान में जैसा कि कहा जाता है कि 'अंगुलियों पर गिननेलायक भी लोग नहीं मिलेंगे।' इसका अर्थ यह है कि पाँचों अंगुलियों पर बिठाने योग्य पाँच व्यक्ति भी नहीं मिलेंगे। इससे तीर्थ-प्रवर्तन में प्रतिभा की कमी को हम समझ सकते हैं।

अतः जिनवाणी को आत्मा के कल्याण के लिए तो प्रत्येक को समझना जरूरी है ही; साथ ही साथ भगवान महावीर की वाणी, समयसार का सार, वस्तुस्वरूप अपने मूलरूप में सुरक्षित रहे; इसके लिए भी एक-एक गाँव में इसकी चर्चा आवश्यक है, तब इसकी सुरक्षा संभव होगी। जबतक विशेषज्ञ तैयार नहीं होंगे, तबतक जिनवाणी जमीन में ही गड़ी रह जाएगी, पुस्तकों में ही छपी रह जाएगी, दीवालों पर उत्कीर्ण होकर दीवालों की शोभा बढ़ायेगी; पर वास्तविक तीर्थप्रवर्तन नहीं होगा।

यह तीर्थप्रवर्तन व्यवहार से ही होगा; क्योंकि पठन-पाठन का कार्य व्यवहार में ही सम्भव है। निश्चयनय से तो कोई किसी को समझा ही नहीं सकता है, निश्चयनय से तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्ता ही नहीं है। अतः यह कार्य व्यवहार से ही संभव होगा।

प्रतिपादन करने का कार्य व्यवहार का ही है; अतः यदि व्यवहारनय को छोड़ देंगे तो एकेण विणा छिज्जई तित्थं तीर्थ का ही लोप हो जाएगा।

यदि हम निश्चयनय को नहीं मानेंगे तो अण्णेण पुण तच्चं तत्त्व का ही लोप हो जाएगा।

निश्चयनय कहता है कि सारे विकल्प छोड़ दो, यह विकल्प भी छोड़ दो कि इस तत्त्व को कोई नहीं जानेगा तो क्या होगा? ये सारे विकल्प छोड़कर तुम निर्विकल्प हो जाओ, तभी निश्चय के आश्रय से अंतर में भगवान आत्मा की अनुभूति होगी।

वचनातीत, विकल्पातीत, नयातीत, पक्षातीत — ऐसा जो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा है, वह निश्चयनय का विषय है। यदि इसे (निश्चयनय को) छोड़ देंगे तो तत्त्व का ही लोप हो जाएगा। तत्त्व मात्रा वाणी में ही रह जाएगा। यदि हम निश्चयनय को नहीं मानेंगे तो तत्त्व मात्रा जुबानी जमा-खर्च रह जायेगा, वह अंतर की वस्तु नहीं बनेगा।

यदि हम किसी से पूछें कि क्या आपने ज्ञानावरणादि आठ कर्म देखे हैं? तब वह चुप रहता है। यदि उत्तर भी देता है तो वह व्यक्ति कहता है 'हाँ, मैंने देखे हैं।' यदि उससे पूछा जाय कि कहाँ देखे हैं तो कहता है कि 'गोम्मटसार' ग्रन्थ में देखे हैं।

अरे भाई! आज के पण्डित ऐसे ही पण्डित हैं, जिन्होंने कर्म गोम्मटसार और आत्मा समयसार ग्रन्थ में देखा है। न आत्मा का अनुभव किया है और न ही कर्मों का। यदि हम अनुभव की वस्तु नहीं बनायेंगे तो ये मात्रा शास्त्रों में, हमारे कंठों में या वाणी में ही रह जाएगा।

जबतक आत्मा हमारे ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनेगा तो उस तत्त्व का लोप हो जाएगा। यही कारण है कि आचार्यदेव ने कहा है कि —

एककेण विणा छिज्जई तित्थं, अण्णेण पुण तच्चं।

एक के बिना तीर्थ का लोप हो जाएगा और दूसरे के बिना तत्त्व का लोप हो जाएगा। अतः निश्चय और व्यवहार में से एक को भी मत छोड़ो — ऐसा आचार्य कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में अपनी तरफ से अन्यत्रा कहीं भी कोई उद्धरण नहीं दिया है, जितने भी छन्द

लिखे हैं, जितना भी गद्य लिखा है, वह सब अपनी तरफ से ही लिखा है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी सम्पूर्ण आत्मख्याति टीका में एकमात्रा इस गाथा को ही उद्धृत किया है। इससे हम यह समझ सकते हैं कि उनकी दृष्टि में यह गाथा कितनी महत्त्वपूर्ण है, जिसकारण उसे आत्मख्याति में स्थान मिला।

गोम्मटसार ग्रन्थ को आगम एवं समयसार ग्रन्थ को परमागम क्यों कहा जाता है?

सर्वज्ञकथित द्रव्यों का प्रतिपादन जिसमें हो; उसे आगम कहते हैं। 8 कर्म और उनकी 148 कर्मप्रकृतियाँ जो सर्वज्ञ ने देखी हैं और उनसे सुनकर आचार्यों ने, ज्ञानियों ने शास्त्रों में लिखा है, वह आगम है। उन्होंने भी अनुभव में उन्हें नहीं देखा है; जो पूर्व आचार्य-परम्परा से सुनकर-पढ़कर जानते आये हैं, वही लिखा है।

जिसमें परमतत्त्व का, सर्वश्रेष्ठ तत्त्व का प्रतिपादन हो; वह परमागम है। यह परमागम की बात मात्र सुनी-सुनाई या पढ़ी-पढ़ाई बात नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभूत बात है। इसमें परमतत्त्व आत्मा का प्रतिपादन होने से यह परमागम है।

परमशुद्धनिश्चयनय का विषय होने से हमारा आत्मा ही परमतत्त्व है, परमार्थ है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है; क्योंकि हमारा कल्याण हमारे आत्मा के आश्रय से ही होगा। यह समयसार उसी भगवान आत्मा का प्रतिपादक ग्रन्थ है; अतः यह परमागम है, ग्रन्थाधिराज है।

व्यवहारनय के चार भेद हमें सम्पूर्ण लोकाकाश से भगवान आत्मा तक पहुँचानेवाले हैं; अतः ये उपादेय हैं; परन्तु यदि इनके ही विकल्प में उलझे रहे तो भगवान आत्मा हमें प्राप्त नहीं होगा। अतः व्यवहारनय के विकल्पों को छोड़ना अत्यंत आवश्यक है। यही कारण है कि इन चार प्रकार के व्यवहारनय को असत्यार्थ, अभूतार्थ, हेय एवं त्याज्य कहा है।

इसप्रकार समयसार ग्रन्थ निश्चय-व्यवहारनयों की शैली में निबद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द विरचित जो पंचपरमागम हैं; उनमें समयसार

एवं नियमसार निश्चय-व्यवहार नयों की शैली में निबद्ध हैं तथा पंचास्तिकाय व प्रवचनसार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों की शैली में निबद्ध हैं। यह कथन मुख्यता और गौणता की अपेक्षा ही है।

पंचास्तिकाय एवं प्रवचनसार में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों की मुख्यता है और निश्चय-व्यवहार गौणरूप से आये हैं। ऐसे ही समयसार एवं नियमसार ग्रन्थ में निश्चय-व्यवहारनयों की मुख्यता है; वहाँ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय गौण रहते हैं।

अष्टपाहुड़ प्रशासनिक ग्रन्थ है; अतः उसमें नय-प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं है। अध्यापक किसी विद्यार्थी को खड़े रहने के लिए आदेश दे तो इसमें किस नय से खड़ा होना चाहिए — इसप्रकार का प्रश्न अनुचित है। ऐसे ही अष्टपाहुड़ में जहाँ मुनियों के आचरण का वर्णन है, उसमें नयों की आवश्यकता नहीं है। यह मुनियों के आचरण के नियमों का ग्रन्थ है।

समयसार निश्चय-व्यवहारनयों की शैली में निबद्ध होने से यदि हमने निश्चय-व्यवहार नयों को नहीं समझा तो समयसार हमारी समझ में नहीं आयेगा।

पुत्रा को अपनी माँ से बात करनी हो और दुभाषिये की जरूरत पड़े तो सोचो वह पुत्रा कितना भाग्यवान होगा ? कम से कम पुत्रा को माँ की भाषा तो आनी ही चाहिए। जिनवाणी हमारी माता है, यदि हमें उसकी बात समझना है तो उसकी भाषा को भी समझना चाहिए। हम सब कैसे अभागे हैं कि हमें जिनवाणी माता को समझने के लिए पण्डित की जरूरत पड़ती है। जिनवाणी माता को सुनने के लिए पण्डित की जरूरत है, जिनवाणी माता को पढ़ने के लिए भी पण्डित की जरूरत है। हम जिनवाणी माता के सीधे सम्पर्क में रहें — इसके लिए जिनवाणी जिस भाषा में लिखी गई है, वह भाषा अवश्य सीखनी चाहिए।

जिनका अल्पजीवन शेष है, यदि वे व्याकरण और भाषा सीखने में समय व्यर्थ नहीं गंवाना चाहते हैं तो कोई बात नहीं; पर जिनका जीवन

लम्बा है — ऐसी युवा पीढ़ी को तो जिनवाणी की भाषा अवश्य ही सीखनी चाहिए।

भाषा और शैली इन दोनों में बहुत अन्तर है। संस्कृत और प्राकृत भाषा हैं एवं निश्चय और व्यवहार शैली हैं।

प्रत्येक पुत्रा अपनी माता की शैली को समझता है। यदि वह इसे नहीं समझे तो वह उसके भाव को नहीं समझ सकता।

बच्चा रात को 9 बजे घर लौटता है और वह घर के दरवाजे की घंटी बजाता है तो माँ पूछती है ? — 'कौन ?' बच्चा कहता है कि 'मैं हूँ'। तब उसकी माँ पूछती है कि इतनी देर से कहाँ थे ? जब बच्चा कहता है कि 'सिनेमा'। तब माँ तपाक से बोलती है कि सिनेमा गया था। जा ! अब दूसरा शो भी देखकर आना; तब बच्चा थोड़ा सहम जाता है और कहता है — नहीं, नहीं; फिर कभी ऐसी गलती नहीं करूँगा, आज दरवाजा खोल दो।

तब माँ कहती है — मैं कहाँ कह रही हूँ कि तुमने गलती की है, जा-जा दूसरा शो भी देख आ और वहीं सिनेमा में ही सो जाना।

इसके पश्चात बच्चा माफी मांगते हुए कहता है कि नहीं, मैं दुबारा नहीं जाऊँगा। मुझे माफ कर दो माँ।

माँ कहती है कि मैं माफी मांगने के लिए कब कह रही हूँ ?

क्या ऐसे समय में बेटा यह समझता है कि आज तो माँ बहुत खुश है और वह दूसरा शो भी देखने के लिए कह रही है। यदि ऐसा समझता तो कहता कि मम्मी मेरे पास दूसरा शो देखने के लिए पैसे नहीं हैं, पैसे दे दो।

ऐसे समय में वह जानता है कि भले ही मम्मी दूसरा शो देखने के लिए कह रही है; लेकिन यह बात माँ नाराजी में बोल रही है। वह माता की शैली को समझता है। वह जानता है कि बिना पूछे सिनेमा जाने के कारण ही माँ डाट रही है।

यदि वह पुत्रा यह नहीं समझे कि माँ व्यंग्य कर रही है तो वह माँ के हृदय को नहीं समझ सकता; उसीप्रकार जबतक हम जिनवाणी

की शैली को नहीं समझें, तबतक जिनवाणी माता के हृदय को नहीं समझ सकते हैं, उसके हार्द को नहीं ग्रहण कर सकते हैं।

समयसार प्राकृत भाषा में है और संस्कृत भाषा में उसकी टीकायें लिखी गईं। हिन्दी में भी उसकी टीकायें उपलब्ध हैं; अतः आज भाषा की तो कोई समस्या नहीं है। आज हम जो भी भाषा जानते हैं, उस भाषा में उसकी टीकायें उपलब्ध हैं; लेकिन शैली तो हमें समझनी ही पड़ेगी।

निश्चय—व्यवहारनय की शैली में समयसार निबद्ध है; अतः निश्चय—व्यवहार को समझना बहुत जरूरी है। यही कारण है कि यहाँ प्रसंगप्राप्त निश्चय—व्यवहारनयों की चर्चा की है। जो इस प्रकरण को अच्छी तरह समझ लेगा, उसे समयसार की विषय—वस्तु सरलता से समझ में आएगी।

इस जीवाजीवाधिकार में आचार्य कह रहे हैं कि व्यवहारनय से जो 29 प्रकार के भाव जीव के कहें हैं, उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

(1) वर्णादिभाव (2) रागादिभाव

वर्णादिभाव अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला पुद्गलद्रव्य। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य—ये सभी परपदार्थ एवं रागादिभाव अर्थात् आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह—राग—द्वेष के विकारी परिणाम। ये सब वर्णादि एवं रागादिभावों के अंतर्गत आते हैं। इनसे हमने चार प्रकार के संबंध स्थापित कर रखे हैं।

(1) अहंबुद्धि अथवा एकत्वबुद्धि

(2) ममत्वबुद्धि अथवा स्वामित्वबुद्धि

(3) कर्तृत्वबुद्धि

(4) भोक्तृत्वबुद्धि

इन 29 प्रकार के वर्णादि और रागादि भावों में 'ये मैं हूँ' — ऐसी मान्यता का नाम है अहंबुद्धि—एकत्वबुद्धि और 'ये मेरे हैं' अथवा मैं इनका स्वामी हूँ — ऐसी प्रतीति, विश्वास और जानना ममत्वबुद्धि है।

29 प्रकार के वर्णादि एवं रागादिभावों का 'मैं कर्ता हूँ'— ऐसा मानना कर्तृत्वबुद्धि है। 29 प्रकार के वर्णादि एवं रागादिभावों का

'मैं भोक्ता हूँ' — ऐसा मानना ही भोक्तृत्वबुद्धि है।

इसप्रकार इन चार प्रकार के संबंधों को जिनवाणी में व्यवहारनयों से मान्यता प्रदान की गई है।

40

'ये मैं हूँ' और 'ये मेरे हैं' ये दो प्रकार की बुद्धियाँ, दो प्रकार के व्यवहारनय का निरूपण हैं; इनका निषेध करने के लिए यह जीवाजीवाधिकार लिखा गया है।

'मैं इनका कर्ता हूँ और मैं इनका भोक्ता हूँ' — ऐसा कहनेवाले व्यवहारनय अथवा कर्तृत्व—भोक्तृत्वबुद्धि का निषेध करने के लिए कर्ता—कर्म अधिकार लिखा गया है।

इसतरह इन परपदार्थों एवं आत्मा के मध्य भेद—विज्ञान की रेखा खींचने का कार्य जीवाजीवाधिकार और कर्ताकर्मधिकार में किया गया है। जिसमें जीवाजीवाधिकार की 68 और कर्ता—कर्म अधिकार की 75 गाथाएँ सम्मिलित हैं; इसप्रकार 1 से 144 गाथा तक चार प्रकार से जो हम वर्णादि व रागादि से संबंध स्थापित करते हैं; उसका निषेध करके उनसे भेदविज्ञान कराया गया है। यही समयसार के प्रतिपादन का मूल केन्द्रबिन्दु है।

सम्पूर्ण विश्व को दो भागों में विभाजित करना है। एक तरफ पर से भिन्न, राग से भिन्न त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा और दूसरी तरफ अपने भगवान आत्मा को छोड़कर संपूर्ण विश्व, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल — इन पाँच द्रव्यों के साथ—साथ सिद्ध भगवान आदि परजीव भी पर में ही आ जाते हैं।

क्रिकेट के खेल में दो पार्टियाँ होती हैं और प्रत्येक टीम में 11—11 खिलाड़ी होते हैं; लेकिन जब खेल शुरू होता है, तब एक तरफ एक खिलाड़ी होता है और दूसरी ओर उस पर आक्रमण करनेवाले 11 खिलाड़ी होते हैं। 11 खिलाड़ी एकसाथ मिलकर एक खिलाड़ी को आउट करने के लिए प्रयासरत रहते हैं। दो बल्लेबाजों में दूसरा बल्लेबाज तो शान्त रहता है। जब पहला मैदान छोड़कर भागता है, तब मैदान सम्भालने के लिए वह दौड़ता है। इसलिए मुकाबला तो

एक का ग्यारह खिलाड़ियों के साथ ही चलता है। आक्रमण को तो मात्रा एक ही बल्लेबाज झेलता है।

जैसे क्रिकेट में एक तरफ एक और दूसरी तरफ ग्यारह खिलाड़ी होते हैं; वैसे ही यहाँ एक तरफ हमारा भगवान आत्मा और दूसरी तरफ बाकी के छह द्रव्य। बाकी के छह द्रव्य हैं, न कि पाँचद्रव्य; क्योंकि अपने जीव को छोड़कर शेष जीव भी तो उनमें ही हैं। यहाँ एक तरफ एक और दूसरी तरफ छह नहीं, छह प्रकार के अनन्त द्रव्य। छह तो द्रव्य के प्रकार हैं — वैसे तो वे द्रव्य अनन्त हैं। इसप्रकार दूसरी पार्टी की तरफ अनन्त द्रव्य आते हैं और पहली पार्टी की तरफ अपना मात्रा एक आत्मा।

जैसे क्रिकेट में एक का मुकाबला ग्यारह खिलाड़ियों से होते हुए भी उसमें शतक लगाए जाते हैं, वह एक खिलाड़ी बाकी के ग्यारह खिलाड़ियों के लिए भारी पड़ता है; वैसे ही हमारी दृष्टि के तराजु में वह पलड़ा भारी लगना चाहिए; जिसमें हमारा आत्मा स्थापित है। दूसरे में, सिद्ध भगवान सहित अनन्त जीव व पाँच प्रकार के अनन्त अजीव द्रव्य स्थापित हैं, वह पलड़ा ऊँचा उठ जाना चाहिए। उस पक्ष को हार जाना चाहिए और आत्मा के पक्ष की महिमा हमारी दृष्टि में अधिक होनी चाहिए।

हमारी दृष्टि में, सम्पूर्ण विश्व से हमारा आत्मा हमें अधिक महिमावंत लगे — यही समयसार का कार्य है। सारे जगत से दृष्टि हटाकर हमें दृष्टि स्वात्मा पर केन्द्रित करनी है; इसलिए यदि हमारी दृष्टि में हमारा आत्मा महिमावंत नहीं लगे तो सारे जगत से हमारी दृष्टि कभी भी परावृत्त नहीं हो सकती है।

हमारी दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व से अधिक महिमा हमारे भगवान आत्मा की होनी चाहिए। ऐसा चुनाव हो, जिसमें एक ओर हमारा भगवान आत्मा हो और दूसरी ओर अनन्त भगवान आत्मा सहित छह द्रव्य हों तो भी हमें हमारे भगवान आत्मा की इतनी महिमा होनी चाहिए कि हम हमारे भगवान आत्मा को ही चुनें।

यदि एक तरफ हम चुनाव में खड़े हों और दूसरी तरफ अटल

बिहारी वाजपेयी जैसे दिग्गज खड़े हों तो भी कम से कम हमारा एक वोट तो हमारे लिए होना ही चाहिए।

41 इसी भाँति हमारी दृष्टि में 'मेरा आत्मा' ही सबसे महत्त्वपूर्ण लगना चाहिए; क्योंकि उसी की आराधना से मुझे सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्य की प्राप्ति होगी, अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होगी, उसकी दृष्टि रही तो ही मुझे सुख मिलेगा। सारी दुनियाँ पर दृष्टि जाने से मुझे मेरा सुख मिलनेवाला नहीं है।

इतना वजन यदि हमारी आत्मा के प्रति हमारी दृष्टि में नहीं आए तो सारे जगत से दृष्टि हटकर आत्मा पर कैसे केन्द्रित होगी? इसे हम निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट समझ सकते हैं —

जैसे सती की दृष्टि में एक पति ही पुरुष है; बाकी सब नपुंसक ही हैं — यह कोई अस्पताल में चेक—अप कराने की बात नहीं है, अपितु सती की दृष्टि की विशेषता है, पुरुष के रूप में उसका पति ही उसके लिए एकमात्र पुरुष है। पौरुषसंपन्न होने पर भी अन्य पुरुष उसके किस काम के? उसे जो पुत्रा की प्राप्ति होगी, वह तो अपने ही पति से होगी; दुनियाँ के किसी अन्य पुरुष से नहीं; क्योंकि वह सती है। अन्य पुरुष के पौरुष से उसे क्या लेना—देना?

इसी भाँति अपना कल्याण, अपने आत्मा के अनुभव से, दर्शन से, ज्ञान से ही होगा। अरहन्त भगवान के आत्मा के अनुभव से, ज्ञान से, दर्शन से हमारे आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं होनेवाला है।

अधिक क्या कहें — उनके आत्मा का प्रत्यक्षज्ञान और ध्यान हमें ही नहीं सकता। एकमात्र हमारे आत्मा के ही दर्शन हो सकते हैं; परात्मा के प्रत्यक्षदर्शन तो केवलज्ञान होने के बाद ही होते हैं। अन्य आत्मा में भी मेरे आत्मा जैसे अनन्त गुण हैं — ये मात्रा शास्त्रा में पढ़कर, सुनकर ही जाना जा सकता है।

ये शास्त्रा में पढ़कर ही हमने जाना है कि भगवान महावीर केवलज्ञानी थे, अनुभव से नहीं। अनुभव में तो एकमात्र अपना आत्मा ही आता है। अपना आत्मा ही मात्र देखी हुई अनुभूत वस्तु है; शेष सब

अनन्त परमात्मा, सुमेरुपर्वत, पाँच द्रव्य सभी वस्तुएँ शास्त्रों से पढ़ कर ही जानी गई हैं।

सती तो अन्य पुरुषों के पौरुष को जानती भी नहीं, वह तो सिर्फ पति के पौरुष को ही जानती है; क्योंकि वह उसके द्वारा अनुभूत है। इसीभाँति हमारा आत्मा ही हमारे लिए अनुभव की वस्तु है, शेष सब पढ़ी-सुनी हुई बातें हैं। अन्य सब वस्तुएँ जिनागम से समझी हुई हैं, अनुभूत नहीं हैं।

अन्य वस्तुओं का अनुभव भी सम्भव नहीं है; इसलिए जिसप्रकार सती की दृष्टि में एक पति ही पुरुष है और कोई पुरुष ही नहीं; उसी भाँति आत्मार्थी की दृष्टि में निज भगवान आत्मा ही आत्मा है और कोई आत्मा ही नहीं। ऐसी महिमा हमें हमारे आत्मा के प्रति होनी चाहिए।

जैसे सती की दृष्टि में अपने पति की ही महिमा है; उसकी दृष्टि में सारी दुनियाँ के पुरुष मात्रा देखने-जानने के लिए हैं। वहाँ उसकी दृष्टि रमती नहीं है, जमती नहीं है; सर्वस्व समर्पण भी नहीं करती है। उसका सर्वस्व समर्पण निज पति में ही होता है।

ऐसे ही आत्मार्थी की दृष्टि पर को जानती है, देखती है; पर उनमें जमती-रमती नहीं है, उनके प्रति सर्वस्व समर्पण भी नहीं होता है।

आत्मार्थी का सर्वस्व समर्पण तो निज भगवान आत्मा के प्रति ही होता है।

समयसार ऐसे ही निज भगवान आत्मा का प्रतिपादक ग्रन्थ है। देहदेवल में विराजमान, पर देह से भिन्न भगवान आत्मा ही समयसार का मूल प्रतिपाद्य है। कहा भी है —

देह जुदा आतम जुदा, यही तत्त्व का सार।

बाकी जो कुछ और है, याही को विस्तार।।

मात्रा देह ही नहीं; अपितु बाकी सभी पदार्थ और आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि परिणामों के प्रतिनिधि के रूप में यहाँ देह शब्द आया है।

इसप्रकार समस्त परपदार्थों से भिन्न एकमात्रा निज आत्मा ही तत्त्व का सार है।

छठवाँ प्रवचन

42

अभीतक हमने समयसार परमागम के जीवाजीवाधिकार के सारांश को समझा, जिसमें 29 प्रकार के वर्णादि और रागादिभावों में 'ये मैं हूँ' और 'ये मेरे हैं' ऐसी एकत्व और ममत्वबुद्धि का निषेध किया गया है। आगे कर्त्ता-कर्म अधिकार में 29 प्रकार के भावों में 'मैं इनका कर्त्ता हूँ' और 'मैं इनका भोक्ता हूँ' — इसका निषेध किया जायगा।

अज्ञानी की परिभाषा जीवाजीवाधिकार की 19वीं गाथा में और ज्ञानी की परिभाषा कर्त्ता-कर्म अधिकार के 75वीं गाथा में दी है; वे दोनों गाथाएँ इसप्रकार हैं —

कम्मे णोकम्महि य अहमिदि, अहकं च कम्म णोकम्मं।

जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।19।।

कम्मस्स य परिणामं, नोकम्मस्स य तहेव परिणामं।

ण करेइ एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।।75।।

(हरिगीत)

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी।

यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि हैं तबतक सभी॥१९॥

करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को।

जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हों सदज्ञान को॥७५॥

कर्म अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्म तथा नोकर्म अर्थात् शरीरादि — इसप्रकार कर्म और नोकर्म अर्थात् 29 प्रकार के वर्णादि और रागादिभावों में जबतक 'ये मैं हूँ' 'ये मेरे हैं' अथवा 'मैं इनका हूँ' — ऐसी बुद्धि रहती है; तबतक आत्मा अज्ञानी रहता है। इसी को 20, 21, 22, वीं गाथा में और अधिक विस्तार से समझाया है। यहाँ एकत्व एवं ममत्वबुद्धि के निषेध पर अधिक जोर दिया है।

'ये मेरे हैं'; इससे उल्टा 'मैं कर्म का हूँ' — ये दोनों ममत्वबुद्धि हैं। ऐसे ही चाहे 'कर्म में अहंबुद्धि करें' या 'अपने में कर्मबुद्धि करें' — ये

दोनों अहंबुद्धि ही हैं और जबतक ऐसा रहता है, तबतक यह जीव अज्ञानी रहता है।

यहाँ यह नहीं कहा गया कि जबतक इनका कर्ता स्वयं को मानता है; तबतक अज्ञानी रहता है। इससे सिद्ध है कि जीवाजीवाधिकार अहंबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि का निषेध करने के लिए ही लिखा गया है।

कर्ताकर्माधिकार में यह नहीं कहा कि कर्म और नोकर्म के परिणाम में जो अहंबुद्धि करता है, उन्हें अपना मानता है; वह अज्ञानी है; बल्कि यह कहा गया है कि कर्म और नोकर्म के परिणाम का जो कर्ता स्वयं बनता है; वह अज्ञानी है और जो कर्ता नहीं बनता है; उन परिणामों को नहीं करता; मात्रा जानता है, वह ज्ञानी है। कर्ताकर्माधिकार में कर्तृत्वसंबंधी और भोक्तृत्वसंबंधी भूल दूर की जाती है; इसीलिए यहाँ ज्ञानी की चर्चा करते समय कर्तृत्व की बात की है तथा जीवाजीवाधिकार में अज्ञानी की चर्चा करते समय एकत्व-ममत्वबुद्धि की बात की है।

यदि यह अंतर नहीं होता तो जिसप्रकार आचार्यदेव ने जीवा-जीवाधिकार में कहा कि 'ये मेरे हैं' और 'मैं इनका हूँ' — ऐसा माननेवाला अज्ञानी है, ऐसे ही कर्ताकर्माधिकार में कह देते कि 'ये मेरे हैं' 'मैं इनका हूँ' — ऐसा नहीं माननेवाला ज्ञानी है; लेकिन यहाँ आचार्यश्री ने ऐसा नहीं लिखा।

ऐसा करने में महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि जिन्से भिन्न आत्मा को जानना है, वे 29 प्रकार के भाव; जिन्हें वर्णादि और रागादि में विभाजित किया गया है; जीवाजीवाधिकार में उनसे एकत्व-ममत्वबुद्धि को तोड़ा है और कर्ताकर्माधिकार में उनसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि को तोड़ा है।

ऐसा इसलिए किया कि इस जगत् में परपदार्थों से अपना संबंध जोड़ने की विधि में ये चार प्रकार होते हैं या तो वह यह कहता है कि 'ये मेरे हैं' या 'ये मैं ही हूँ' या फिर यह कहता है कि मैं इनका कर्ता हूँ या मैं इनका भोक्ता हूँ।

इस मान्यता पर प्रहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि वस्तुस्थिति तो यह है कि निश्चयनय से —

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।

अर्थात् परद्रव्य में और आत्मा में सभीप्रकार के संबंध नहीं हैं। इसकी विस्तृत चर्चा 200वें कलश में आगे आएगी।

43

'ये मेरा स्व है' और 'मैं इसका स्वामी हूँ' — यह है स्व-स्वामी संबंध अथवा स्वामित्वबुद्धि। ये मेरा कार्य है और मैं इसका कर्ता हूँ — यह है कर्ता-कर्म संबंध। 'ये मेरा भोग्य है' और 'मैं इसका भोक्ता हूँ' — यह है भोक्ता-भोग्य संबंध।

अहंबुद्धि में कोई संबंध की बात नहीं है। यह तो यह कहता है कि 'ये ही मैं हूँ।' यह इन तीन प्रकार के संबंधों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं।

'यह मेरा बेटा है' और 'यह मेरा बेटा नहीं, यह मैं ही हूँ' — ऐसा समझना। इन वाक्यों में कितना अंतर है।

क्या अपने बेटे में ही 'यह मैं हूँ' — ऐसा कोई कहता होगा, ऐसा कोई मानता होगा? व्यर्थ में ही इसे यहाँ क्यों स्थान दिया गया। स्पष्ट रूप से तो ऐसा कोई नहीं कहता है; लेकिन परोक्षरूप से ऐसा कहते हैं।

जैसे किसी की शादी में किसी को बुलाया जाता है; तब वह कहता है कि 'आपके यहाँ शादी में जरूर आऊँगा, यदि मैं नहीं आ पाया तो मेरे पुत्रा को भेज दूँगा।'।

तब आमन्त्राणकर्ता आग्रह करते हुए कहता है — 'नहीं-नहीं साब ! आपके पुत्रा तो आएँगे ही; लेकिन आपका आना बहुत जरूरी है। आप पधारेंगे तो शोभा होगी।'।

यह सभ्य भाषा है, यहाँ आमन्त्राणकर्ता यह नहीं कहता कि उसे मत भेजना, लेकिन यह कहता है कि आपको तो आना ही है। आप पधारेंगे तो शोभा होगी। इसका अर्थ यह है कि पुत्रा के पधारने से शोभा नहीं होगी, उसके आने से आपकी हाजिरी नहीं लगेगी। इस पर वह कहता है कि 'मेरा पुत्रा आयेगा तो तुम यही समझना कि मैं ही आया हूँ।'।

इसतरह प्रत्यक्षरूप से भले ही एकत्वबुद्धि न करे; लेकिन परोक्षरूप से तो एकत्वबुद्धि प्रगट करते ही हैं।

पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अध्याय में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'पुत्रादिक में ये हैं सो मैं ही हूँ।' ऐसी भी कदाचित् भ्रमबुद्धि होती है। इसी में आगे कहते हैं कि — 'पुत्रादिक रहेंगे तो मैं ही रहूँगा — इसप्रकार पागल की भाँति बकता है, कुछ सावधानी नहीं है।'

मेरा बेटा रहा तो मैं रहा — ऐसा मानता है। इसप्रकार यदि संतान नहीं होगी तो मेरे वंश का अर्थात् मेरा नाश हो जाएगा — ऐसा समझता है और यदि संतान है तो मर जाने के पश्चात् भी मेरा नाश नहीं होगा — ऐसा मानता है।

अपने पुत्रा में स्वयं का अस्तित्व मानना ही एकत्वबुद्धि है।

यदि संतान है तो मैं बहुत कालतक जीवित रहूँगा; पुत्र, पौत्र के रूप में जीवित रहूँगा — ऐसा मानता है और यदि संतान नहीं है तो आँखें बंद हुईं और मेरा नाश हुआ — ऐसा मानता है; यह है पुत्र में एकत्वबुद्धि।

इसप्रकार एकत्वबुद्धि में कोई संबंध नहीं; अपनत्व ही है। इसप्रकार यद्यपि अहंबुद्धि, स्व-स्वामी-संबंध, कर्ता-कर्म-संबंध, और भोक्ता-भोग्य-संबंध — ये चारों प्रकार के संबंध आत्मा के पर के साथ नहीं हैं; तथापि इस अज्ञानीजीव ने अनादिकाल से परद्रव्य के साथ चारों प्रकार के संबंध जोड़ रखे हैं।

'ये मैं हूँ' इसका नाम अहंबुद्धि है। 'ये मेरे हैं' इसका नाम ममत्वबुद्धि है। ये मेरे हैं या ये मैं हूँ — इसका निर्णय नहीं कर पाना यह भ्रमबुद्धि है; इसलिए पागल की भाँति प्रलाप करता है; कहता है कि पुत्रादिक रहेंगे तो मैं ही जीऊँगा। यह 'ये मैं हूँ' या 'ये मेरे हैं' ऐसे किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा है।

समयसार के जीवाजीवाधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द इसी बात को तर्क और युक्तियों से समझाते हैं कि — 'न परद्रव्य तुम हो, न ही ये तुम्हारे हैं।' तुम्हारे असंख्यातप्रदेश पृथक् हैं और तुम्हारे पुत्रा के असंख्यातप्रदेश पृथक् हैं। तुम्हारे अनंत गुण अलग हैं और तुम्हारे पुत्रा

के अनंतगुण अलग हैं। तुम्हारा पुण्य-पाप और उसका पुण्य-पाप अलग-अलग है।

44 न कोई किसी को पुण्य-पाप दे सकता है न ही कोई किसी का पुण्य-पाप ले सकता है। यह मत समझना कि तुम्हारा पुत्रा तुम्हारे पुण्य का भोग कर रहा है।

कई लोग ऐसा कहते हैं कि — 'एक पापी बैठा था; इसलिए नाव डूब गई और सैकड़ों लोग मर गए।'

यहाँ यह प्रश्न है कि उस नाव में एक पापी था और बाकी कैसे थे? अर्थात् वे पुण्यात्मा थे। इसका अर्थ यह हुआ कि एक पापी से अनेक पुण्यात्मा कमजोर हैं। कई लोग ऐसा कहते हैं कि एक ही धर्मात्मा ने सभी को पार लगा दिया। अरे भाई! सब अपने कारण पार होते हैं, कोई किसी दूसरे के कारण पार नहीं होता है।

कोई दूसरे के भले-बुरे का कर्ता रंचमात्र भी नहीं है। इसी को आचार्य कर्ताकर्माधिकार में विस्तार से समझाते हैं।

जीवाजीवाधिकार में बहुत तर्क और युक्तियों के द्वारा समझाया है कि जगत् में त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को छोड़कर तू और कुछ भी नहीं है और तेरा कुछ भी नहीं है। इस जीव के क्षयोपशमज्ञान में भी यह बात बैठ जाती है, समझ में आ जाती है; लेकिन यह श्रद्धा में नहीं आती है; क्योंकि अंतर में उनके प्रति अनादिकाल से एकत्व का अभ्यास है। यह एकत्व का अभ्यास ही है, जो इस जीव को इस सत्य को मानने नहीं देता।

जानना अलग है और मानना अलग है। सुरेश और रमेश नामक दो घनिष्ठ मित्रा थे। भाग्य से एक के यहाँ लड़की और एक के यहाँ लड़का था। दोनों बहुत सुंदर थे। एक-दूसरे को बहुत चाहते थे। उन्होंने इन दोनों की शादी कर दी। शादी के बाद लड़के का पिता सुरेश जब लड़की के घर आया तो रमेश ने कहा — 'सुरेश चाय पियेगा?' तब उसकी पत्नी बोली, 'अब वे समधी हो गए हैं; सुरेश-सुरेश मत बोलो।'।

तब रमेश कहता है कि, 'मैं कुछ नहीं जानता, मैं तो सुरेश ही कहूँगा।' तब पत्नी कहती है कि — 'जब बड़ी बेटी के ससुर आते हैं तब तो तुम साहजी कहते हो, वैसे ही ये भी छोटी बेटी के ससुर हैं; इनके साथ भी वैसे ही व्यवहार करो।'।

तब रमेश, पत्नी से कहता है, 'सारे जीवनभर मैंने इसे सुरेश कहा है, अब तुम मुझसे साहजी कहलाओगी — ये मुझसे नहीं हो सकता। मेरा तो वह दोस्त पहले है और समधी बाद में।'।

'मुझे लगता ही नहीं कि सुरेश तुम भी समधी हो। मुझे समझ में तो आता है; लेकिन सुरेश तुम तो मुझे दोस्त जैसे ही लगते हो, लंगोटिया यार ही लगते हो।'।

इसप्रकार लगना अलग बात है और ज्ञान में जान लेना अलग बात है।

ऐसे ही हमने शास्त्र में पढ़कर, गुरु के मुख से सुनकर ज्ञान में आत्मा को जान तो लिया है और यह भी जान लिया है कि स्त्री, पुत्र, मकान, सम्पत्ति, शरीर — ये सब मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं; फिर भी इस जीव को यह लगता नहीं है कि 'ये मेरे नहीं हैं, मैं तो आत्मा हूँ' — इसे ही कहते हैं कि 'जानता तो है; लेकिन मानता नहीं।'।

अंतर में कहीं न कहीं इस शरीर के प्रति आकर्षण कायम है; वही आकर्षण इस जीव को इस सत्य को स्वीकारने नहीं देता है। शास्त्रा में पढ़कर आगम के आधार से, तर्कों की फटकार से इस जीव की समझ में भी आ जाता है, बाहर से मान भी लेता है और कहता है कि शास्त्रों में लिखी है तो असत्य कैसे होगी? तर्क और युक्ति से सिद्ध किया है तो इसे असत्य कैसे कहा जाय? पर वह इस सत्य को अंतरंग से स्वीकार नहीं कर पाता। अतः यहाँ भी वह रास्ते निकालता है।

जैसे पत्नी यदि उसे समधी कहने के लिए जोर देती है तो वह कहता है — 'अच्छा, तुम ही बताओ। सुरेश मेरा समधी तो अभी बना। लेकिन दोस्त तो बचपन से हैं, 25 साल से हैं। समधी हुए मात्रा 25 दिन

भी नहीं हुए।' वह किसी न किसी उपाय से पुराने संबंध को ही मानना चाहता है; नए संबंध को स्वीकार ही नहीं करना चाहता।

45 ऐसे ही इस जीव को पर से संबंध रखना है और जीवाजीवाधिकार में यह डंके की चोट सिद्ध कर दिया है कि — 'ये तू नहीं है और ये तेरे नहीं हैं।' तब यह जीव कहता है कि — 'यह ठीक है मैंने मान लिया; लेकिन अंततः इनका कर्ता तो मैं ही हूँ।' 'ये बेटा मैं नहीं हूँ, 'ये बेटा मेरा नहीं है' ये मैंने मान लिया; परन्तु मेरी पत्नी ने 9 माह तक इसे गर्भ में रखा है, 18 माह तक गोद में पाला है, एक-एक अक्षर इसे मैंने ही सिखाया है। इसकी प्रत्येक क्रिया मेरे हाथों से सम्पन्न हुई है। अतः एकत्व-ममत्व को रहने दो, पर मैं इसका कर्ता तो हूँ ही।

जब मैं वृद्ध हो जाऊँगा, तब यह पुत्रा मेरी सेवा करेगा। उसके सुख-दुःख मुझे प्राप्त होंगे। इसलिए मैं इसका भोक्ता भी हूँ। इसप्रकार यह जीव रास्ते निकालता है।

तर्क और आगम के आधार से एकत्व-ममत्वबुद्धि टूट जाने पर भी मिथ्यात्व के जोर से, दर्शनमोह के उदय से अंतर में कर्तृत्वबुद्धि के बहाने परद्रव्य से संबंध कायम रखना चाहता है। यही कारण है कि आचार्य ने 75 गाथाओं का सबसे बड़ा कर्त्ताकर्माधिकार लिखा। यह जीव सब कुछ छोड़ सकता है; लेकिन कर्तृत्व को नहीं छोड़ सकता है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट है। इसमें कई ट्रस्टी हैं और इसमें कोई ट्रस्टी ऐसा माने 'यह ट्रस्ट मेरा ही है' 'यह मैं ही हूँ।' मुझे ऐसा लगता ही नहीं कि यह मुझसे पृथक् है। तब ऐसे ट्रस्टी को समझाते हैं कि — 'भाईसाहब! धोखे में मत रहना यह ट्रस्ट सम्पूर्ण जैनसमाज का, मुमुक्षु समाज का है।' इस पर यह ट्रस्टी कहता है कि मैं ट्रस्टी तो हूँ।

अरे भाई! जिन लोगों ने इस पर ट्रस्ट किया है, विश्वास किया है; जिस उद्देश्य से उन्होंने पैसा दिया है, उस उद्देश्य की पूर्ति करना ही

इसका कर्तव्य है। यह अपने पंचेन्द्रियों के विषयों के लिए इसका रंचमात्रा भी उपयोग नहीं कर सकता है।

इसमें समयसार की, आत्मा-परमात्मा की चर्चा गूँजती रहे — इस उद्देश्य को कायम रखना ही ट्रस्टी का कर्तव्य है। अब यह ट्रस्टी यदि कहे कि जैनधर्म पढ़ने के लिए लोग नहीं आते; इसलिए यहाँ कॉन्वेंट स्कूल खोलते हैं। ईमानदार ट्रस्टी हो तो वह ऐसा कर ही नहीं सकता है; क्योंकि यह इसके अधिकार में ही नहीं है। दो-चार व्यक्ति भी आते हों तो भी यहाँ समयसार ही गूँजेगा। जिस उद्देश्य से यह ट्रस्ट बनाया है; यदि उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता है तो वह ट्रस्टी नहीं है। उसने इसका ट्रस्ट (विश्वास) खोया है।

इस पर यह ट्रस्टी कहता है — 'मैंने यह मान लिया कि यह मैं नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है; लेकिन सबकुछ करना तो मुझे ही है; आजतक जो भी किया है, वह मैंने ही किया है। सारा जीवन हमने इसमें लगाया और आप कहते हैं कि हमने कुछ नहीं किया। थोड़ी सलाह देनेवाला भी अहं करने लगता है, अधिकार माँगने लगता है। मैंने तो सारा जीवन इस पर समर्पित किया है; इसलिए जब कोई ऐसा कहता है तो मुझे दुःख होता है।'

यहाँ आचार्य कहते हैं — 'तेरे इस दुःख को ही दूर करने का उपाय चल रहा है। तुमने कुछ नहीं किया है, एक-एक परमाणु स्वतंत्रा है। समस्या यह नहीं है कि जिसने किया है, उसे श्रेय देना कि नहीं देना है। यहाँ विचार का बिंदु तो यह है कि उसने कुछ किया है कि नहीं? पर यह कहता है कि यह मेरा नहीं है; लेकिन करूँगा तो मैं ही।'

इसपर आचार्य कहते हैं कि जगत् का जो परिणमन जैसा होना था, वैसा हो रहा है — यह जीव कर्तृत्व के बहाने उसपर स्वामित्व रखना चाहता है; इसी का यहाँ निषेध है।

इसपर भी यह जीव कहता है, चलो! करना तो मेरे ही हाथ में रहा। जैसे एक सेठ की मील का राष्ट्रीयकरण हो गया। सरकार ने

इस मील को अपने अधिकार में कर लिया। इसपर सेठजी घबरा गए तो सरकार ने उनसे कहा — 'सेठजी घबराइए नहीं, आप ही इसका मैनेजमेन्ट संभालेंगे। जिस बंगले में अभी आप रहते हैं; अब भी उसी में रहेंगे। जैसे पहले आपकी आज्ञा चलती थी; वैसे ही आज भी आपकी आज्ञा चलेगी। आप जैसे पहले मील को चलाते थे, वैसे ही आज भी चलाना है, आपकी सुख सुविधाओं में भी कोई फर्क नहीं आएगा। आप जो चाहे, वह कर सकते हैं; लेकिन स्वामित्व आपका नहीं रहेगा। इसका स्वामी भारत सरकार होगी।'

इसपर सेठ कहता है — 'हम तो अब मजदूर हो गए, मालिक थोड़े ही रहे।' लेकिन कई सेठ इस निर्णय पर संतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सब कुछ है तो मेरे ही हाथ में, यह मील मेरी है या नहीं — यह तो कागजों में दर्ज है। मजदूरों के सामने तो मेरा ही माथा ऊँचा रहेगा, मेरी आज्ञा के बिना तो कुछ होगा ही नहीं।

ऐसे ही यह जीव कर्तृत्व के बहाने स्वामित्व को कायम रखना चाहता है। इसपर भी यह जीव कहता है कि हम करें कि नहीं करें।

क्या करो एवं क्या नहीं करो; इस प्रश्न पर समयसार विचार नहीं करता है। यह प्रश्न चरणानुयोग में उपस्थित होता है।

समयसार द्रव्यानुयोग का शास्त्र है। द्रव्यानुयोग क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए — इसपर विचार नहीं करता है। द्रव्यानुयोग तो यह बताता है कि तुम क्या करते हो एवं तुम क्या नहीं करते हो; यही कर्त्ताकर्माधिकार का विचारबिन्दु है।

कर्त्ताकर्माधिकार के विचार का बिंदु तो यह है कि तुम पर में कुछ भी नहीं करते। आजतक इस जीव ने पर में कुछ किया ही नहीं है, न ही कर सकता है।

समयसार 'है' का शास्त्र है 'चाहिए' का नहीं। 'ऐसा करना चाहिए' 'ऐसा नहीं करना चाहिए' यह समयसार की भाषा नहीं है। समयसार की भाषा 'ऐसा है' एवं 'ऐसा नहीं है' — इसप्रकार की है।

दो द्रव्यों के मध्य वज्र की दीवाल है; यह आत्मा परद्रव्य में प्रवेश ही नहीं कर सकता।

इसपर भी अज्ञानी जीव यह कहता है, अच्छा! हमने आपकी यह बात भी मान ली, अब हम आगे करें क्या ?

आचार्य कहते हैं कि यदि तुमने हमारी बात मान ली होती तो 'आगे क्या करना है ?' यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। तुमने इसे मात्रा बातों में ही माना है, वास्तव में नहीं माना है। आज तक जो तुमने कर्तृत्वबुद्धि रखी — वह सब मिथ्या ही है। आज तक तुमने कुछ किया ही नहीं है तो फिर उसकी कीमत माँगने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

जाम्बुडी (गुजरात) में जब कार्यक्रम चल रहा था तब स्वामीजी ने मुझे एक घटना सुनाई थी। स्वामीजी का राजकोट में समयसार के बंधाधिकार पर प्रवचन चल रहा था। जिस बंधाधिकार में आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही, कोई किसी को मार नहीं सकता, बचा नहीं सकता, सुखी—दुःखी नहीं कर सकता आदि की चर्चा है।

भाग्य से महात्मा गांधी भी उसी दिन प्रवचन सुनने आये थे। स्वामीजी प्रकरण का खुलासा कर रहे थे — कोई किसी का कर्ता नहीं है। मैं देश का उद्धार करूँगा। मुझे ये सुधारना है, मुझे यह करना है — ऐसा जो कहते हैं, वे सब मूढ़ अज्ञानी हैं।

एक घंटे तक इसप्रकार सहजता से स्वामीजी ने व्याख्यान दिया और गांधीजी चुपचाप सुनते रहे। गांधीजी तो यही समझे कि 'मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ' — यह इस संत को ज्ञान हो गया है; इसलिए सम्पूर्ण व्याख्यान मेरे ऊपर ही हुआ। मुझे ही उन्होंने मूर्ख और अज्ञानी कहा है।

बाद में, दूसरे—तीसरे दिन जब गांधीजी रामजीभाई से मिले तो उन्होंने उनसे पूछा, 'तुम्हारे वे गुरुजी कहाँ है ?' जिन्होंने मुझे अपने व्याख्यान में मूर्ख कहा था। मुझे उनका व्याख्यान सुनना है।'

रामजीभाई ने कहा — 'आप कैसी बातें करते हो। आपको उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। यह तो उनका रोज का व्याख्यान है।'

यह घटना सुनाते हुए स्वामीजी ने मुझे कहा — 'मैंने उनके लक्ष्य से कुछ भी नहीं कहा था, मेरा उस तरफ ध्यान भी नहीं गया कि देश का इतना महान व्यक्तित्व यहाँ आकर बैठ गया है। मैं तो सहजभाव से प्रवचन कर रहा था।'

47

गांधीजी बहुत मंदकषायी जीव थे। यदि उनकी जगह कोई अन्य नेता होता तो अकड़ जाता एवं झगड़ा करता; लेकिन इसके विपरीत गांधीजी के मन में जिज्ञासा जगी। उन्होंने सोचा, 'ऐसी बात करनेवाला भी इस जगत में है, मुझे उस बात को और गहराई से सुनना—समझना चाहिए।' ऐसी पात्राता गांधीजी में थी।

आज हमारे जैनियों में भी इतनी पात्राता कहाँ है? समयसार सुनने की भी पात्राता नहीं है।

आज जो एकत्व—ममत्व की बात चल रही है; वह कदाचित् बारह भावनाओं के अभ्यास के कारण लोगों के गले उतर भी जाय; लेकिन कोई किसी का कर्ता नहीं है, मैं किसी का भला—बुरा नहीं कर सकता हूँ, कोई किसी का भला—बुरा नहीं कर सकता है। यह सत्य निन्यानवे प्रतिशत जैनियों के गले उतरनेवाला नहीं है। इसे जो भी सुनता है; उसके चित्त में विरोध का भाव जगता है।

यह गंभीरता से विचारणीय है कि आज महात्मा गांधी जैसे कितने श्रोता हैं; जो ऐसा सोचते हों कि — 'आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं तो इसे मैं एक बार गहराई से सोचूँ कि उनका क्या मन्तव्य है? वस्तुस्वरूप के निकट जाकर देखूँ की यह बात कितनी सत्य है? मेरा सम्पूर्ण जैन समाज से कहना है कि आचार्य कुन्दकुन्द सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं, उनकी यह वाणी है; अतः इसपर सम्पूर्ण गहराई से विचार करें।'

यदि इसे अस्वीकार भी करना हो तो किसी पण्डित की वाणी समझकर अस्वीकार मत करना, कुन्दकुन्द की वाणी समझकर अस्वीकार करना। यह कुन्दकुन्द की ही वाणी नहीं है, भगवान महावीर की वाणी है, भगवान महावीर की ही नहीं है, अनन्त तीर्थकरों की वाणी है; जिन्होंने गणधरदेव और सौ इन्द्रों की उपस्थिति में कही थी।

अतः इसे गंभीरता से सुने, समझे और विचार करें।

अरे भाई! विचार करने के बाद अस्वीकार करना, इसे सुनते ही अस्वीकार मत करना। सुनते ही अस्वीकार करने का अर्थ है कि इस जीव का अनन्त संसार शेष है, इसे अभी संसार सागर में ही भटकना है; अन्यथा ऐसी भूल नहीं हो सकती थी।

यह सत्य तो ऐसा है कि कान में पड़ना ही दुर्लभ है और यदि कान में भी पड़े और इसे अस्वीकार करें, गम्भीरता से विचार नहीं करे तो समझना चाहिए की इस जीव का अनन्त संसार शेष है।

इस पर भी यह अज्ञानी जीव पूछता है कि — 'आज तक हमने जो किया; क्या वह सब व्यर्थ रहा? क्या हम कुछ भी नहीं करें? कुछ भी नहीं कर सकते?'

भाई! सत्य तो ऐसा ही है; इसमें फेरबदल सम्भव नहीं। शरीर और दुनियाँ को तो छोड़ो तुम्हारे माथे पर जो बाल हैं, उस बाल का भी तुम कुछ नहीं कर सकते। क्या ये बाल हमें पूछकर सफेद होते हैं। हम तो इनके काले ही रहने के लिए लाख कोशिशें करते हैं; लेकिन ये सफेद होते ही हैं। क्या ये बाल हमारी आज्ञा से सफेद हुए हैं। 80—80 वर्ष के वृद्ध भी आज अपने बाल काले करना चाहते हैं। इससे यह बात तो सिद्ध होती ही है कि ये वृद्ध अपने बाल काले रखना चाहते थे, सफेद नहीं होने देना चाहते थे; पर ये बाल सफेद हो जाते हैं, नहीं चाहते हुए भी हमारी आज्ञा के बिना सफेद हो जाते हैं। इसप्रकार एक बाल पर भी हमारा अधिकार नहीं चलता है।

पुरुषों की दाईं आँख फड़के तो शुभ माना जाता है और बाईं आँख फड़के तो अशुभ माना जाता है। महिलाओं की बाईं आँख फड़के तो शुभ माना जाता है और दाईं आँख फड़के तो अशुभ माना जाता है। पुरुषों की बाईं आँख फड़कती है तो सोचता है कि आज कुछ गड़बड़ी होनेवाली है। पुरुष की ही आँख है न? तो वह पुरुष इसे फड़कने क्यों देता है? इसे बंद क्यों नहीं करता। दाईं आँख का फड़कना अच्छा है तो इसे क्यों नहीं फड़काता है।

आँखों से आँसू आते हैं, लाख कोशिश करने पर भी रुकते नहीं हैं, यह उन्हें रोकना चाहता है; लेकिन रुकते ही नहीं। एक अश्रु पर भी इसका अधिकार नहीं है।

48

पुरुषों की यह प्रकृति होती है कि उनके हृदय में कितना ही दुःख हो, कितने ही आँसू आयें; लेकिन वह नहीं चाहता कि दुनियाँवाले इसके आँसू देखें। वह बड़ी से बड़ी विपरीत परिस्थिति में भी आँसू पोंछकर सामान्य होना चाहता है। वह यह नहीं चाहता कि उसके पौरुष को धक्का लगे, उसमें धैर्य की कमी सिद्ध हो; यह उसे बर्दास्त नहीं होता।

महिलाओं के तो अश्रु ही शस्त्रा हैं। कभी—कभी उसे रोना नहीं आ रहा हो तो भी वह रोना चाहती है। 80 वर्ष की वृद्धा सासू तीन वर्ष से खटिया पर पड़ी हो, उसकी सारी सेवा बहु को ही करनी पड़ती हो और उसका बहुत प्रतीक्षा करने पर मरण हुआ हो; तब बहु की आँखों से आँसू नहीं आते हैं; लेकिन वह समाज के सामने आँसू लाना चाहती है।

पुरुष की प्रकृति आँसू रोकना चाहती है और नारी ऐसी स्थिति में आँसू लाना चाहती है; लेकिन आते नहीं। इसप्रकार एक आँसू पर भी तुम्हारा अधिकार नहीं है।

जिस—जिस वस्तु पर हमने हमारा कर्तृत्वभाव स्थापित किया है; उसपर यदि विचार करें तो अकर्तृत्वभाव ही झलकता है।

इस शरीर के स्वास्थ्य पर यदि हम विचार करें तो जब हमारा जन्म हुआ, तब हमने स्वास्थ्य के बारे में थोड़ी भी चिन्ता नहीं की; जो कुछ मिला सो खाया—पिया और दिन—दूना रात—चौगुना बढ़े। पाँच वर्ष के हुए धूप में, मिट्टी में, पानी में खेले। माँ के कहने पर भी बीमारी की परवाह नहीं की; लेकिन तब भी हम बढ़ते गए।

25 वर्ष के हुए, स्वास्थ्य के प्रति सावधान हुए; लेकिन बढ़ना बंद हो गया। 60—62 वर्ष के हुए तो निश्चित समय पर घूमना, दवाईयाँ लेना; स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम आरंभ हुआ; लेकिन तब भी स्वास्थ्य ढलता गया; काया क्षीण होती गयी।

यदि यह तेरे सम्भालने से सम्भलता है तो सम्हाल ले न इसे। इसका क्रम गेहूँ के पौधे की भाँति है। पैदा होता है, बढ़ता है, हरा होता है, पीला होता है और सफेद होकर 100 दिन में समाप्त हो जाता है। वैसे ही मनुष्य देह का 100 वर्ष का क्रम है। वह अपने क्रम से बढ़ती है, अपने क्रम से बढ़ना रुक जाता है, अपने क्रम से पकना शुरू हो जाता है और अपने क्रम से खिर जाता है। तेरा किया इसमें कुछ भी नहीं है।

एक दिन ऐसा था कि आप इस समिति के सर्वेसर्वा थे; आप जैसा कहते थे, वैसा ही लोग मानते थे और आज आपकी यह स्थिति है कि आपकी कोई सुनता ही नहीं है; तब आप उनसे लड़ते हैं, झगड़ते हैं, आग-बबूला होते हैं। इसपर आपकी पत्नी आपसे कहती है — जब तुम्हारी यहाँ कुछ चलती ही नहीं है, तुम कुछ कर ही नहीं सकते हो तो अपमान करवाने के लिए वहाँ क्यों जाते हो।

यहाँ पत्नी का आशय यह है कि जहाँ तुम्हारी चले, तुम्हारी कोई सुने, तुम कुछ कर सको; वहाँ जरूर जाना, जाने का निषेध नहीं है। जहाँ इसकी चलती ही नहीं; वहाँ जाने का क्या प्रयोजन? तब यह पूछता है, 'मैं यहाँ क्या करूँ?' तब पत्नी कहती है — 'घर में शान्ति से बैठो, शास्त्रा पढ़ो, आत्मा का ध्यान करो।'

इसीप्रकार जब हमें यह ज्ञात हो जाय की हमारा परद्रव्य में रंचमात्रा भी हस्तक्षेप नहीं है। जब हमें यह दृढ़प्रतीति हो कि परद्रव्य में हम कुछ भी नहीं कर सकते, तब हम क्या करें? अरे भाई! अपने घर में ही बैठें अर्थात् अपने आत्मा का ध्यान करें।

एकबार अंतर से यह दृढ़संकल्प आ जाय कि 'पर न मेरा है, न पर मैं हूँ' 'मैं पर का कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं हूँ' तो निश्चितरूप से इस जीव की दृष्टि परपदार्थ से हटकर स्वभावसन्मुख होगी, अपने आत्मा की तरफ होगी; तब इसे स्वयमेव ही आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, आत्मा का ध्यान अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की प्राप्ति हो जायेगी। ●

सातवाँ प्रवचन

49

पूर्व प्रकरण में समागत विषय से यह अत्यंत स्पष्ट हो गया है कि जैनदर्शन भेद के विज्ञान का नाम है। स्व-पर में जो भेद है, उसे जानना ही भेदविज्ञान है; क्योंकि जैनदर्शन में जो मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है, सुखी होने का उपाय है, संसार से छूटने का उपाय है, मोह-राग-द्वेष के परिणामों को समाप्त करने का उपाय है; वह एकमात्र आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान की प्रक्रिया का ही मार्ग है।

आजतक जितने भी तीर्थंकर या मुक्ति जानेवाले साधक हुए हैं; सभी ने केवलज्ञान की प्राप्ति आत्मा के ध्यान के काल में ही की है। ध्यान करते-करते ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। आशय यह है कि सभी मुक्ति के साधक अल्पज्ञ से सर्वज्ञ, आत्मा से परमात्मा, सरागी से वीतरागी, संसारी से मुक्त — इस ध्यान की अवस्था में ही बने हैं।

यदि हम गंभीरता से इस बात पर विचार करें कि जब भगवान महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई थी, जब वे अनंत सुखी, पूर्ण वीतरागी हुए थे; तब वे क्या कर रहे थे?

तो इसका स्पष्ट उत्तर होगा कि वे ध्यान कर रहे थे।

तब यह प्रश्न होता है कि किसका ध्यान कर रहे थे?

तो उत्तर होगा कि अपने आत्मा का।

इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक आत्मा को, प्रत्येक साधक को, मुक्ति की प्राप्ति; निज लक्ष्य की प्राप्ति, स्वयं अपने आत्मा के ध्यान से ही होती है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है, वह ध्यान क्या है?

ज्ञान की पुनरावृत्ति का नाम ही ध्यान है। देखने का नाम दर्शन और जानने का नाम ज्ञान है एवं देखते-जानते रहना ही ध्यान है। आत्मा को जानना आत्मज्ञान है एवं उसे ही निरंतर जानते रहना आत्मध्यान है।

संसारी जीव का ज्ञान जगत के परपदार्थों में ही उलझा है, अनादि काल से आजतक इसने एक क्षणमात्रा भी स्वयं के आत्मा की ओर नहीं देखा। सारे जगत को जाननेवाले, सम्पूर्ण दुनिया की शोध/खोज करनेवाले, सारी दुनिया की ओर देखनेवाले इस आत्मा ने अपनी आत्मा की ओर क्यों नहीं देखा ? इस पर यदि गम्भीरता से विचार करें तो एक ही उत्तर मिलता है कि इसे काम बहुत है, इस कारण आत्मा को जानने के लिए समय नहीं है।

संसारी जीव के पास बहुत कार्य हैं। यदि इन कार्यों का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि ये सभी कार्य देश, समाज, घर, परिवार, शरीर आदि परपदार्थों में फेरफार करने के ही कार्य हैं। अपने आत्मा को छोड़कर जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, जिन्हें वर्णादि एवं रागादि के भेद से दो प्रकार का कहा था, जिसके विस्तार से 29 भेद हैं, उन सब बाह्य पदार्थों में कुछ न कुछ करने की बुद्धि के कारण ही इस संसारी जीव को आत्मा को जानने के लिए समय नहीं है।

एकबार यदि गंभीरता से विचार करें कि हमने जिन बाह्यपदार्थों के कर्तृत्व के अभिमान का बोझ स्वयं के मस्तिष्क पर ओढ़ रखा है; उन बाह्यपदार्थों में हमने आजतक कुछ किया भी है या नहीं ?

इसी समस्या का वास्तविक समाधान इस कर्त्ताकर्माधिकार में है।

यह समस्या मात्रा जैनों के सामने ही नहीं थी, जैनेतरों के सामने भी उपस्थित थी। जैनेतर दर्शन में भी ध्यान की महिमा है। इसमें यह अंतर है कि जैनदर्शन में आत्मा का ध्यान प्रमुख है और जैनेतर दर्शन में परमात्मा का ध्यान प्रमुख है। यहाँ निजात्मा का ध्यान है तो जैनेतर दर्शन में परमब्रह्म, विष्णु, महेश, खुदा आदि का ध्यान है। लेकिन ध्यान का महत्त्व प्रत्येक दर्शन में पाया जाता है।

प्रत्येक दर्शन के सामने यह समस्या है कि यदि हम आत्मा—परमात्मा के ध्यान में बैठ जायेंगे तो जो काम हम आजतक करते आ रहे हैं, वे काम कौन करेगा ?

ईश्वरवादी दर्शन कहते हैं कि भगवान की इच्छा के बिना एक

पत्ता भी नहीं हिलता, हाथी के लिए मन की और चिंटी के लिए कण की व्यवस्था भगवान करता है। यह सब व्यवस्था करनेवाला, सर्वशक्ति मान है। वह सब करेगा ही; तू तो निश्चिंत होकर आत्मा—परमात्मा के ध्यान में चला जा।

50

भक्तिमार्गी कहते हैं कि तू भगवद्भक्ति में लग जा। भगवान सबका ध्यान रखेंगे। वे कहते हैं —

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।

दास मलूका कह गए सबके दाता राम।।

वे तो राम के भरोसे सारी दुनिया को छोड़कर ध्यान करने का उपदेश देते हैं। जैनदर्शन में यह बात नहीं है, क्योंकि जैनियों के भगवान पर के कर्त्ता—धर्त्ता नहीं हैं। वे तो मात्रा ज्ञाता—द्रष्टा हैं। वे मात्रा जगत के परिणमन को जाननेवाले भगवान हैं। इसके आगे उनकी कुछ मर्यादा नहीं है।

व्यवहार से भगवान को मुक्तिमार्ग का उपदेशक कहा जाता है; पर वे मुक्ति में नहीं ले जाते। वे मुक्ति का मार्ग भी नहीं बताते, उनकी दिव्यध्वनि में सहज ही मुक्तिमार्ग आ जाता है। यह बात भी व्यवहार से है। निश्चय से वे दिव्यध्वनि के भी कर्त्ता नहीं हैं। इसप्रकार जैनियों की वस्तुव्यवस्था पूर्ण स्वतंत्रा है, वह किसी ईश्वर के आधीन नहीं है।

कहा भी है —

होता स्वयं जगतपरिणाम। मैं जग का करता क्या काम।।

जगत का प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है, अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ है। सतत् अपना कार्य करता रहता है; अतः इस जीव को परपदार्थों में फेरफार करने की आवश्यकता ही नहीं है; अतः हे जीव ! तू पूर्ण निश्चिंत होकर स्व में ही जम जा। इस आशय को आचार्य अमृतचंद्र ने एक कलश में बहुत सुन्दरता से स्पष्ट किया है, जिसका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब।
और उनके परिणमन में है न कोई विघ्न जब।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का।।

सब पुद्गलों में ऐसी परिणाम नामक शक्ति है, जिससे सब पुद्गल द्रव्य निरंतर परिणमन करते रहते हैं, एक समय भी उनका परिणमन रुकता नहीं है और उनके परिणमन में कोई विघ्न भी नहीं है अर्थात् वे अपने परिणमन के कर्ता स्वयं हैं। 'स्वपरिणमन का कर्ता स्वयं ही होता है' — यदि परिणमन का यह नियम है तो इस जीव को पुद्गल के परिणमन का कर्ता स्वयं को नहीं मानना चाहिए।

गंगा हिमालय से निकलती है और बंगाल की खाड़ी में गिरती है। यदि कोई पूछे की हिमालय से निकलनेवाली गंगा का इतना पानी हिमालय से बंगाल की खाड़ी तक कौन पहुँचाता है ? हमें एक घड़ा पानी लाने में कितना कष्ट होता है; इसलिए हिमालय से बंगाल की खाड़ी तक पानी पहुँचानेवाला बहुत ताकतवर होना चाहिए।

इसपर जैनेतर दर्शनवाले उत्तर देते हैं कि भगवान ही हिमालय से बंगाल की खाड़ी तक पानी पहुँचाता है।

जैनदर्शन कहता है कि पानी का स्वभाव बहना है, वह निचाई की ओर सहज ही बहता है। अतः यह गंगा हिमालय से निकलकर स्वयमेव निचाई की तरफ बहकर बंगाल की खाड़ी तक पहुँची है। इसमें कोई समस्या नहीं है। समस्या तो बंगाल की खाड़ी से हिमालय तक गंगा को पहुँचाने में है। जिसका जो स्वभाव है, वह वैसा परिणमन करता है।

पानी का स्वभाव ऊपर से नीचे बहना है, नीचे से ऊपर बहना अग्नि का स्वभाव है, हवा तिरछी बहती है। हवा स्वयमेव तिरछी, अग्नि स्वयमेव ऊपर एवं पानी स्वतः ऊपर से नीचे बहता है; इसमें किसी की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्येक वस्तु परिणमनस्वभावी है, उसे अपने परिणमन के लिए किसी परद्रव्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अतः हे जीव! अपने माथे से कर्तृत्व के अभिमान का बोझा उतार दे। जगत का परिणमन तेरा कार्य नहीं है, तू निश्चिंत होकर अपनी आत्मा में जा सकता है।

उपर्युक्त हिन्दी छन्द आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति के जिस छन्द का अनुवाद है, वह छन्द मूलरूप में इसप्रकार है —

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोतिभावं, यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता।।

पुद्गल में अपनी—अपनी स्वभावभूत परिणमनशक्ति है। इसकारण वे पुद्गल निरंतर परिणमनशील रहते हैं।

अतः हे जीव! परद्रव्य में तुम्हें कुछ नहीं करना है। आजतक तुमने परद्रव्य में कुछ किया भी नहीं है और न ही भविष्य में परद्रव्य में तुम्हें कुछ करना है। तू तो मात्र 'मैं कर्ता हूँ' — ऐसे विकल्प का कर्ता है। इस विकल्प की सीमा के बाहर परद्रव्य में तुम्हारा कुछ भी अस्तित्व नहीं है। आजतक जो कुछ भी किया है, वह विकल्प में ही किया है, परद्रव्य में रंचमात्र भी नहीं किया है। यही कर्ताकर्माधिकार का मूल प्रयोजन है।

आगे बंधाधिकार में आचार्य स्पष्ट करेंगे कि जीवन—मरण और सुख—दुःख का कर्ता कोई दूसरा नहीं है। आजतक जितने जीव सुखी हुए हैं, वे स्वयं अपने पुरुषार्थ से सुखी हुए हैं। किसी दूसरे के कारण सुखी नहीं हुए हैं। जितने जीव दुःखी हैं, वे सब स्वयं की गलती से स्वयं को भूलकर दुःखी हैं।

यह जगत इस सत्य को स्वीकार ही नहीं करता।

डॉक्टर लोग शिकायत करते हैं कि 'ये आप क्या कह रहे हैं?' लोग रोते—रोते हमारे दरवाजे पर आते हैं और हँसते—हँसते जाते हैं।'

मेरे ही जीवन की एक घटना है। मैं जब अशोकनगर में रहता था। एक डॉक्टर मित्रा मेरे मकान के सामने ही रहते थे। वे प्रतिदिन मेरे व्याख्यान में आते थे। जब यह प्रकरण चलता तो वे मुझसे कहते, 'मैं आपकी यह बात नहीं मानता, मेरा तो मरते हुए को बचाना, उनका दुःख दूर करना, प्रतिदिन का कार्य है। इस पर भी आप कहते हैं कि कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता।'

मैं उनसे कहता — यह मैं कहाँ कह रहा हूँ। यह बात तो आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं, मैं तो मात्रा उनके द्वारा अनुभूत सत्य को सुना रहा हूँ।

मैं प्रतिदिन प्रातः उनके दवाखाने पर अखबार पढ़ने जाता था। एक दिन एक किसान बैलगाड़ी से अपने अधमरे बच्चे को लाया। उसने डॉक्टर साहब से कहा, 'डॉक्टर साहब, हम आपकी शरण में हैं, इसे बचा लो !'

डॉक्टर साहब आए, उन्होंने देखा और कहा — 'देखो, कोशिश करता हूँ।'

तभी बच्चे की माँ ने अपने सारे गहने उतारकर डॉक्टर साहब के सामने रख दिए और कहा — 'मेरे गहने ले लो, लेकिन मेरे बेटे को किसी भी कीमत पर बचा लो।' उस बच्चे का पिता भी रो-रोकर हाथ जोड़कर बैठ गया, इस पर डॉक्टर साहब ने कहा — इसकी आयु शेष होगी तो यह जरूर बच जाएगा, मैं पूरी कोशिश करता हूँ।

जब बार-बार डॉक्टर साहब यह कह रहे थे; तब मैं वहीं बैठा यह सब देख-सुन रहा था। तब मैंने डॉक्टर साहब से कहा 'इसको बचाइए, बहाने क्यों बनाते हो — इसकी आयु होगी तो, भगवान की मर्जी हुई तो — ऐसी बातें क्यों करते हो ? साफ-साफ कहिए की आप बचायेंगे या नहीं ? कितनी फीस चाहिए।' मैंने ऐसा बार-बार कहा तो डॉक्टर साहब बोले — 'ऐसी स्थिति में आपको मजाक सूझ रहा है।' इस पर मैंने कहा — 'इसमें मजाक की क्या बात है, मैं तो इस गरीब की सिफारिश कर रहा हूँ। आप बचा लीजिए न इसे।'

तब डॉक्टर साहब ने कहा, 'मेरे हाथ में क्या है, मैं क्या कर सकता हूँ

इसका आयुकर्म शेष होगा, तो बच जाएगा। मैं तो कोशिश कर सकता हूँ।'

मैंने कहा — आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित 'जैनदर्शन के सत्य को मैं स्वीकार नहीं करा सका; पर आज इस सत्य को आपने स्वीकार कर लिया, चलो किसी तरह ही सही, सत्य का स्वीकार तो हुआ।'

जब यही सत्य प्रवचन में आता है तो कई व्यक्ति इसे मानते नहीं हैं और भरी सभा में प्रश्न करने लगते हैं। यदि उनसे कहते हैं कि बाद में प्रश्न कर लेना तो वे कहते हैं मुझे तो अभी समझना है। ऐसी स्थिति में आपको मजाक नहीं लगता है, व्यवधान महसूस नहीं होता है और आज जब हम कह रहे हैं कि बच्चे को बचा लीजिए तो मजाक लगता है, व्यवधान लगता है।

आशय यह है कि आजतक किसी ने किसी को न तो मारा ही है और न बचाया ही है।

आज वर्तमान में इस परमसत्य को इस जगत में कोई नहीं मानेगा; लेकिन परमसत्य यही है। आजतक यदि किसी में बचाने की ताकत होती तो दुनिया को जाने दो अपने माता-पिता को तो सभी बचा लेते; उन्हें कोई भी मरने नहीं देता। लेकिन क्या आजतक किसी के माँ-बाप बचे हैं। किसी के माँ-बाप चले गए हैं और किसी के जानेवाले हैं। कोई बचा नहीं पाया है, कोई बचा नहीं पावेगा — यह परमसत्य है।

मैंने बचाया, मैंने उन्हें सत्तर-अस्सी वर्ष तक जिन्दा रखा — तू ऐसा झूठा अभिमान करता है। क्या तू उन्हें सत्तर-अस्सी वर्षतक ही जिन्दा रखना चाहता था, क्या तू चाहता है कि अब मर जावें ?

नहीं-नहीं, मैं ऐसा क्यों चाहूँगा। तब यदि वे अपने आप मरे थे तो तुमने उन्हें जिन्दा कहाँ रखा ? वे तो अपने आप ही जिन्दा भी रहे। उनका आयुकाल शेष था; इसलिए जिन्दा रहे। तेरे जिन्दा रखने से वे न जिन्दा रहे और न ही तेरे मारने से वे मरे।

हमने गोली चलाई, उसके सीने से निकल गई और वह मर गया; फिर भी आप कह रहे हैं कि हमारे मारने से वह नहीं मरा। — यह क्या बात हुई ?

अरे भाई ! वह तो उसकी आयु पूरी हुई; इसलिए मरा है, तुम्हारे गोली मारने से नहीं मरा है।

तो फिर हमें पाप किस कार्य का लगा ?

जो मारने का भाव किया है, उसका पाप लगा है। पाप मारने के भाव का लगता है; क्योंकि इस जीव की सीमा भाव करने तक ही है। मरण की क्रिया का यह कर्त्ता नहीं है; लेकिन मारने के भाव का कर्त्ता अवश्य है।

ऐसे ही यह जीव दूसरे के बचाने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है; लेकिन बचाने के भाव का कर्त्ता अवश्य है। इस जीव को जो पुण्य-पाप बंधता है, वह उसके भाव के अनुसार बंधता है, क्रिया के अनुसार नहीं। इसी को कर्त्ताकर्माधिकार में पण्डित बनारसीदासजी ने इसप्रकार लिखा है -

ज्ञानभाव ज्ञानी करे, अज्ञानी अज्ञान।

द्रव्यकर्म पुद्गल करे, यह निहचै परवान।।

निश्चयनय से ज्ञानी ज्ञानभाव का ही कर्त्ता है। जानना-देखना उसका कार्य है। वह मात्रा ज्ञाता-द्रष्टा है। यहाँ यह नहीं लिखा कि स्व को जानना उसका कार्य है, पर को जानना नहीं। मात्रा जानना ही ज्ञानी का कार्य है, उसमें वह स्व-पर का भेद नहीं करता है। जो होता है, उसे मात्रा जानता है। यही ज्ञानी की सीमा है, इससे अधिक वह कुछ नहीं करता।

समझदार व्यक्ति को कोई कहता है 'भाईसाहब ! उसने आपको गाली दी।' तब वह कहता है - देखेंगे। यहाँ देखने का अर्थ मुँहतोड़ जवाब देना नहीं है। यहाँ देखने का अर्थ मात्रा देखना-जानना ही है।

इस पर वह व्यक्ति पूछता है - 'यदि आपको किसी ने चाँटा मार दिया तो।' ज्ञानी कहता है - 'वह भी देख लेंगे।'

'गोली मार दी तो।' ज्ञानी कहता है 'अरे भाई ! उसे भी देख लेंगे।' क्योंकि मेरा कार्य मात्रा देखना-जानना है। इसकी सीमा के बाहर मैं कुछ भी नहीं कर सकता।

देखने-जानने के अतिरिक्त यह जीव कुछ भी नहीं कर सकता, जो भी बाह्य में क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती हैं, वे मात्र विकल्प में ही होती हैं।

53

फिल्म देखने जाते हैं, वहाँ आपसे पूछा जाता है कि पर्दे पर फिल्म आयी तो आपने क्या किया ? उत्तर आता है - कुछ नहीं, देख लिया। पर्दे पर माँ-बहिन की गाली दी गयी तो आपने क्या किया ? उत्तर आता है - कुछ नहीं, जान लिया।

पर्दे पर यदि बलात्कार का दृश्य आता है तो आपने क्या किया ? उत्तर आता है देख लिया। इस पर प्रश्न होता है 'उसको रोका क्यों नहीं ?' उत्तर आता है 'क्योंकि हम जानते थे कि इसमें हमारा कुछ कर्त्तव्य है ही नहीं।'

जिसप्रकार फिल्म में जो हो रहा है, उसे यह नहीं रोक सकता है, वैसे ही यह जीव जगत जैसा परिणमन कर रहा है, उस परिणमन में रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। यह जीव मात्र इसे देखता-जानता है।

ज्ञानी ऐसी स्थिति में ज्ञानभाव करता है और अज्ञानी अज्ञानभाव करता है। अज्ञानभाव अर्थात् राग-द्वेष करता है। वह कहता है 'सिनेमा में आग लगा दो, परदे में आग लगा दो।' क्या परदे के जलाने से सब कुछ जल जाएगा ?

परदे पर तो वह है ही नहीं, वह दृश्य तो फिल्म में है, पर्दा तो साफ है। फिल्म में भी मात्रा जो हुआ था, उसकी फोटो है। जो कुछ हुआ वह सब अभिनेता, निर्माता और निर्देशक के माध्यम से हुआ है। मंच पर भी कुछ हुआ ही नहीं; जो देखा गया है, वह तो मात्रा अभिनय है। जो जगत में चल रहा है, उसे मात्रा उन्होंने प्रस्तुत किया है। मारना हो तो उस बलात्कारी को मारो, जिसकी खबर प्रतिदिन अखबारों में पढ़ते हो।

क्या वह 10 रुपए का टिकट लेकर, किसी बलात्कारी को मारने या पकड़वाने के लिए सिनेमा हॉल में आया है ? वह तो मात्रा दर्शक है।

इसीप्रकार यह आत्मा स्वयं परिवर्तित इस जगत के परिणमन में मात्रा दर्शक है। बनारसीदासजी ने लिखा है — यह भगवान आत्मा केवल तमाशगीर है अर्थात् मात्र तमाशा देखनेवाला है। इस जगत में जो तमाशा हो रहा है; उसका यह जीव ज्ञाता—द्रष्टा है, कर्ता—भोक्ता नहीं। यही कर्ताकर्माधिकार का मूल केन्द्रबिन्दु है।

आजतक इस जीव ने पर में कुछ किया ही नहीं, पर में कर्तृत्व का विकल्प किया है। इस पर यह अज्ञानी जीव पूछता है कि यदि मैंने आजतक परद्रव्य में कुछ किया ही नहीं है तो मैं अनादिकाल से इस संसार में क्यों भटक रहा हूँ ? जिसकी हत्या के आरोप में मुझे फाँसी दी जा रही है; वह तो जिन्दा है, वह तो मरा ही नहीं है; तब मुझे उसकी हत्या के आरोप में क्यों फाँसी दी जा रही है ? मैंने हिंसा, चोरी, परिग्रह कुछ भी अपराध नहीं किए, तब मुझे सजा किस अपराध की दी जा रही है ?

अपराध तो यह है कि इस जीव ने आजतक पर में रंचमात्र भी कुछ नहीं किया है और मानता है कि मैंने किया, मैं कर सकता हूँ। यही मान्यता मिथ्यात्व है और यही सबसे बड़ा अपराध है।

यदि इस जीव ने परद्रव्य में कुछ किया होता और मानता कि 'मैंने किया' तब तो इसको सम्यक्त्व कहते। पर यह मिथ्यात्व इसलिए है कि आजतक इस जीव के राग करने से परपदार्थ, परमाणुमात्रा भी इस जीव का नहीं हुआ है। यह जीव अनंतकाल से परपदार्थों को अपना मानता आ रहा है। जीव की इस मान्यता का परिणाम शून्य ही निकला; अनंतकाल तक परद्रव्य को अपना मानने पर भी वह इस जीव का हुआ नहीं; इसलिए यह मिथ्यात्व है।

जिस पुत्रा को बड़े कष्ट से पाला—पोसा, जीवनभर जिसकी सेवा की; वह पुत्रा वृद्धावस्था में पिता की सेवा नहीं करता है तो यह पिता उससे शिकायत करता है कि कुत्ते को भी यदि प्रतिदिन दो रोटियाँ डालें तो वह जीवनपर्यंत वफादार रहता है; लेकिन जिस पुत्रा के लिए

54

मैंने संपूर्ण जीवन गँवा दिया; उसने ही धोखा दिया। वह आग—बबूला होता है, बहुत दुःखी होता है।

पुत्रा की असलियत मालूम होने पर इतना दुःखी होता है; पर यदि इस जीव को ज्ञात हो जाय कि इस देह में राग करने से अनंत भव व्यर्थ गए हैं। इसके फल में इसे नरक—निगोद के अनंत दुःख सहने पड़े हैं; तब इस जीव की क्या अवस्था होगी ?

अतः यह अतिमहत्त्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु है। इसे अंतर से स्वीकारना बहुत आवश्यक है।

यदि हमारी छोटी सी एक वस्तु का वियोग होता है तो हमें कितना दुःख होता है ? यह स्त्री, पुत्रा, करोड़ों की सम्पत्ति — इन सब संयोगों का एक न एक दिन मरने पर एक साथ वियोग होनेवाला है। ऐसी स्थिति में कितना दुःख होगा। इसका विचार किया है कभी ?

जब इस जीव को यह प्रतीति हो जाय कि बहुत ही सीमित समय तक ये संयोग मेरे पास रहनेवाले हैं, जिसका जितने काल तक का संयोग है; वे उतने ही कालतक मेरे पास रहनेवाले हैं। अतः ये संयोग मेरे हैं ही नहीं; अपने—अपने समय पर सब बिखर जानेवाले हैं — यह वस्तुस्वभाव इस जीव को प्रतीति में आए — यही सुखी होने का उपाय है, यही कर्ताकर्माधिकार का मूलबिन्दु है।

इस जीव ने परद्रव्य में न कुछ किया है और न ही कर सकता है। इस जीव ने आजतक न परद्रव्य को भोगा है और न ही भोग सकता है। इस अज्ञानी जीव की अवस्था उस कुत्ते के समान है; हड्डी चबाने से जिसके मसूड़े से खून निकलता है और वह उस खून का स्वाद लेता है और मानता है कि हड्डी में से स्वाद आ रहा है।

यह स्वाद हड्डी का नहीं है, इसके स्वयं के खून का है। ऐसे ही यह जीव मानता है कि संयोग में से आनंद आ रहा है। अरे भाई ! यह आनंद परद्रव्य का नहीं है, स्वयं का ही है। लड्डू खा रहा है तो यह स्वाद लड्डू में से नहीं आ रहा है; इस जीव के विकल्प व राग में से ही

आनंद आ रहा है। आजतक इस जीव ने पर को भोगा ही नहीं है। नीतिकार तो ऐसा कहते हैं कि —

भोगो न भुक्ताः स्वयमेव भुक्ताः।

भोगों को हमने नहीं भोगा है, भोगों ने ही हमें भोग लिया है।

जैनदर्शन यह कहता है कि न ही इस जीव ने भोगों को भोगा है और न ही भोगों ने इस जीव को भोगा है। भोगों ने भोगों को भोगा है और इस जीव ने स्वयं को भोगा है।

न ही स्त्री ने पुरुष को भोगा है और न ही पुरुष ने स्त्री को भोगा है। स्त्री ने स्त्री को भोगा है और पुरुष ने पुरुष को भोगा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भोक्ता है ही नहीं।

स्त्री ने स्त्री पर्याय को भोगा है और पुरुष ने पुरुष पर्याय को भोगा है। कुत्ते ने कुत्ते की पर्याय को भोगा है।

जिसको जो मिले, वह उसी को भोगे — यही न्यायसंगत है।

स्त्री के जो अंग हैं; उनका सुख-दुःख उसे है और पुरुष के जो अंग हैं; उनका सुख-दुःख उसे है। इसमें स्त्री ने हमें भोगा या हमने स्त्री को भोगा — ऐसी विपरीतता सम्भव नहीं है।

कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य को भोग ही नहीं सकता है। अकेले आत्मा में ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व नामक गुण नहीं है; अपितु प्रत्येक परमाणु में कर्तृत्व-भोक्तृत्व नामक गुण हैं, धर्म-अधर्म-आकाश आदि छहों द्रव्यों में भी यह गुण पाया जाता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में ऐसी स्वयं परिणमन की शक्ति है, जिसके कारण प्रत्येक द्रव्य स्वयं का ही कर्ता-भोक्ता है। परिणमन करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।

इस पर भी यदि कोई अभिमान करे कि मैंने परिवर्तन कराया; तब आचार्य उससे पूछते हैं कि यदि तुमने परद्रव्य में परिणमन कराया है तो उसमें परिणमनशक्ति है या नहीं? यदि है तो वह अपनी शक्ति के कारण परिणमा है, तुमने उसमें क्या किया? यदि उसमें परिणमनशक्ति

नहीं है तो तुम उसे कैसे परिणमा सकते हो? इसलिए कर्तृत्व का अभिमान निरर्थक ही है।

जितने भी जैन न्यायशास्त्रा हैं; उनमें सर्वत्रा अकर्तावाद का ही निरूपण किया है। वहाँ ईश्वर को जगत का कर्ता माननेवाले दर्शनों का ही खंडन है। हजारों पृष्ठ ईश्वर कर्तृत्व के खंडन में लिखे गए हैं। लेकिन समयसार के सबसे बड़े कर्ताकर्माधिकार की 76 गाथाओं में कहीं भी 'ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है' — ऐसा नहीं लिखा है। जब मैंने इसे पहली बार पढ़ा तो मुझे आश्चर्य हुआ कि यह कैसा कर्ता-कर्माधिकार है। प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि सभी ग्रन्थों में ईश्वर कर्तृत्व का खंडन सैकड़ों पृष्ठों में पढ़ा और यहाँ कर्ताकर्माधिकार होते हुए भी इसकी थोड़ी भी चर्चा नहीं है।

जब गहराई से इस अधिकार का अध्ययन किया, तब ज्ञात हुआ कि आचार्य कुन्दकुन्द के सन्मुख जितने भी श्रोता थे; वे सभी शिष्य वर्ग साधु या पात्रा श्रावक श्रोता ही थे। उनमें एक भी ऐसा नहीं था जो ईश्वरकर्तृत्व को मानता हो। आचार्य कुन्दकुन्द 'ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है' ऐसा कहकर उसके विश्लेषण में अपना समय व्यर्थ नहीं करना चाहते थे। चक्रवर्ती की सम्पदा से भी मनुष्यभव का एक समय कीमती है। वे समय के मूल्य को पहचानते थे।

आज टी.वी. में बहुत विज्ञापन आते हैं; उसमें 'निरमा' का भी विज्ञापन आता है। पूरे विज्ञापन में वह मात्रा निरमा की ही प्रशंसा करता है। वह अपने उत्पाद के विषय में ही बताता है। वह यह नहीं कहता कि 'सर्फ' जैसा खराब कोई नहीं है। निरमावाला सर्फ का नाम इसलिए नहीं लेता है; क्योंकि एक मिनट के विज्ञापन के उसे लाखों रुपए देने होते हैं। वह जानता है कि यदि ऐसे कीमती समय में विरोधी उत्पादों का नाम लेंगे, तो उनके ही उत्पादों का प्रचार होगा, लोग प्रयोग के तौर पर तो उन्हें खरीदेंगे ही। निरमावाला जानता है कि विरोध प्रचार की कुँजी है; अतः वह मात्रा अपने ही उत्पाद का

प्रचार करता है; क्योंकि उसके समय की कीमत है।

ऐसे ही आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मेरे मनुष्यभव की अनमोल कीमत है। जब मेरा एक भी शिष्य यह मानता नहीं है कि — 'ईश्वर जगत का कर्ता है।' तो मैं समय व्यर्थ क्यों करूँ ? यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है — इसकी चर्चा तक नहीं की।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय दूसरे प्रकार की समस्या थी। आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य भले ही ऐसे किसी ईश्वर को नहीं मानते थे जो जगत का कर्ता हो; लेकिन वे सब स्वयं छोटे-मोटे ईश्वर बन बैठे थे। आशय यह है कि कोई देश का, कोई समाज का, कोई संस्था का, कोई परिवार का — ऐसे छोटे-छोटे ईश्वर बन बैठे थे। आचार्य कुन्दकुन्द की समस्या इन छोटे-छोटे ईश्वरों के कर्तृत्वाभिमान को दूर करना था।

यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शिष्यों को सम्बोधित करते हुए लिखा है कि आजतक इस जीव ने किसी का कुछ भी नहीं किया है और न किसी का कुछ कर ही सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि हे जीव ! मैं किसी का कुछ कर सकता हूँ — ऐसा सोचने में अपने मनुष्य भव का कीमती समय मत गँवाओ।

इसपर शिष्य पूछता है कि यदि मैंने ऐसा जान भी लिया, मान भी लिया तो मुझे क्या लाभ होगा ?

ऐसा जानने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि आजतक इस जीव को परकर्तृत्व के विकल्प के कारण आत्मज्ञान, आत्मध्यान करने के लिए समय नहीं मिल रहा था। मुझे समाज का, देश का उद्धार करना है, मुझे साहित्य का सृजन करना है, मुझे संस्था चलानी है — इसप्रकार के विकल्पों के कारण आत्मज्ञान, आत्मध्यान के लिए इसके पास समय नहीं था; लेकिन जब अंतर से इसे यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि मैंने आजतक किसी का कुछ किया ही नहीं, मैं किसी का कुछ कर

ही नहीं सकता हूँ; तब इस जीव के पास जो भी समय है, वह आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान के लिए ही है।

56 आचार्य कुन्दकुन्द की समस्या शिष्यों के मस्तिष्क में से ईश्वर-कर्तृत्व को उतारना नहीं है, अपितु जो वे स्वयं छोटे-छोटे ईश्वर बने हैं, उस ईश्वरत्व के भूत को उतारना है।

प्रवचनसार में ईश्वरनय एवं अनीश्वरनय का प्रकरण आता है। इसमें कहा गया है कि हे जीव ! तेरा कोई ईश्वर नहीं है, तू ही स्वयं का ईश्वर है, तेरे लिए तुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई ईश्वर नहीं है।

इस जीव की यह समस्या है कि इस जीव का कार्य कोई नहीं करेगा। लेकिन हे जीव ! तुम्हें किसी का काम भी तो नहीं करना है; क्योंकि दो द्रव्यों के मध्य वज्र की दीवार है। तू किसी का काम कर ही नहीं सकता और न ही तेरा काम कोई दूसरा कर सकता है। पर में कर्तृत्व का तेरा यह विकल्प निरर्थक ही जानेवाला है।

तब वह प्रश्न करता है कि क्या मारने-बचाने के भाव से पुण्य-पाप का बंध नहीं होगा, यदि इससे पुण्य-पाप का बंध होता है तो आप इसे निरर्थक क्यों कह रहे हो ?

निरर्थक का अर्थ यह है कि जैसा इस जीव ने विकल्प किया है, उस विकल्प के अनुसार दूसरे जीव का बुरा होनेवाला नहीं है। इस जीव ने किसी का अच्छा करने का भाव किया तो उससे किसी का अच्छा होनेवाला नहीं है। यही विकल्प के निरर्थक होने का आशय है। भला होगा तो भी वह उसके स्वयं के कारण से होगा और बुरा होगा तो स्वयं के कारण होगा, इस जीव के विकल्प के कारण नहीं।

किसी अपेक्षा वह विकल्प सार्थक भी है; क्योंकि वह विकल्प नियम से कर्मबंध का कारण है।

अब यह कहता है कि अब मैं सबकुछ समझ चुका हूँ कि मुझे कुछ नहीं करना है, मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूँ, मैंने आजतक कुछ भी नहीं किया है; अब तो मुझे मात्रा अपनी आत्मा का ही ध्यान करना है।

इसपर आचार्य कहते हैं कि जब इस जीव को पर के कर्तृत्व का विकल्प टूटेगा, तब इस जीव का ज्ञानस्वभाव सहज ही प्रगट हो जाएगा एवं स्वतः ही स्वयं को जानने का काम भी हो जाएगा।

यहाँ प्रश्न होता है कि क्या पर को जानना भी नहीं है?

कौन कहता है कि पर को जानना नहीं, स्व-पर को जानना तो इस जीव का स्वभाव है, इस जीव की यह स्वरूप सम्पदा है। स्व-पर को जानना इसकी सम्पत्ति है, विपत्ति नहीं।

आत्मा में एक स्व-परप्रकाशकत्व नामक शक्ति है। जब यह जीव ज्ञाता-द्रष्टा रहता है; तब यह जीव अपने आप में ज्ञानभाव का ही कर्ता रह जाता है।

आत्मा जिस ज्ञान का ज्ञेय बने, वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह तो दूसरे का आत्मा भी हो सकता है। भले ही परपदार्थ आत्मा के ज्ञेय बने; लेकिन वही ज्ञान आत्मा का ज्ञान है। वह ज्ञान पर का कैसे हो सकता है ? परद्रव्य तो मात्र यहाँ ज्ञेय है।

यहाँ परपदार्थ के ज्ञेय होने की बात इसलिए कही; क्योंकि आत्मज्ञान से पूर्व जब यह जीव पर को जानता था; तब इस जीव को दृढ़ विश्वास था कि मैं पर में कुछ कर दूँगा। और जाने बिना पर में कैसे कर सकते हैं। यदि करना है तो जानना तो आवश्यक है ही। पर को भोगना है तो पर को जानना आवश्यक है। इसप्रकार इस जीव को आत्मज्ञान से पूर्व जो जानना होता था; वह पर में कुछ करने के विकल्प सहित जानना होता था।

जब इस जीव को आत्मज्ञान हुआ, पर में कर्तृत्व का भाव छूट गया तो स्वतः ही इसके ज्ञान का ज्ञेय भगवान आत्मा ही रह जाता है। फिर जानने का विकल्प ही नहीं रहता। सहज जानना हो जाता है।

पर को जानने का निषेध नहीं है, पर को विकल्पपूर्वक जानने का निषेध है।

57

यदि पर के जानने का निषेध होता तो सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में लोकालोक आता है; उसके जानने का भी निषेध होता; लेकिन जिनागम में इसका निषेध नहीं है। यदि पर को सहज जानना स्वीकार नहीं करेंगे तो सर्वज्ञ भगवान के पर को नहीं जानने का प्रसंग आयेगा।

आत्मा के ध्यान करने से जब इस जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, तब पर में कर्तृत्व का विकल्प शेष रहता ही नहीं। तब पर को जानने का भी विकल्प कहाँ रहा ? अब अपने आत्मा का जानना भी सहज हो जाता है पर का जानना भी सहज हो जाता है। भाई ! मुक्ति का मार्ग तो सहज का धंधा है।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं —

कहे बनारसी सहज का धंधा, वाद-विवाद करे सो अन्धा।
खोजी जीवे वादी मरे ऐसी साँची कहवति है ॥

कर्त्ताकर्माधिकार का एकमात्रा प्रयोजन इस जीव ने अपने मस्तिष्क पर परकर्तृत्व का जो अनंत बोझा ओढ़ रखा है, उसे उतारना ही है, परकर्तृत्व के अभिमान के पहाड़ से नीचे उतारना ही है।

जो सत्य बड़े-बड़े विद्वानों को 50 वर्ष की उम्र तक समझ में न आ सका, वह सत्य हमें पूज्य स्वामीजी के प्रताप से 20 वर्ष के उम्र में ही समझ में आ गया था।

कर्तृत्वाभिमान बहुत खतरनाक है। अरे भाई! एकबार इस सत्य को स्वीकार करना ही होगा, कर्तृत्वाभिमान को छोड़ना ही होगा।

कर्त्ताकर्माधिकार की विषय-वस्तु पर निष्कषायभाव से गंभीरता से विचार करें तो यह समझ में आए बिना नहीं रहेगी। ●

.....
 अष्टपाहुड़ एक ऐसा अंकुश है,, जो शिथिलाचार के मदोन्मत्त
 गजराज को बहुत काबू में रखता है, सर्वविनाश नहीं करने देता।
 अष्टपाहुड़, पृष्ठ-100

आठवाँ प्रवचन

समयसार के कर्ताकर्माधिकार का मूल प्रदेय यह है कि प्रत्येक द्रव्य पूर्णतः स्वतंत्र है, स्वयं किए हुए कार्यों का वह स्वयं जिम्मेदार है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं का कर्ता-भोक्ता है। कोई परपदार्थ दूसरे का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

यह जैनदर्शन का आधार है, यह सार्वभौमिक सिद्धान्त है। यदि अन्य पदार्थों को अन्य का कर्ता-भोक्ता स्वीकार करते हैं तो सभी द्रव्यों की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। मूल बात यह है कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में रंचमात्रा भी हस्तक्षेप नहीं है।

यद्यपि कार्य की उत्पत्ति में निमित्त और उपादान इन दो कारणों की चर्चा शास्त्रों में आती है। ईश्वर को जगत का कर्ता स्वीकार करनेवाले ईश्वरवादी भी निमित्तकर्ता के रूप में ही ईश्वर को जगत का कर्ता स्वीकार करते हैं; पर जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक द्रव्य में परिणमन की योग्यता स्वभावगत है एवं वह अपने परिणमन में पूर्णतः स्वतंत्र है।

फिर भी यदि हम इसे निमित्त की अपेक्षा स्पष्ट करें तो इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं।

प्रत्येक संसारी जीव का जो परिणमन हो रहा है; उसका उपादान-कारण वह स्वयं है एवं उस परिणमन का निमित्त कर्मोदय है।

जैसाकि आगे बंधाधिकार में कहेंगे कि —

(वसंततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय,
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥168 ॥

58

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते,
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥169 ॥
आत्मख्याति के इन कलशों का पद्यानुवाद इसप्रकार है —
(हरिगीत)

जीवन-मरण अर दुःख-सुख सब प्राणियों के सदा ही।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥168 ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष।
भव-भव भ्रमों मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥169 ॥

आशय यह है कि इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दुःख व सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होते हैं।

स्वयंकृत जीव के मरण-जीवन और दुःख-सुख में कर्मोदय निमित्त है एवं इस जीव की योग्यता उपादान है। अब यह तीसरा अन्य पदार्थ कौन होता है जो इसका कर्ता बने ?

ईश्वरवादी भी इसीप्रकार कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्रा रूप से जिसमें जैसी योग्यता है, तदनुसार परिणमित होता है। इस परिणमन में ईश्वर तो मात्रा निमित्त है, वही एक महानिमित्त है। अब यहाँ तीसरा परद्रव्य कौन है जो इसका कर्ता बने ?

ईश्वरवादी उपादान को स्वीकार नहीं करते हैं — ऐसी बात नहीं है।

जहाँ रामायण में यह कहा गया है कि राम की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता है, जो कुछ भी होता है वह राम की मर्जी से ही होता है।

‘हुई है वही जो राम रचि राखा।’

वहीं दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि —

कर्मप्रधानविश्व करि राखा, जो जस करहिं सो तस फल चाखा।

प्रत्येक जीव स्वयं ही स्वयं की क्रिया का कर्ता है। जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल पाता है। यहाँ यह नहीं कहा गया है कि भगवान जैसा करेंगे वैसा होगा। जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा। — इसप्रकार के कथन निमित्त के रूप में ईश्वर एवं उपादान के रूप में स्वयं की योग्यता से ही कार्य होता है — इसी बात को सिद्ध करते हैं।

इसी भाँति जैनदर्शन में निमित्त के रूप में कर्मोदयादि और उपादान के रूप में स्वयं की योग्यता को ही कार्य का नियामक माना गया है। इससे किसी अन्य परद्रव्य के कर्तृत्व की बात सिद्ध नहीं होती है।

वास्तव में स्थिति तो ऐसी ही है कि इसका किया इस जगत में कुछ भी नहीं होता है; लेकिन कर्तृत्व के अभिमान में अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के कारण यह जीव जिसप्रकार कुत्ता अज्ञानता से बैलगाड़ी के भार को वहन करने का अभिमान करता है; उसीप्रकार यह जीव पर के कर्तृत्व का अभिमान वहन करता है। एक गुजराती कवि ने लिखा है —

‘हुँ करूँ हुँ करूँ येज अज्ञानता, शकट का भार ज्यों स्वान तानें।’

‘मैं करता हूँ’ — इसप्रकार की मान्यता गाड़ी का भार वहन करनेवाले श्वान का भाँति अज्ञानजनित है।

एक बैलगाड़ी में दो बैल जुतते हैं। एक चलती बैलगाड़ी के नीचे एक कुत्ता भी चल रहा था। जैसे—जैसे बैलगाड़ी आगे बढ़ती; वैसे—वैसे यह कुत्ता भी आगे बढ़ता था। अब इस कुत्ते को यह भ्रम हो गया है कि मैं ही इस गाड़ी को ले जा रहा हूँ। यह कुत्ता ऐसे ही समझने लगा कि मैं इस बैलगाड़ी को 10 कि.मी. तक ले आया। जैसे—जैसे वह चलता उसका अभिमान और भी अधिक पुष्ट होता जाता। इतने में एक चौराहा आया और कुत्ते की इच्छा दायें तरफ जाने की हुई; पर गाड़ी बायें तरफ चली गई।

कुत्ता सोचने लगा ‘ये क्या हुआ?’ यह गाड़ी तो मेरी आज्ञा के

अनुसार नहीं चल रही है। तब उसने भौंकना चालू कर दिया। उसके भौंकने से क्या होनेवाला था? गाड़ी तो जहाँ जानी थी, वहाँ जा रही थी। अपने इस अभिमान को उसने बहुत देर तक पाला था कि मैं इस गाड़ी को खींच रहा हूँ।

59

यद्यपि अब उसे अंतर से पता लग गया था कि यह गाड़ी मेरी इच्छा से नहीं चल रही है, मेरे खींचने से नहीं खिंच रही है; फिर भी वह इस कर्तृत्व के अभिमान को छोड़ नहीं सकता था। उसे छोड़ने में कुत्ते को अपना सर्वनाश लगता था। इसलिए कुत्ता जिस तरफ गाड़ी जा रही थी; उसी तरफ दौड़ने लगा। फिर गाड़ी के नीचे चलने लगा और कहने लगा — अच्छा इधर से ही चलते हैं। इसप्रकार वह कुत्ता ‘मैं इस गाड़ी को ले जा रहा हूँ’ — इसी मिथ्या मान्यता में मग्न रहता है।

ऐसे ही, अनादिकाल से यद्यपि यह जगत स्वयं परिणमित हो रहा है; तथापि यह अज्ञानी जीव इस स्वयं परिणमित जगत में ‘मैंने किया’ — ऐसी मान्यता को पुष्ट करता आ रहा है, जब कभी इसकी इच्छा के प्रतिकूल परिणाम होता है तो दुःखी होता है।

यद्यपि इस जीव को भ्रम भंग होते हुए दिखता है, इसे ज्ञात होता है कि मेरे किए कुछ भी नहीं हो रहा है; तथापि यह जीव कर्तृत्वाभिमान के पीछे ही दौड़ता है।

हम कहते हैं कि यह टोडरमल स्मारक या महाविद्यालय हमने चलाया। मैं स्वयं से ही पूछता हूँ क्या मेरी इच्छा इस महाविद्यालय को चलाने की पहले नहीं थी, क्या मात्रा अब हुई है?

यदि राजा श्रेणिक भगवान महावीर के समवशरण में इस महा—विद्यालय के सन्दर्भ में प्रश्न पूछते; तो वे उसीसमय अब की स्थिति को स्पष्ट कर देते। छात्रों की संख्या, अध्ययन आदि सभी कुछ बता देते; क्योंकि हमारे भगवान सर्वज्ञ हैं। ईश्वरवादी भगवान को सर्वज्ञ एवं कर्ता दोनों स्वीकार करता है; परंतु जैनदर्शन भगवान को मात्रा सर्वज्ञ स्वीकार करता है। वर्तमान में यह महाविद्यालय उसी भगवान महावीर के ज्ञान में झलके वस्तुस्वरूप के अनुसार ही चल रहा है;

लेकिन यह जीव अपने कर्तृत्व का पोषण करते हुए कहता है कि मैंने इस महाविद्यालय को चलाया।

इसकी इच्छा तो इस महाविद्यालय को चलाने की ही है; लेकिन जब यह देखता है कि अब यह बंद होने जा रहा है; तब यह ऐसे कहता है कि अब मैं इसे बंद कर देता हूँ। मैंने बहुत किया।

न इसके करने से महाविद्यालय चालू हुआ और न ही इसके बंद करने से महाविद्यालय बंद होनेवाला है। जब जो सुनिश्चित है, वही होनेवाला है। लेकिन यह जीव व्यर्थ ही अपने कर्तृत्व के अभिमान को पुष्ट करता है।

जगत में जितने भी द्रव्य हैं; उन सभी द्रव्यों में अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार परिणमन होता है। प्रत्येक की एक-एक समय की पर्याय की योग्यता सुनिश्चित है।

यदि महाविद्यालय के छात्रों को पढ़ने-पढ़ाने का काल आएगा तो इस जीव को उस जाति का विकल्प भी आएगा। इसतरह यह जीव मात्र विकल्पों को करता है; इसकी सीमा मात्र विकल्पों तक ही है। विकल्प की सीमा भी विकल्प तक ही है — यह बहुत मार्मिक वचन है। इस संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का कर्त्ताकर्माधिकार का कलश की यह पंक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है —

विकल्पकः परं कर्त्ता विकल्पः कर्म केवलम्।

विकल्प करनेवाला कर्त्ता है और वह विकल्प ही उसका कर्म है अर्थात् कार्य है।

हम बड़ी-बड़ी बातें करते हैं और कहते हैं कि मैंने यह सपना देखा था और आज वह साकार हो गया। सत्य तो यह है कि इसने कुछ नहीं किया है, इसने मात्र विकल्प किया है; इसकी सीमा मात्र विकल्प तक ही है, इसके आगे इस जीव का कोई कर्तृत्व नहीं है — यही परमसत्य है।

यदि हमें विकल्प हुआ था तो हमने मात्रा विकल्प ही किया है, इसके आगे कुछ नहीं किया है — यदि यह सत्य हमें अंतर से स्वीकार हो जाय तो अनंतशांति प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगी।

विकल्प ही इस जीव का कार्य है। इसके आगे जो भी होता है, वह इसका कार्य नहीं है। जिनके पुण्यकर्म का उदय होता है, उनके कार्य भी सहज ही विकल्प के अनुसार होते हैं। इस कारण जीव का भ्रम और पुष्ट हो जाता है।

अतः कभी-कभी यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि जिनके पुण्यकर्म का उदय है; उन्हें 'मैं पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ' — यह तत्त्वज्ञान समझाना बहुत मुश्किल है।

उन्हें समझाना इसलिए मुश्किल है; क्योंकि जैसा उन्हें विकल्प होता है, वैसा ही कार्य होता है। तब वे कहते हैं कि मेरे सामने इतने उदाहरण हैं, मैंने जैसा चाहा, वैसा किया।

जब पुण्य क्षीण हो जाता है तो इसके विकल्प के अनुसार कुछ नहीं होता है; तब यह कहता है कि आजतक मैंने जो चाहा वही किया, अब मुझसे कुछ नहीं होगा; क्योंकि अब मेरी कोई सुनता ही नहीं है।

अरे भाई ! इस जीव का पुण्य का उदय परद्रव्य में कुछ नहीं कर सकता है। जगत में जैसा परिणमन होना है, वैसी हमारी भावना का होना — यही पुण्य का उदय है।

जैसे विद्यालय खुलना था और हमें ऐसा विकल्प आ गया कि खुल जाय। — यही पुण्य का उदय है। जब महाविद्यालय को खुलना हो और हमारा विकल्प ऐसा हो कि नहीं खुले तो अच्छा है, तब कार्य के अनुसार हमारा विकल्प नहीं हुआ है अर्थात् हमारा पाप का उदय है। वस्तुतः बात तो यह है कि जैसा होना है, वैसा ही होता है — इसके विकल्प के अनुसार कुछ नहीं होता।

जीव के पुण्य-पाप के उदय से वस्तु में कुछ भी परिवर्तन होनेवाला नहीं है। मान लीजिए किसी कारण से इस महाविद्यालय को बंद होना है; तब इसे यह भाव आता है कि भैया अब इसे बंद कर दो, मेरा शरीर साथ नहीं देता है, अब मुझसे नहीं होता है। इस जीव को ऐसा विकल्प आया और महाविद्यालय बंद होने का काल भी आया। तब यह कहता है कि मैंने इसे बंद कर दिया।

इस जीव के पुण्य-पाप से अन्य वस्तु में कुछ भी नहीं हुआ। जैसा जगत में होना है, उसके अनुरूप ही इस जीव का विकल्प हुआ – यही पुण्य का उदय है। इससे इस जीव को अनुकूलता का वेदन हुआ –

‘अनुकूलवेदनीयं सुखं एवं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं।’

संसार में सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म के उदय से जो सुख-दुःख होते हैं; वे सांसारिक सुख-दुःख हैं, आत्मिक सुख नहीं, अतीन्द्रियानन्द नहीं। वस्तुस्वरूप के अनुसार जैसा जो परिणमन हो रहा है; उसमें इस जीव को अनुकूलता का वेदन होना ही सुख है और पुण्य के उदय से ही इस जीव को अनुकूलता का वेदन होता है। लेकिन जगत में इससे कोई परिवर्तन नहीं होता।

आज एक आदमी को 12 बजे की रेल से जाना है। उसे स्टेशन पर पहुँचने में देरी हो जाती है। वह आधा घंटा देर से स्टेशन पर पहुँचता है। गाड़ी 12 बजे जानेवाली थी और वह 12.30 बजे पहुँचता है। तभी उसे पता चलता है कि गाड़ी भी आधा घंटा विलम्ब से जा रही है। क्या इस व्यक्ति के विकल्प के कारण वह गाड़ी देर से जा रही है? क्या इस व्यक्ति के पुण्य के उदय के कारण वह गाड़ी देर से जा रही है?

वह गाड़ी तो दिल्ली से ही आधा घंटे विलम्ब से चली थी। लेकिन इसको ऐसा विकल्प आया और फोन करके पूछा तो पता चला कि गाड़ी आधे घंटे विलम्ब से आएगी। तब यह कहता है कि – ‘अच्छा हुआ, मेरे पुण्य का उदय था जो गाड़ी आधे घंटे देरी से आ रही है। यह गाड़ी के विलम्ब से आने को अपने पुण्य के उदय से जोड़ता है। क्या उस गाड़ी के विलम्ब होने में इसके पुण्य का कुछ भी योगदान है? क्या उस गाड़ी में बैठे यात्रियों का कुछ पुण्य-पाप का उदय नहीं होगा? जिस द्रव्य का परिणमन हुआ; क्या उसने स्वयं में कुछ नहीं किया?’

इसप्रकार यह जीव स्वयं पुण्य के उदय से परद्रव्य में कार्य हुआ – ऐसा मानकर स्वयं का मिथ्यात्व पुष्ट करता है।

पुण्य के उदयवालों की अपेक्षा पाप के उदयवालों के लिये समझने के अवसर बहुत हैं; क्योंकि उनके विकल्प के अनुसार जगत में एक भी

काम नहीं होता है। वह जहाँ जाता है, वहाँ उसे अपयश ही मिलता है; श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कार्य करता है, लेकिन उसका श्रेय उसे मिलता ही नहीं। उसे कदम-कदम पर यह पता लगता है कि मेरे किए कुछ भी नहीं होता है। यहाँ किसी पाप के उदयवाले को श्रेष्ठ और पुण्य के उदयवाले को नीचा दिखाने की बात नहीं चल रही है; लेकिन तत्त्वज्ञान समझने के अवसर किसे अधिक है – इसकी चर्चा चल रही है।

पाप के उदयवाले के पास मेरे किए कुछ नहीं होता है – इसके उदाहरण अधिक मिलेंगे; जबकि पुण्य के उदयवाले को ऐसे निमित्त अधिक नहीं मिलते हैं; क्योंकि उसे मात्रा अनुकूलता-अनुकूलता का ही वेदन होता है।

यदि पुण्य के उदयवाले के काललब्धि आ जाय, अंतर से यदि ज्ञान होना हो तो वह वस्तुस्वरूप समझता है। यद्यपि बाह्य में उसके विकल्प के अनुसार ही सबकुछ होता है; लेकिन फिर भी वह यही दृढ़निश्चय करता है कि मेरे किए कुछ भी नहीं होता है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ऐसे ही पुण्यशाली थे। उनके मन में जैसा विकल्प आता था, वैसा ही कार्य होता था। यहाँ परमागम मन्दिर बन जाय – ऐसा विकल्प आया, वचन से निकला नहीं कि लोगों ने उसे झेल लिया और परमागम मन्दिर तैयार हो गया।

जगत में तो अधिकांश ऐसा होता है कि प्रेरणा देते-देते थक जाते हैं, हाथ जोड़ते हैं, उपवास करते हैं, विद्रोह करते हैं; लेकिन तब भी काम नहीं बन पाता है – इतना होने पर भी काललब्धि आये बिना अज्ञानी कर्तृत्वाभिमान को छोड़ता नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री की विकल्प पूर्ति होने पर भी वे यही कहते थे कि ‘इसमें मैंने क्या किया? जगत के जीवों का भाग्य था, सो तत्त्व की बात बाहर आ गई।’

यह कोई नियम नहीं है कि पुण्य के उदयवाले को तत्त्वज्ञान समझ में नहीं आए और पाप के उदयवाले को जल्दी समझ में आ जाए; लेकिन पाप के उदयवाले को तत्त्वज्ञान समझने के अवसर

(निमित्त) अधिक हैं। उसे कदम-कदम पर वैराग्यादि के अवसर प्राप्त होते हैं।

स्त्री अनुकूल नहीं है, घर भी रहने योग्य नहीं है; इसप्रकार वैराग्य के निमित्त मिलते ही रहते हैं।

पुण्य के उदयवाले को स्त्री, पुत्रा, मकान, मित्रा — सभी अनुकूल रहते हैं; उसे वे सभी छोड़ना नहीं चाहते हैं; लेकिन जिसे वैराग्य होना होता है तो उसे इतने सारे अनुकूल निमित्त मिलने पर भी वैराग्य होता ही है। पाप के उदयवाले को वैराग्य के इतने सारे निमित्त मिलने पर भी वह संसार में ही कीड़ों जैसा सड़ता रहता है।

यदि यह जीव कर्तृत्व के अभिमान को छोड़े बिना घर भी छोड़ दे तो भी कुछ भी छूटनेवाला नहीं है। एक घर छोड़ेगा तो हजार घर बनाने की योजना बनाएगा। यदि यह कर्तृत्वाभिमान जीव गृहस्था-वस्था में रहता है तो दो कमरे का मकान बनाता है और कर्तृत्वाभिमान छोड़े बिना त्यागी बनता है तो दो सौ कमरे चाहिए। हर गाँव में कमरे बनवाता है। जंगल में चला जाय तो जंगल में भी मकान चाहिए; ऊपर से उस कार्य को यह मंगल मानता है कहता है कि जंगल में मंगल कर दिया। जिस कार्य में जमीन खोदना, वृक्ष काटना आदि सावध कार्य सम्मिलित हैं; वह कार्य मंगल कैसे हो सकता है ?

पुराना मकान तुड़वाकर अपनी योजना के अनुसार नया मकान बनवाना चाहता है; जबकि ऐसे योजनापूर्वक किए गए कार्यों में अनंत हिंसा होती है — इस ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती है। मकान का विकल्प मात्रा गृहस्थावस्था में एक आश्रयस्थल तक ही सीमित होना चाहिए; पर वह यदि योजनापूर्वक स्वप्नों के महल बनाता है तो इससे अनंत पाप लगे बिना नहीं रहता है।

यही कारण है कि कर्तृत्वबुद्धि, एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धि टूटे बिना त्याग संभव नहीं है।

भगवती आराधना में स्पष्ट लिखा है कि मुनि उद्दिष्ट आहार के साथ उद्दिष्ट निवास के भी त्यागी होते हैं। वसतिका वह होती है जो जंगलों में एवं पर्वतों में गृहस्थ लोग बनाते हैं, उसमें किवाड़ भी नहीं होते हैं। ऐसे

स्थान पर मुनि रहते हैं, मुनि यदि किवाड़ लगावें तो यह मकान नामक परिग्रह हुआ। यदि मन में, वचन में, काया में किंचित् भी उस वसतिका के प्रति रागभाव आए तो वह वसतिका उद्दिष्ट हो जाती है। उसका संपूर्ण पाप उन्हें लगता है। जो ऐसी वसतिका में अपने उपयोग को भ्रमाता नहीं है — वही सच्चा साधु है।

वर्तमान में कहीं-कहीं तो धर्मशाला में यह नियम बना हुआ है कि यहाँ महाराजजी के अलावा कोई नहीं रहेगा। धर्मशालाएँ श्रावकों के जो काम घर में नहीं हो पाते थे, उन कार्यों के लिए बनाई गई थी; लेकिन आज यदि गाँव-गाँव की धर्मशाला में ऐसे नियम बनने लगे तो गृहस्था-वस्था में जहाँ उनके दो कमरे थे; त्यागी अवस्था में तो दो सौ कमरे हो जाएँगे।

एकत्वबुद्धि टूटे बिना, भोक्तृत्वबुद्धि टूटे बिना यदि त्याग होगा तो उसका स्वरूप ऐसा ही होगा; उसमें हम कुछ नहीं कर सकते हैं। यह वस्तु का स्वरूप है। हम और आप इसमें क्या कर सकते हैं ?

हमारी सीमा मात्रा विकल्प तक ही है, इससे आगे हम कुछ नहीं कर सकते हैं। जो हमें विकल्प होता है, उस विकल्प के कारण ही पुण्य-पाप का बंध होता है। यह जीव इस विकल्प का ही भोक्ता है, इससे आगे इसकी कोई मर्यादा नहीं है।

इस बात को समझने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इस जीव का कर्तृत्व का बोझा उतर जाएगा, तब यह अपने आत्मा में चला जाएगा। कर्तृत्वाभिमान के बोझ के कारण ही इस जीव के पास आत्मा को जानने के लिए समय नहीं था। जब यह कर्तृत्वाभिमान का बोझा उतर जाएगा तब यह स्वयमेव ही आत्मा में समा जाएगा।

इस जीव की ऐसी स्थिति है कि यदि इसे कहते हैं कि भाईसाहब! आराम करो। तब यह कहता है — 'नहीं-नहीं; यदि मैंने हाथ हटाया तो छत नीचे आ जाएगी।' यह ऐसा मानता है कि मैंने ही इस छत को थाम रखा है।

यदि कोई ऐसा माने की मैंने इस इमारत की छत को थाम रखा है, तो क्या कभी उसे सामायिक करने का, समयसार पढ़ने का, प्रवचन सुनने का समय मिलेगा ? नहीं मिलेगा, क्योंकि हाथ हटाकर यह सब करेगा तो इसकी मान्यतानुसार छत गिर जाएगी। वस्तुस्थिति ऐसी है कि छत गिरनेवाली नहीं है।

यह पैरों में दर्द होकर गिर जाता है, तब छत से हाथ छूटता है; लेकिन छत नहीं गिरती है। इसे अहसास भी होता है कि इसके हाथ छूटने से छत गिरनेवाली नहीं है; लेकिन तब भी अपने कर्तृत्वाभिमान को पुष्ट करने के लिए छत थामे रहता है और कहता है कि यदि मैं दुबारा हाथ लगाने में देर करता तो छत गिर जाती।

यद्यपि छत का इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। फिर भी उसकी मान्यता में यही है कि मैंने इस छत को थाम रखा है। यह मान्यता ही इस जीव को अनंत दुःख देने के लिए पर्याप्त है, अनंतकाल तक संसार में रखने के लिए पर्याप्त है। यह भूखों मर जाएगा, पैर सूज जाएँगे; न मालूम क्या-क्या तकलीफे सहेगा ? इसके मूल में मात्रा एक छोटी-सी मान्यता है कि मैंने हाथ हटाया और छत गिर जाएगी।

क्या ऐसा भी कोई मूर्ख इस संसार में होगा ?

भाईसाहब ! ऐसे मूर्ख आज गली-गली में बैठे हुए हैं। सभी ने किसी न किसी वस्तु पर ऐसा ही मान रखा है कि यदि मैं नहीं रहूँगा तो ये सब बिखर जाएगा। अतः कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त इस जीव की भी वही दुर्दशा होनेवाली है, जो उस छत को पकड़नेवाले जीव की हुई।

यह व्यक्ति बीमार पड़ जाता है, महिनों अस्पताल में पड़ा रहता है; फिर भी सब वैसा का वैसा ही चलता रहता है; जैसा पहले चलता था। इसके बीमार पड़ने से उसमें कोई अंतर नहीं आता है। यहाँ इसे यह समझने का अवसर मिला है कि इस जीव के नहीं रहने पर भी सब चल रहा है, इसका अर्थ यह है कि इसके करने से कुछ नहीं होता है, जो जैसा होना है वैसा ही होता है। ऐसा होते हुए भी वह यही कहता है

— 'मैं अस्पताल में बैठे-बैठे भी निर्देश दे रहा था, सभी तरफ मैंने फोन करके बात की थी।' इसप्रकार यह अपने कर्तृत्वाभिमान को ही पुष्ट करता है।

63

यह जीव कर्तृत्वाभिमान के विकल्प में ही न मालूम क्यों उलझा रहता है ? 'इसके बिना दुनिया का कोई काम रुकनेवाला नहीं है। सब जैसा होता है वैसा ही चलेगा।' ऐसा समझने के कितने अवसर मिलते हैं; लेकिन यह जीव इसे समझना ही नहीं चाहता।

वस्तुतः सत्य तो यह है कि यह जीव इस अभिप्राय को छोड़ना ही नहीं चाहता, वह इस सत्य को समझना ही नहीं चाहता कि इसके बिना भी काम चल सकता है। यह कहता है कि मुझे यह सुनना ही नहीं है।

यह प्रतिदिन कर्तृत्वाभिमान की ही खुराक चाहता है। यह ऐसा सुनना चाहता है, 'साब, आप नहीं होंगे तो हमारा क्या होगा ? सब अनाथ हो जाएँगे, सब बिखर जाएगा।'।

यह सुनना इस जीव को पसंद नहीं कि 'आपने क्या किया ? आप करते भी क्या हो ? आप चले जाओ तो भी कुछ होनेवाला नहीं है; बिल्कुल वैसा का वैसा चलनेवाला है, आप चिंता क्यों करते हो ?' यह जीव ऐसा कहने वाले को अपना विरोधी समझता है।

सासुओं को ऐसी बहुएँ नहीं चाहिए जो ऐसा कहे, 'अम्माजी अब आप आराम कीजिए; अब आपको कुछ करने की जरूरत नहीं है।' उन्हें तो ऐसी बहुएँ चाहिए जो ऐसा कहे — 'सभी कार्य आप ही कर रहीं हैं, हम क्या कर रहे हैं; आखिर सलाह तो आप ही देती हैं; उससे ही काम होता है। आपके एक इशारे से ही सब काम होते हैं, यह आपका ही पुण्य-प्रताप है।'।

प्रत्येक को इस सत्य को स्वयं पर घटित करके सोचना चाहिए, स्वयं पर घटित करने से ही कल्याण होगा।

यह इस कर्तृत्वाभिमान को छोड़ना ही नहीं चाहता। कोई न कोई

उपाय करके इसे अपने ही पास रखना चाहता है, इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं।

इस टोडरमल स्मारक के निर्माण में जिन लोगों ने मेहनत की; उन लोगों को मान लो यह विकल्प है कि मैंने यह किया। उदाहरण के लिए समझ लीजिए कि मुझे यह विकल्प है कि 'मैंने यह किया।' कोई धर्मात्मा ज्ञानी समझाता है, 'तुमने यह कुछ नहीं किया है, भ्रम में मत रहना कि पण्डित टोडरमल स्मारक और पण्डित हुकमचन्द भारिल्ल एक हैं। वे दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। तू चला जाएगा और ये कायम रहनेवाला है। इसमें तेरा एकत्व नहीं है। तू इसका कर्ता भी नहीं है।'

तब यह कहता है — 'चलो, मैं मानता हूँ कि मैं इसका कुछ भी नहीं हूँ; लेकिन काम तो अच्छा हुआ है न ! मैंने नहीं किया, लेकिन महाविद्यालय चल रहा है, धार्मिक अध्ययन हो रहा है, त्रिमूर्ति मंदिर बन गया है — ये काम तो बढ़िया हुये हैं न !'

'हाँ साब ! काम तो बढ़िया हुये।'

'फिर सब ठीक है, अब हमें आपसे कोई नाराजगी नहीं है, काम तो बढ़िया हुआ न !'

इस बहाने अपने कर्तृत्व को कायम रखना चाहता है। इसके अंतर से कर्तृत्व की वासना टूटती नहीं है; जीव की इसी मान्यता का खंडन करने के लिए आचार्यदेव ने पुण्यपापाधिकार लिखा है।

वास्तव में देखा जाय तो कर्ताकर्माधिकार, जीवाजीवाधिकार का ही उत्तरार्द्ध है और पुण्यपापाधिकार में भी जीव और अजीव की भिन्नता को ही स्पष्ट किया गया है।

जीवाजीवाधिकार में एकत्व और ममत्वबुद्धि के माध्यम से इस जीव को पर से भिन्न बताया। कर्ताकर्माधिकार में कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि के माध्यम से इस जीव को पर से भिन्न बताया।

पुण्यपापाधिकार में यह स्पष्ट किया गया है कि इस जीव के अंतर में जो विकल्प हैं कि मैंने काम तो नहीं किया; लेकिन काम तो

अच्छा हुआ न ! इसप्रकार यह जीव कार्य में अच्छे कार्य और बुरे कार्य — इसप्रकार दो भेद डालता है। कुछ कार्य अच्छे होते हैं — ऐसा कहकर वह पुण्य कर्म एवं कुछ कार्य बुरे होते हैं — ऐसा कहकर वह पाप कर्म की तरफ संकेत करता है। वह मात्रा अच्छे तक ही सीमित नहीं रहता है, वह अपने विकल्पों को और दौड़ाता है। 'अच्छा हुआ' यह उत्तर सुनकर अंतर से कर्तृत्व की मान्यता को ही पुष्ट कर लेता है।

तब आचार्य कहते हैं — 'दुनिया में कोई कार्य अच्छा-बुरा नहीं होता है, कार्य तो कार्य होता है। कर्म में अच्छे-बुरे का भेद करना सबसे बड़ा अधर्म है।'

इसप्रकार पुण्यपापाधिकार में पुण्यकर्म भला और पापकर्म बुरा — इसप्रकार की मान्यता पर चोट की है।

कर्म इस जीव को संसार में प्रविष्ट कराते हैं और जो इस जीव को संसार में प्रविष्ट कराये; वह सुशील कैसे हो सकता है ? इसप्रकार की बात पुण्यपापाधिकार के आरम्भ में ही आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं।

मूलगाथा इसप्रकार है —

'कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।'
(हरिगीत)

सुशील है शुभ कर्म और अशुभ कर्म कुशील है।

संसार के हैं हेतु वे कैसे कहे कि सुशील हैं ? ॥१४५॥

जगत कहता है अथवा व्यवहारनय कहता है कि शुभकर्म सुशील है और अशुभकर्म कुशील है; लेकिन जो संसार में प्रवेश कराये; वह चाहे शुभकर्म हो या अशुभकर्म; वह सुशील कैसे हो सकता है ? अर्थात् कर्म में कुशील और सुशील — इसप्रकार के भेद डालना सम्यक् नहीं है।

जिसप्रकार डाकू में अच्छे डाकू और बुरे डाकू; चोरों में अच्छे चोर और बुरे चोर; हिंसा में अच्छी हिंसा और बुरी हिंसा, मिथ्यात्व में

अच्छा मिथ्यात्व और बुरा मिथ्यात्व — इसप्रकार का भेद नहीं डाला जा सकता है; वैसे ही कर्म में भी अच्छे कर्म और बुरे कर्म — इसप्रकार भेद कैसे डाला जा सकता है ?

डाकू भी कह रहे हैं और अच्छे भी कह रहे हैं — यह नहीं हो सकता; लेकिन जगत के जीवों में कर्तृत्व का मोह इतना गहरा है कि वह अज्ञान से कर्म में भी अच्छे और बुरे की कल्पना करता है। इसे हम इस रोचक उदाहरण से समझ सकते हैं।

एक महिला का अपहरण करने के लिए चार गुंडों ने योजना बनाई। चारों गुंडों में से दो गुंडे एक गाड़ी में आए एवं भरे चौराहे पर उस महिला से छेड़छानी करने लगे। उन्हीं के साथी दूसरे दो गुंडे दूसरी कार में आए एवं उन छेड़छाड़ करनेवाले गुंडों को रोकने लगे। जब वे छेड़छाड़ करने से रुके नहीं तो उन्होंने उन दो गुंडों के साथ मारपीट कर उन दोनों को भगा दिया। उसके बाद उस महिला से वे दोनों बोले — 'बहन ! तुम्हें कहाँ जाना है।'

वह महिला बोली — 'मेरा घर बापूनगर में है।'

इसपर वे दो गुंडे बोले — 'चलो बहन ! गाड़ी में बैठ जाओ; हम तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देते हैं, नहीं तो ये गुंडे तुम्हें फिर परेशान करेंगे।'

वह महिला खुशी-खुशी उनके साथ जाने के लिए तैयार हो गई। अब उन दो गुंडों को पुलिस का भी डर नहीं है। पुलिस पूछेगी तो भी वह यह तो बतानेवाली नहीं है कि ये मेरा अपहरण करनेवाले हैं। वह यही बताएगी की ये मेरे भाई हैं।

जब इस महिला को लेकर गुंडे अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं; तब वह वहाँ देखती है कि छेड़छाड़ करनेवाले दो गुंडे भी वहीं बैठे थे।

अपहरण करने के लिए तो चारों एक से हैं, लेकिन दो सज्जनता का व्यवहार करके ले गए और दो ने दुर्जनता का व्यवहार किया। पूछने पर वह महिला कहती है — 'दो नालायक, मुझसे छेड़छानी करने लगे थे तो दो भले आदमी आए और उन्होंने मुझे बचा लिया।'

इसप्रकार यह महिला उन्हें भला कहती है; जबकि वे चारों ही गुंडे हैं, लुटेरे हैं; उसकी इज्जत लूटनेवाले हैं। उनमें भला कोई भी नहीं है।

65 ऐसे ही इस पुण्य ने इस आत्मा की संपूर्ण संपत्ति लूट कर, दो रोटियाँ इस जीव के सामने डाल दी तो इस जीव को पुण्य भला दिखने लगता है। इस जीव की अतीन्द्रिय आनंद की सम्पत्ति लूट ली; इसकी तरफ इस जीव का ध्यान ही नहीं जाता है।

थोड़ी-सी विषय-कषाय की सामग्री जुट जाती है तो जीवनभर 'मैं करूँ' 'मैं करूँ' इसी विकल्प में उलझा रहता है। धन्यवाद ! के दो शब्द सुनने के लिए सारा जीवन कर्तृत्वाभिमान के विकल्प में ही उलझा रहता है। सारा जीवन इसमें ही लगाता है। कभी-कभी जब इसके ऊपर आरोप लगते हैं, जेल जाने की नौबत आती है; तब यह समाज को गाली देने लगता है। जो कुछ भी हुआ है, वह सब इसके पुण्य-पाप अनुसार ही हुआ है, क्रमबद्धपर्याय अथवा सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसा झलका था, वैसा ही हुआ है।

ऐसे भी इस जगत में जीव हैं, जिन्होंने टोडरमल स्मारक के निर्माण के समय कुछ सहयोग नहीं दिया, विकल्प भी नहीं किया; वे बापूनगर में ही रहते हैं। इनको तो एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि कुछ नहीं होना चाहिए; लेकिन ये व्यक्ति भी कहते हैं, 'साब ! हम भी दिगम्बर जैन हैं, हमें इसका उपभोग करने का अधिकार तो है ही। हम आपके मंदिर के दर्शन तो कर ही सकते हैं; हम आपके प्रवचन तो सुन ही सकते हैं।' इसप्रकार यह जीव कहता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ तो भोक्ता तो हूँ ही — इसप्रकार यह जीव कोई न कोई उपाय करके परद्रव्य पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है।

आशय यह है कि यह जीव न सही एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व; तो भी भोक्तृत्व के बहाने परद्रव्य से जुड़ना चाहता है।

यह जीव कहता है, 'मेरा कुछ भी नहीं है — समझ लो मेरा आने का भी अधिकार नहीं है; लेकिन यह काम तो बढ़िया हुआ न !'

इसप्रकार यह जीव बढ़िया और बुरा — इस भेद के बहाने के नीचे

अपने कर्तृत्व को ही पुष्ट करना चाहता है। पुण्यपापाधिकार में जीव की इसी प्रवृत्ति का निषेध किया गया है।

पुण्यपापाधिकार में आचार्य कहते हैं — 'जो वस्तु जैसी है; वह वैसी अपने स्वभावानुसार है। वस्तु में कोई अच्छा-बुरा भेद नहीं है। ज्ञान का कार्य वस्तु में अच्छा-बुरा भेद करना नहीं है। ज्ञान का कार्य जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही जानना है।

वस्तु में अच्छे-बुरे का भेद डालना — यह राग का कार्य है। यह मेरा है, यह मेरा नहीं है — इसप्रकार स्व-पर का भेद करना — यह श्रद्धा का कार्य है।'

यह जीव वस्तु में मात्रा अच्छे-बुरे का ही भेद नहीं करता; अपितु इसके माध्यम से वह वस्तु में उपादेयबुद्धि रखना चाहता है। वह कहता है 'ऐसा काम होना चाहिए, होते रहना चाहिए, ऐसे कामों की अनुमोदना होनी चाहिए।'

यहाँ अनुमोदना का निषेध नहीं है; लेकिन जैसे पुण्य-पाप कार्य में कृत-कारित अनुमोदना एक जैसे ही है; वैसे ही क्या मिथ्यात्व में कर्त्तावाद में कृत-कारित अनुमोदना एक जैसी नहीं होगी। आशय यह है कि उपादेयबुद्धि के माध्यम से भी यह जीव कर्तृत्व का ही पोषण करता है।

जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है। जैनदर्शन 'करने का' दर्शन नहीं है; जैनदर्शन 'होने का' दर्शन है। जैनदर्शन में 'ऐसा होता है' इसप्रकार की शैली है, वह कर्तृत्व को पुष्ट नहीं करती है। जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक जीव स्वयं का कर्त्ता है, पर का नहीं। इस संदर्भ में अमृतचन्द्र आचार्यकृत कर्त्ताकर्माधिकार का यह कलश महत्त्वपूर्ण है —

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।

या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।

(हरिगीत)

कर्त्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है।

है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं।।

66

जो परिणमित होता है, वह कर्त्ता है; परिणमित होनेवाले का जो परिणाम है, वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है। निश्चय से ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अभिन्न ही हैं। वस्तुतः एक ही हैं।

दो द्रव्यों के मध्य कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध होता ही नहीं है। कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध एक ही द्रव्य में होता है। इस जीव ने जाननेरूप कार्य किया तो यह जीव मात्रा जाननक्रिया का ही कर्त्ता है।

जो पुद्गल का बना है, वह पुद्गल का ही कार्य है। मिट्टी का जो घड़ा बना है, वह मिट्टी का ही कार्य है। कुम्हार मात्रा उस घड़े का निमित्त है। 'मैं घड़ा बनाऊँ' — ऐसा जो विकल्प है, उस विकल्प का ही कुम्हार वास्तविक कर्त्ता है। इस विकल्प का कर्त्ता अज्ञानी ही बनता है; ज्ञानी ऐसे विकल्प का भी कर्त्ता नहीं बनता।

ज्ञानी ज्ञानभाव करता है और अज्ञानी अज्ञानभाव। ज्ञानी जानता है कि मेरे में यह विकल्प हुआ और इसका कर्त्ता भी मैं ही हूँ। लेकिन ज्ञानी उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं करता है; वह उस विकल्प को करना नहीं चाहता है। वह उसका सहज ज्ञाता-दृष्टा रहता है। ज्ञानी यह नहीं कहता कि मैंने विकल्प किया था।

ज्ञानी यह नहीं कहता कि मैंने सपना देखा था। वह यह कहता है कि मुझे सपना दिखा था; क्योंकि वह उस सपने का ज्ञाता है।

ज्ञानी से पूछते हैं कि आपने सपना लाया था या आपको सपना आया था। तब ज्ञानी कहता है कि सपना आया था। तो फिर पूछते हैं कि आपने क्या किया था — तब यही उत्तर आएगा कि जाना था। फिर क्या किया — फिर जो हुआ उसे जाना। फिर क्या किया — जानना और सपना एक साथ हो रहे हैं — ये जाना।

तब यह ज्ञानी से पूछता है — 'क्या आपने सबकुछ जाना ही जाना है या कुछ किया भी है?'

तब ज्ञानी कहता है कि मेरी सीमा जानने तक ही है; इसके आगे मेरी मर्यादा नहीं है।

वजन तोलने की मशीन है; उसपर जो भी व्यक्ति खड़ा होगा, वह उसका वजन बता देगी। चाहे वह सम्राट हो चाहे रंक। उस पर सामान भी रख दो तो वह उसका वजन भी बता देगी। जो भी उसका वजन होगा, वह बता देगी।

जिसप्रकार वजन तोलने की मशीन अपना काम ईमानदारी से करती है, वैसे ही जानना आत्मा का कार्य है। तो जो भी वस्तु उसके जानने में आए, वह उसे वैसी जान ले।

जिसप्रकार मशीन ऐसा नहीं कहती कि नहीं-नहीं मैं इसका वजन नहीं बताऊँगी। यदि वह ऐसा कहे कि मैं पर का वजन नहीं बताऊँगी और स्व का ही वजन बताऊँगी; तब वह मशीन ही नहीं है। ऐसे ही जो स्वद्रव्य को जाने, परद्रव्य को न जाने — ऐसा भेद करे; वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता है।

ज्ञान का तो स्वभाव है कि जो उसके ज्ञान में आए, उसे जान ले। जो जानने में आ रहा है उसे जाने और जो जानने में नहीं आ रहा है, उसे नहीं जाने। तात्पर्य यह है कि जो जानने में नहीं आ रहा है, उसके जानने की आकुलता नहीं करें।

चाहे वह आत्मा को जानने का विकल्प हो चाहे पर को; जहाँ-जहाँ विकल्प है, वहाँ-वहाँ आकुलता है। जानना बुरी बात नहीं है और जानने का विकल्प होना अच्छी बात नहीं है।

यह जैनदर्शन का कर्त्ताकर्माधिकार है। जबतक इस जीव को जैनदर्शन का यह अकर्त्तावाद समझ में नहीं आएगा; तबतक यह जीव मोक्षमार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। अतः इस कर्त्ताकर्माधिकार पर चिंतन-मनन करना अत्यंत आवश्यक है। ●

नौवाँ प्रवचन

67

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रा से मुक्ति की प्राप्ति होती है और जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रा की प्राप्ति होती है; वह भगवान आत्मा 29 प्रकार के वर्णादि एवं रागादिभावों से भिन्न है। यह भगवान आत्मा परपदार्थों से भिन्न है और परपदार्थों के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले विकारीभावों से भी भिन्न है। न ये परपदार्थ आत्मा हैं और न ही इन परपदार्थों में आत्मा की कुछ सत्ता है; इनके साथ इस भगवान आत्मा का कोई भी संबंध नहीं है। इसप्रकार जीवाजीवाधिकार में परपदार्थों में एकत्व और ममत्वबुद्धि का निषेध किया।

कर्त्ताकर्माधिकार का मूल प्रदेय यह है कि यह भगवान आत्मा परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के कारण, अनादिकालीन संस्कारों के कारण परद्रव्य के साथ इस आत्मा का एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बहुत गहराई से जुड़ा हुआ है; अतः अकेले शास्त्रों के पढ़ लेने से या ज्ञानी धर्मात्माओं को सुन लेने मात्रा से वह कर्तृत्व टूटता नहीं है। वस्तुतः बात तो यह है कि आत्मानुभव के बिना परकर्तृत्व टूटता ही नहीं है, छूटता ही नहीं है।

इस जीव ने अपने माथे पर सारी दुनिया के करने का बोझा ले रखा है और यही आत्मानुभव में सबसे बड़ी बाधा है। इस कर्तृत्व के भार में यह जीव इतना दब गया है कि इसे आत्मा का अनुभव तो दूर, उसके बारे में सोचने का भी समय नहीं है।

कर्त्ताकर्माधिकार में अनेक तर्क और युक्तियों के माध्यम से जीव की इस मिथ्या मान्यता को दूर करने का सफल प्रयास किया गया है। इस अधिकार में कहा है कि इस जीव ने आजतक न जगत का कुछ किया है, न कर रहा है और न ही भविष्य में करेगा। इसकी सीमा तो इसके विकल्पों तक ही है।

विकल्प करनेवाला आत्मा विकल्परूप कर्म का ही कर्ता है। जो विकल्प हुआ है, उस रूप ही आत्मा परिणमित हुआ है। ज्ञानी धर्मात्मा विकल्प को भी अपना कार्य स्वीकार नहीं करते हैं; क्योंकि उनमें उनकी कर्तृत्वबुद्धि नहीं है। ज्ञानी जीव विकल्प के ज्ञान के कर्ता हैं, वे विकल्प के कर्ता नहीं हैं; लेकिन अज्ञानी आत्मा, संसारी आत्मा तथा अशुद्धनिश्चयनय से ज्ञानी आत्मा भी उस रूप परिणमित अवश्य हुए हैं। इसकारण अशुद्धनिश्चयनय से वे उसके कर्ता भी कहे जाते हैं।

वस्तुतः विचार किया जाय तो आत्मा इन रागादि का भी कर्ता नहीं है। पर के कर्ता होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

जिनवाणी में जहाँ भी इस आत्मा को पर का कर्ता कहा गया है; वह सब व्यवहारनय का कथन है। जैसे, राजा सेना के साथ निकले तब हम कहते हैं कि 'राजा निकला' जबकि इतने बड़े लवाजमें में हाथी, घोड़े, सेना और हथियार भी हैं और इन सबमें राजा तो एक ही है; लेकिन तब भी हम उस तामझाम को राजा ही कहते हैं। इसीप्रकार वर्णादि और रागादि का जो 29 प्रकार का तामझाम है, उसे यहाँ जीव कह दिया गया है।

उनमें राजा एक है, शेष हजारों लोग राजा नहीं हैं। हजारों लोगों के मरने से राजा मरा — ऐसा नहीं होगा। ऐसे ही ये वर्णादिभाव हैं — इन सबको मिलाकर जीव कहने की लोक में पद्धति है; लेकिन उस जीव के आश्रय से धर्म नहीं होता। उस जीव के आश्रय से तो अहिंसात्मक आचरण की सिद्धि होती है। ये भी जीव हैं, इनके साथ दया का व्यवहार करो — इसप्रकार व्यवहार होता है; इसीलिए उन्हें जीव कहा गया है; बिना प्रयोजन उन्हें भी जीव नहीं कहा गया है।

वास्तव में वे जीव नहीं हैं; उनके कर्तृत्व का भार भी इसके माथे पर नहीं है; यही कर्ताकर्माधिकार की मूल विषय—वस्तु है।

प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी—अपनी दृष्टि में जो भी काम किया है,

68

उसकी लम्बी सूची बना रखी है। मैंने इतना दान दिया, मैंने इतने जीवों की रक्षा की, इतनों का परोपकार किया, इतने छात्रों को पढ़ाया—लिखाया — इसकी इसने लम्बी सूची बना रखी है; लेकिन यदि इससे पूछा जाय कि तुमने कितनों की हत्या की ? कितना झूठ बोला ? कितनी चोरी की ? तो इसकी सूची इसके पास नहीं है। अरे भाई! इनकी भी सूची होनी चाहिए न ?

जिसप्रकार यह मानता है कि मैंने दया, दान, व्रत, शील, संयम शुभकार्य किए हैं; वैसे ही इसने अशुभकार्य, पापकार्य भी तो किये हैं। पर इन अशुभकार्यों की सूची इसके पास नहीं है। किसी ने इस सूची को रखा नहीं और रखने योग्य समझा नहीं।

आचार्य यहाँ पाप की सूची रखने के लिए नहीं कह रहे हैं; वे तो यह कह रहे हैं कि इस जीव ने पुण्य की भी सूची क्यों रखी ? यदि इस जीव की दृष्टि में पाप के समान पुण्य भी हेय होता तो उसकी सूची को रखने की जरूरत इसे महसूस नहीं होती। इस जीव के हृदय में पुण्य के प्रति जो लालसा है, महिमा का भाव है; वही इसे पुण्य की सूची रखने के लिए मजबूर करता है।

मैंने 30 साल में कभी रात्रि में भोजन नहीं किया। मैंने 25 साल से सिनेमा नहीं देखा। मैंने 25 बार शिखरजी की यात्राएँ कीं। मैंने अपने जीवन में 2 करोड़ से भी अधिक का दान दिया। इसप्रकार अज्ञानी अपने सभी शुभकार्यों का लेखा—जोखा रखता है।

जब यह दस—बीस करोड़ रुपए कमाता है, तब कहीं एक—दो करोड़ रुपए का दान देता है। अरे, भाई! 2 करोड़ रुपए दान दिए, पर बाकी के जो 10—20 करोड़ रुपए हैं; क्या वे परिग्रह नामक पाप नहीं हैं ? पर इस पाप को यह जीव उजागर नहीं करता है।

प्रश्न यह नहीं है कि यह जीव ऐसा क्यों करता है ? बात तो यह है कि इसकी इस प्रवृत्ति से इसकी कमजोरी पकड़ में आ रही है, इसका अज्ञान पकड़ में आ रहा है, इसका मिथ्यात्व पकड़ में आ रहा है कि

उसने इन पुण्यभावों को एवं पुण्यक्रिया को अच्छा माना है, इसे शुभ माना है, धर्म माना है।

जीव की इसी प्रवृत्ति का इस अधिकार में निषेध किया गया है। पण्डित बनारसीदासजी ने इसका नामकरण पुण्य-पाप एकत्वद्वार किया है।

यहाँ विचारने की बात यह है कि अन्य अधिकारों के नाम जीवा-जीवाधिकार, कर्त्ताकर्माधिकार, आस्रवाधिकार, बंधाधिकार — इसप्रकार हैं; पर पुण्य-पापाधिकार के साथ एकत्वद्वार को क्यों जोड़ा गया है ?

जीवाजीवाधिकार के आरंभ में लिखा है कि अब जीव और अजीव प्रवेश करते हैं। कर्त्ताकर्माधिकार के आरंभ में लिखा है कि अब जीव और अजीव कर्त्ता-कर्म के वेष में प्रवेश करते हैं; लेकिन पुण्यपापाधिकार में लिखा है कि अब एक ही कर्म पुण्य और पाप के रूप में दो पात्रों के रूप में प्रवेश करता है। इसमें पात्रा एक है; लेकिन वह एक ही पात्रा मंच पर दो पात्रों का अभिनय कर रहा है; जबकि जीवाजीवाधिकार में पात्रा दो थे; किन्तु जब वे मंच पर आते हैं तो एक लगते हैं।

दूसरी बात यह है कि कर्त्ताकर्माधिकारादि में जीव-अजीव विभिन्न वेषों में आते हैं; पर इस अधिकार में एक ही कर्म दो रूपों में प्रस्तुत हुआ है तथा अन्य अधिकारों में जीव नाचता है; पर यहाँ इस अधिकार में कर्म नाचता है।

जिसप्रकार मंच पर यदि हाथी दिखाना है तो दो लड़कों को एक कपड़े के अंदर खड़ा करके हाथी बना देते हैं। व्यक्ति दो हैं; लेकिन एक दिख रहे हैं। इसीप्रकार जीवाजीवाधिकार में जीव और अजीव इसप्रकार दो पात्र हैं; लेकिन वे एक ही दिखते हैं।

इस सन्दर्भ में पुण्य-पाप-एकत्व-द्वार पृथक् है; इसमें कर्म तो एक है; लेकिन वह एक ही कर्म द्विपात्रीभूय दो पात्र अर्थात् पुण्य और पाप बनकर मंच पर आया है। एक ही कर्म भला और बुरा, नायक और खलनायक इसप्रकार दो पात्र बनकर मंच पर आया है।

एक शूद्रा के उदर से एक ही साथ दो जुड़वाँ बच्चों ने जन्म लिया। एक बच्चे को उस शूद्र ने अपने घर रखा और दूसरा ब्राह्मणी को दे दिया। दोनों जुड़वाँ भाई थे, एक तो शूद्र के घर में पला और दूसरा ब्राह्मणी के घर में पला। शूद्र के घर में पला हुआ व्यक्ति ऐसा मानता है कि मैं शूद्र हूँ, हमारे घर में सबकुछ खाया-पिया जाता है; इसलिए वह माँस-मदिरा आदि का प्रतिदिन निशंक भाव से सेवन करता है। दूसरा ऐसा मानता है कि हमारे घर में इन पदार्थों को कोई छूता तक नहीं है। इसलिए वह मदिरा को छूता तक नहीं; क्योंकि वह ब्राह्मणी के घर पल रहा है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह व्यक्ति जो ब्राह्मणी के घर पल रहा है, वह ब्राह्मण है या शूद्र ? इसप्रकार का प्रश्न मूल कलश में भी उपस्थित किया है। मूलकलश इसप्रकार है —

(शार्दूलविक्रीडित)

एको दूरात्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना,
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तथैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥101॥

एक तो ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूर से ही मदिरा का त्याग करता है, उसे छूता तक नहीं और दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' — ऐसा मानकर नित्य मदिरा से स्नान करता है, उसी में डूबा रहता है, उसे पवित्र मानता है। यद्यपि वे दोनों ही शूद्रा के पेट से एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों ही साक्षात् शूद्र हैं; तथापि वे जातिभेद के भ्रम से ऐसा आचरण करते हैं।

दोनों शूद्रा के पेट से एकसाथ उत्पन्न हुए हैं; लेकिन एक तो ब्राह्मणत्व के अभिमान से मदिरा को दूर से ही छोड़ देता है। उसने मदिरा तो नहीं पी; लेकिन मैं ब्राह्मण हूँ; इसप्रकार उसने ब्राह्मणत्व की मदिरा पी है। उसने 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार के अभिमान की मदिरा

पी है; इसलिए मदिरापान नहीं करने पर भी आचार्य उसे मदिरा पीनेवाला कह रहे हैं; क्योंकि ब्राह्मणत्व के अभिमान की मदिरा भी पीने योग्य नहीं है।

वह यह नहीं मानता कि मदिरा अनिष्ट है; इसलिए मैं नहीं पीऊँ। वह तो यह मानता है कि मैं ब्राह्मण हूँ और मेरे घर में मदिरा नहीं पी जाती; इसलिए मैं मदिरा नहीं पीऊँ।

दूसरा कहता है कि मेरे यहाँ मदिरा बहुत पी जाती है; इसलिए मैं मदिरा पीता हूँ। वह ब्राह्मण मदिरा नहीं पीकर भी शूद्र ही है; क्योंकि वह शूद्रा के पेट से उत्पन्न हुआ है।

उनमें जातिभेद नहीं है; लेकिन उन्हें यह भ्रम हो गया है कि मैं शूद्र जाति का हूँ और मैं ब्राह्मण जाति का हूँ। यदि उन्हें यह भ्रम नहीं होता तो उनमें कुछ भी अंतर नहीं आता।

ऐसे ही कर्म के दो भेद हैं — एक पुण्य और दूसरा पाप। पुण्य और पाप एक ही कर्म से उत्पन्न जुड़वाँ भाई हैं। इसे हम इसी कलश के हिन्दी पद्यानुवाद से और सरलता से समझ सकते हैं —

(सवैया इकतीसा)

दोनों जन्में एकसाथ शूद्रा के घर में,

एक पला बामन के घर दूजा निज घर में।

एक छूए न मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से,

दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से॥

जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया,

इस कारण अज्ञानी ने पहचान न पाया।

पुण्य—पाप भी कर्म जाति के जुड़वाँ भाई,

दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई॥101॥

इसीप्रकार ये पुण्य—पाप भाव भी एक ही जाति के हैं, सगे जुड़वाँ भाई ही हैं, कर्म के ही भेद हैं, रागभाव के ही भेद हैं; तथापि अज्ञानी भ्रम से पुण्य को भला और पाप को बुरा समझते हैं। उनके इस

भ्रम के निवारण के लिए ही यह अधिकार लिखा गया है।

एक व्यक्ति आत्मा को समझे बिना पंचेन्द्रिय के सम्पूर्ण विषयों का त्याग करके नग्न दिगम्बर मुनि हुआ। वह निरंतराय आहार लेता है, 28 मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। वह यह सब इसलिए करता है; क्योंकि वह मानता है 'मैं मुनि हूँ' और शास्त्रों में मुनियों का आचरण ऐसा होना चाहिए; इसप्रकार लिखा है। इसप्रकार यहाँ मुनि ब्राह्मण के घर में पले शूद्र बालक के स्थान पर है।

दूसरा गृहस्थ है। वह ऐसा मानता है कि मैं गृहस्थ हूँ और मैं पाँच पापों का सेवन कर सकता हूँ। मैं हिंसा कर सकता हूँ, मैं स्थूल असत्य बोल सकता हूँ, मैं चोरी भी कर सकता हूँ, मैं शादी करा सकता हूँ, मैं परिग्रह जोड़ सकता हूँ; क्योंकि मैं इनका त्यागी नहीं हूँ, मैं तो गृहस्थ हूँ। इसप्रकार यहाँ गृहस्थ शूद्र के घर में पले शूद्र बालक के स्थान पर है।

पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन करनेवाला गृहस्थ और पंचेन्द्रियों के विषयों का त्यागी नग्न दिगम्बर साधु उक्त मान्यता में दोनों एक से हैं।

इसकी अपेक्षा यह है कि दोनों ही आत्मा को नहीं जानते; अतः एक से हैं। दोनों ने जो भी आचरण पाला है, वह आत्मा के लक्ष्य से नहीं पाला है; मुनि ने 'मैं मुनि हूँ' इस लक्ष्य से पाला है और गृहस्थ ने 'मैं गृहस्थ हूँ' इस लक्ष्य से पाला है।

मुनि का ध्यान मात्रा 'मैं मुनि—मैं मुनि' इस पर ही केन्द्रित रहा और गृहस्थ का ध्यान 'मैं गृहस्थ—मैं गृहस्थ' इस पर ही केन्द्रित रहा; वे दोनों ही आत्मा के लक्ष्य से च्युत हैं।

पण्डित बनारसीदासजी ने लिखा है — न मैं गृहस्थ हूँ, न मैं यति हूँ; मैं तो भगवान आत्मा हूँ। पुण्य और पाप में भेद जाननेवाले दोनों को ही भगवान आत्मा ऊर्ध्व नहीं रहा।

मैं तो जानने—देखनेवाला हूँ। गृहस्थ अवस्था में भी जो होता है, उसे मैं जानने—देखनेवाला हूँ और मुनि अवस्था में जो होता है, उसे भी

मैं जानने-देखनेवाला हूँ – ज्ञानी गृहस्थ और ज्ञानी मुनि तो ऐसा मानते हैं।

अज्ञानी के और ज्ञानी के गृहस्थावस्था में और मुनि अवस्था में एक जैसा ही आचरण पलता है। ज्ञानी गृहस्थ के भी शादी होती है, धंधा-पानी आदि सांसारिक प्रवृत्तियाँ होती हैं; शास्त्रों में भरत चक्रवर्ती इत्यादि के अनेक उदाहरण हैं।

फिर भी ज्ञानी गृहस्थ यह जानता है कि यह मेरी, गृहस्थ की कमजोरी की भूमिका है और इस भूमिका में ऐसे भाव आये बिना रहते नहीं हैं। ऐसे भाव आते ही हैं। ये भाव आये तो भी ज्ञानी को कोई बाधा नहीं है; क्योंकि वह जानता है कि मैं इस क्रिया का कर्ता नहीं हूँ।

पुण्य-पाप क्रिया और पुण्य-पाप भाव में अंतर है। मंदिर में भगवान की पूजा कर रहे हैं तो एक थाली का द्रव्य दूसरे थाली में जाता है और मुख से पूजन के छन्द गाकर बोले जाते हैं। ये सब जड़ की क्रिया है। कर्ताकर्माधिकार में कहा गया है कि इसका कर्ता आत्मा नहीं है; वह अपनी योग्यता के कारण जैसा जिस काल में होना था, वैसा उस काल में हुआ है।

यह थाली में से चावल उठाता है और चाहता है कि पूरे चावल दूसरे थाली में डालूँ; लेकिन कुछ चावल उसी थाली में गिर जाते हैं और कुछ उछलकर बाहर चले जाते हैं। जिसकी जहाँ योग्यता थी, वह वहाँ जाता है। इसप्रकार यह पूर्णतः जड़ की क्रिया है, यह ज्ञानी जानता है।

ज्ञानी यह भी जानता है कि पूजन के विशुद्धभाव भी विकार की क्रिया है। चाहे शुभ हो या अशुभ हो – दोनों विकार भाव की ही क्रिया हैं। इसप्रकार पुण्यपापक्रिया और पुण्यपापभाव – दोनों पर ही हैं।

जीवाजीवाधिकार की दृष्टि से यदि इसपर विचार किया जाय तो पुण्य-पाप की जो क्रिया है, वह वर्णादि में और पुण्य-पाप के जो भाव हैं, वे रागादि में आते हैं और भगवान आत्मा इन दोनों से भिन्न है।

पूजन करते समय भी ज्ञानी तो जानता ही है कि इस थाली का द्रव्य उस थाली में जा रहा है और मेरे भक्ति के परिणाम हो रहे हैं।

कभी-कभी पूजन के मध्य ज्ञानी आत्मा में भी चला जाता है, तब 71 इन्हें जानता भी नहीं है। ऐसा कभी-कभी होता है।

आज पूजन करते समय जो कायोत्सर्ग होता है, वह मात्रा निरीह क्रिया हो कर रह गई है। आज इस कायोत्सर्ग के समय 9 बार णमोकार मंत्रा जपने की प्रथा चल निकली है। 9 बार णमोकार मंत्रा पढ़ना कायोत्सर्ग का वास्तविक स्वरूप नहीं है।

भगवान की पूजन करते समय इस जीव के ज्ञान का ज्ञेय भगवान बन रहे थे। जड़ की क्रिया इस जीव के ज्ञान का ज्ञेय बन रही थी, शुभभाव इसके ज्ञान का ज्ञेय बन रहे थे। इन सब ज्ञेयों से हटकर जब त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा इस जीव के ज्ञान का ज्ञेय बनता है, तब ही वास्तविक कायोत्सर्ग होता है।

समयसार में तो यहाँ तक लिखा है कि बंध और मोक्ष भी जाने जाते हैं, होते नहीं हैं। आशय यह है कि भगवान आत्मा न बंध का कर्ता है और न ही मोक्ष का।

ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के साथ एकमेक होना द्रव्यबंध है। यह जड़ की क्रिया है। इस जड़ की क्रिया का छूटना द्रव्यमोक्ष है; इसलिए यह भी जड़ की क्रिया है।

भावबंध और भावमोक्ष का भी कर्ता आत्मा नहीं है। राग-द्वेष-मोहादि का होना भावबंध है और राग-द्वेष-मोहादि का नहीं होना भावमोक्ष है। आत्मा न मोह-राग-द्वेषादिक का कर्ता है और न इन्हें रोकने का कर्ता है। इसप्रकार यह आत्मा द्रव्यबंध, द्रव्यमोक्ष, भावबंध और भावमोक्ष – इन चारों का भी कर्ता नहीं है।

जब इस भगवान आत्मा को मोक्ष हुआ, तब भी इस आत्मा ने क्या किया ? बस ! जान लिया कि मोक्ष हुआ। जब बंध नहीं हुआ, तब मोक्ष भी स्वयमेव जानने में आया।

इसप्रकार बंध और मोक्ष का कर्ता भी आत्मा नहीं है; वह उनका भी मात्रा ज्ञाता-दृष्टा ही है।

मोक्ष को जाना — ऐसा कहो, जानने में आया — ऐसा क्यों कहते हो ?

इस आत्मा को उसे जानने की रुचि नहीं है। इसलिए मोक्ष जानने में आता है, ज्ञानी उसे जानने नहीं जाता।

इस भगवान आत्मा ने बंध नहीं किया, मोक्ष नहीं किया; तो जब बंध हुआ, तब बंध हुआ — ऐसा इसने जाना एवं जब मोक्ष हुआ, तब मोक्ष हुआ — ऐसा जाना। इस सीमा के बाहर वह जाता ही नहीं है।

पुण्य-पाप दोनों कर्म के ही पुत्रा हैं।

एक व्यक्ति राजा के द्वार पर आया और द्वारपाल से कहा — 'मुझे दीवानजी से मिलना है।' द्वारपाल ने पूछा — 'तुम कौन हो ?' इसपर उस व्यक्ति ने कहा — 'मैं दीवानजी का साढूभाई हूँ।' उस व्यक्ति को दरवाजे पर खड़ा करके द्वारपाल ने दीवानजी को सूचना दी कि एक व्यक्ति आपसे मिलना चाहता है और वह स्वयं को आपका साढूभाई बता रहा है।

दीवानजी सोच में पड़ गए कि मेरी पत्नी तो कहती थी कि वह अपने माँ-बाप की इकलौती बेटा है। उसकी तो कोई दूसरी बहन है ही नहीं; लेकिन अब ये साढूभाई कहाँ से आ गये ?

फिर भी दीवानजी ने कहा — हाँ, बुलाओ-बुलाओ !

जब वह व्यक्ति दरबार में आया तो उसकी स्थिति देखकर सभी दरबारियों को हँसी आ गई। कुछ देकर दीवानजी ने उसे वापस किया।

राजा ने दीवानजी से पूछा, 'क्या ये हैं आपके साढूभाई।' दीवानजी ने कहा — 'हाँ हैं। कर्मरूपी राजा की दो बेटियाँ हैं — एक पुण्य एक पाप। पुण्यकर्म की शादी मुझसे हुई और पापकर्म की शादी इससे हुई है; इसप्रकार ये मेरे साढूभाई ही हैं।

कर्म चाहे पुण्य हो, चाहे पाप — दोनों कर्म ही हैं; वे कर्मत्व का उल्लंघन नहीं करते हैं।

धर्म और कर्म दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। हमें कर्म के नाश के लिए धर्म करना है; लेकिन हम उन कर्मों के नाश के लिए पुण्य नामक कर्म ही करते हैं। कर्म का नाश करना है तो कर्म का अभाव करना चाहिए, इसके विपरीत हम कर्म का नाश करने के लिए कर्म ही करते हैं।

धर्म और कर्म — ये दोनों परस्पर विरुद्ध पार्टियाँ हैं, जिनमें आपस में लड़ाई चलती रहती है। इस लड़ाई में कर्म नामक पार्टी ने पुण्य नाम के कर्म को धर्म का वेष पहना दिया एवं खुद कर्म का वेष पहन लिया।

उन दोनों कर्म में ही एक कर्म बन गया और एक धर्म बन गया। इससे हानि यह हो गई कि सच्चा धर्म ही गायब हो गया। कर्म करना हो तो भी कर्म करो और धर्म करना हो तो भी कर्म करो।

पूजन में हमने 'अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं निर्वपामीति' का उच्चारण किया; आठ कर्म के नाश के लिए उपाय किया। पर पूजन करना भी तो एक कर्म ही था, उससे कर्म का नाश नहीं हुआ; अपितु इससे विपरीत कर्मबंध हुआ। यह जीव उपाय तो कर्मनाश के लिए कर रहा है और हो रहा है कर्मबंध।

ऐसे ही एक ही कर्म द्विपात्रीभूय — दो पात्रों के दो वेष बनाकर सामने उपस्थित हुआ है।

जैसे किसी के ऊपर गलत काम करने का कोई आरोप लग जाता है, तब लोग कहते हैं कि कुछ न कुछ करके इस आरोप को दबा दो। यदि वह आरोप न्यायालय में दायर हो जाता है, तब चतुर लोग कहते हैं कि अब यह केस चलने दो; इसे कोर्ट में ही निपटाकर खत्म कर दें। तब वह स्वयं सामने नकली पार्टी खड़ी करके केस चलवाते हैं। उस पार्टी के पास अच्छे वकील, अच्छी पैरवी नहीं होने के कारण उस पक्ष को केस हारना ही है। फिर हारने के बाद वह उस केस को

वहीं पर खत्म कर देता है। जब छह माह तक कोई उस अपराध के विरुद्ध अपील नहीं करता है तो फिर उसे उस अपराध के लिए पुनः कभी दण्डित नहीं किया जा सकता है। इसप्रकार एक ही व्यक्ति दो झूठे पक्षों को उठाकर इस मामले को निपटा देता है। ऐसे कई उदाहरण हैं।

सरकार का यह नियम है कि सरकार का कोई काम करना हो तो उसके लिए वह तीन कोटेशन माँगती है; जब एक ही व्यक्ति से काम कराना हो; तो तब एक व्यक्ति से ही तीन कोटेशन ले लेते हैं। इसप्रकार एक ही व्यक्ति अपनी तरफ से तीन कोटेशन दे देता है।

इसीप्रकार कर्म कम चतुर नहीं हैं। कर्म के इस पक्ष ने सोचा कि 'धर्म मत करो' ऐसा कहेंगे तो धर्म की छुट्टी होनेवाली नहीं है, उन्होंने कर्म के ही एक हिस्से को धर्म का वेष पहनाकर, धर्म का पाठ पढ़ाकर धर्म नाम से प्रचारित कर दिया। इससे सारे संसारी जीव धर्म के नाम पर कर्म में ही लग गए। जो गृहस्थावस्था में रहे वे भी और जो आत्मज्ञानशून्य मुनि हुए वे भी धर्म के नाम पर कर्म में ही लग गए। धर्म के नाम पर उन्होंने घर छोड़ा था; फिर भी वे कर्म में ही लग गए।

इसलिए पाप से भी अधिक यदि कोई धर्म का लुटेरा है, धर्म का शत्रु है तो वह पुण्य ही है; क्योंकि इसने धर्म का वेष धारण करके, धर्म बनकर जगत को ठगा है।

धार्मिक अध्ययन के लिए शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित करते हैं; समाज से पैसा धार्मिक शिक्षा के नाम पर लेते हैं और दी जाती है लौकिक शिक्षा। इसीप्रकार धर्म के नाम पर धर्मार्थ अस्पताल खोलते हैं और उसमें अभक्ष्य औषधियाँ दी जाती हैं। इसप्रकार धर्म का पैसा कर्म में ही चला जाता है।

धर्म के नाम पर पुण्यकार्य ही होते हैं; उनमें ही पैसा जाता है। वस्तुतः धर्म तो पैसे से होता ही नहीं, धर्म में तो पैसे के परिग्रह का त्याग होता है। धर्म तो आत्मा के कल्याण का नाम है।

73

वृद्धावस्था समीप आने पर यह जीव धंधा-पानी आदि सब सांसारिक कार्यों को छोड़कर चौबीसों घंटे धर्म के लिए समर्पित करता है। यदि आत्मकल्याणरूप वास्तविक धर्म नहीं हुआ तो इसका समय पापकार्य में तो जायेगा नहीं; क्योंकि उसने इससे तो निवृत्ति ले ली है। अब शेष रहा पुण्यकार्य ही धर्म की कटौती करेगा।

धर्म के नाम पर धर्म की कटौती पुण्य करता है — चाहे वह पुण्य-भाव हो, चाहे पुण्यक्रिया। वही धर्म का सबसे बड़ा शत्रु है। वह है कर्मचंद और नाम रखा है धर्मचंद। सब जीव धर्म के नामपर कर्म में उलझे हैं; इसी पीड़ा के कारण आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भगवन्त यह पुण्य-पाप-अधिकार लिखने के लिए बाध्य हुए।

आज परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी हैं कि धर्म के नामपर कर्म की चर्चा करते हैं तो प्रशंसा होती है, लोग तालियाँ पीटते हैं। यदि धर्म के नामपर धर्म की चर्चा करो तो कोई साथ नहीं देता, बल्कि इसे व्यर्थ समझता है।

तब यह अज्ञानी जीव कहता है कि आपके हिसाब से तो हम कुछ भी न करें, न अस्पताल खोलें, न स्कूल खोलें, न पाठशाला खोलें।

इसपर आचार्य कहते हैं कि हमारा हिसाब इस जीव ने जाना ही कहाँ है; हमारे हिसाब से 'कुछ करो नहीं' — ऐसा नहीं है; अपितु इसने आज तक कुछ किया ही नहीं है; यह जीव न कुछ कर सकता है और न ही कुछ कर सकेगा। हमारा हिसाब तो यह है।

यह जीव परद्रव्य की क्रिया में कुछ भी नहीं कर सकता है। अपनी आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष परिणामों में भी यह जीव कुछ नहीं कर सकता।

यह जीव कमजोर है; इसलिए परद्रव्य में कुछ नहीं कर सकता है — ऐसी बात नहीं है; अपितु अनंतवीर्य के धनी, अतुल्य बल के धनी तीर्थकर भगवान भी पर में कुछ नहीं कर सकते हैं।

जन्म से ही महावीर अतुल्य बल के धनी थे; पर जब उन्हें केवलज्ञान

हुआ, तब वे अनंतवीर्य के धनी हुए। अरे भाई! अब तो उनमें कोई कमी नहीं थी; फिर भी 72 वर्ष की उम्र में उनका मोक्ष जाना निश्चित था तो वे 72 वर्ष की उम्र में ही मोक्ष गए। वे उसमें परिवर्तन नहीं कर सकते थे।

जब उन्होंने दीक्षा ली थी, तब सिद्ध बनने के लिए ही दीक्षा ली थी; लेकिन अरहंत उपदेश इत्यादि अवस्थाएँ होना सिद्धावस्था के समान निश्चित था। जब उनकी इच्छा मोक्ष जाने की थी तो वे सीधे मोक्ष चले जाते; लेकिन वे ऐसा नहीं कर सकते थे।

जैसा निश्चित है, उससे एक क्षण पूर्व वे इस जगत् को छोड़ ही नहीं सकते थे, वे जड़ की क्रिया को कर ही नहीं सकते हैं।

कोई किसी के एक भाव को भी नहीं पलट सकता। महावीर को 12 वर्ष क्यों लगे केवलज्ञान होने में? 12 वर्ष तक अधिकतर शुभभाव में रहे। उनकी दृष्टि में शुभभाव तो उसी दिन हेय हो गया था, जब उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई थी; लेकिन वे 12 वर्ष तक लगातार सर्वज्ञ बनने के लिए आवश्यक अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त आत्मा में नहीं रह पाए। आदिनाथ भी एक हजार वर्ष तक लगातार आवश्यक अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त आत्मा में नहीं रह पाए।

एक शुभभाव पलटने की ताकत नहीं थी। उनमें अशुभभाव को भी पलटने की ताकत नहीं थी। भरत चक्रवर्ती के पास छह खण्ड की विभूति थी, उनके कई विवाह हुए थे। क्या वे नहीं जानते थे कि ये सब अशुभभाव हैं, पापभाव हैं? उनको सम्यग्ज्ञान होते ही यह ज्ञान हो गया था कि मैं इनका कुछ भी नहीं कर सकता हूँ।

उनको तो कुछ करने का भाव ही नहीं था। मैं कर सकता हूँ या नहीं कर सकता हूँ? — यह प्रश्न तब उपस्थित होता है, जब कुछ करने का भाव हो। जब कुछ करने का ही भाव ही नहीं है तो मैं कर सकता हूँ या नहीं कर सकता हूँ? — यह प्रश्न उपस्थित करना ही निरर्थक है।

जिनके पास एक करोड़ रुपए हैं; उन्हें एक करोड़ रुपए देने का भाव आता है। हवा में कल्पना नहीं होती। हवा में कल्पना करनेवाला आधा पागल ही होगा। होते तो देता; इसका मतलब देने का भाव नहीं है। इसप्रकार का देना तो —

74

अल्ला मियां बड़े सयाने, पहले ही काट लिये दो आने।

जैसी स्थिति है। एक अल्लाह का भक्त बहुत भूखा था; उसने अल्लाह से कहा — 'ओ मेरे मालिक ! यदि मुझे एक रुपया मिल जावे तो उसमें से दो आने का परसाद मैं तुम्हें चढ़ाऊँगा।'

उसे एक रुपए का नोट मिल भी गया, पर थोड़ा सा फटा हुआ था। वह उस नोट को भुनाने बाजार में ले गया। फटा हुआ नोट था; इसलिए किसी ने उसे पूरे पैसे दिए ही नहीं। अंततः उसे उस नोट के 14 आने ही मिल पाए।

अब वह कहता है कि 'खुदा बहुत होशियार है; उसने पहले ही दो आने काट लिए।

इसीप्रकार सोचनेवाला कहता है कि मेरे पास एक करोड़ होते तो दे देता। इसके पास एक अरब भी आ जाय तब भी यह कुछ भी देनेवाला नहीं है। मुफ्त में पुण्य बांधना चाहता है।

यह जितना है, उसमें से ही देने की क्यों नहीं सोचता? यदि देना है तो, जितना है उसमें से देने की सोचना चाहिए।

यदि इसके पास एक करोड़ रुपए हैं और हम उससे पूछें कि कितने का दान दोगे? तो यह कहेगा कि जितने का दान देने का भाव आएगा, उतने का दान दे देंगे; इसमें वादा क्या करना?

सभी अपने शिक्षाकाल में इसप्रकार के कई निबंध लिखते हैं कि जैसे मैं प्रधानमंत्री होता तो क्या करता। 8 वर्ष से 72 वर्ष तक अटल-बिहारी वाजपेयी भी न जाने कितनी बार कहते रहे होंगे कि यदि मैं प्रधानमंत्री होता तो ऐसा करता। हमारी पार्टी का राज आ जाय तो हम यह-यह करेंगे। अब जबकि प्रधानमंत्री बन गए हैं तो जैसा-जैसा

कहा था, वैसा होता नहीं। उनकी ही पार्टी के लोग उनसे कहते हैं कि प्रधानमंत्री हो गए तो रुख ही बदल गया। स्वदेशी गायब हो गया और विदेशी आ गया। अब राममंदिर उनके ऐजेन्डे में ही नहीं रहा।

अरे भाई ! ज्ञानी कल्पनालोक में विचरण नहीं करते हैं। वे तो कहते हैं – 'द्रव्य, क्षेत्रा, काल, भाव के अनुसार जिस द्रव्य का जैसा परिणमन होगा, उस समय हम उसे वैसा जान लेंगे। पुण्य और पाप एक से ही हैं। ये भूमिकानुसार होते हैं। जैसे भूमिकानुसार होंगे, वैसे हमें स्वीकार हैं। स्वीकार हैं अर्थात् हम इसमें कोई मीन-मेख नहीं निकालेंगे। हम पुण्य-पाप के न कर्ता हैं, न भोक्ता हैं।'

पुण्य-पाप का कर्ता-भोक्ता ज्ञानी कभी नहीं बनता है; उसकी दृष्टि में दोनों समान हैं। दोनों ही कर्मरूपी शूद्रा के पुत्र हैं; कर्मजाति के ही हैं, धर्मजाति के नहीं हैं। यही पुण्य-पाप-अधिकार का मुख्य कथ्य है। आचार्य कुन्दकुन्द 150वीं गाथा में लिखते हैं –

रत्तो बन्धदि कम्मं, मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेषु मा रज्ज्।।

(हरिगीत)

विरक्त शिव रमणी वरें अनुरक्त बांधे कर्म को।

जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो॥१५०॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है – यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, इसलिए कर्मों में/ शुभाशुभ कर्मों में राग मत करो।

शुभरागी और अशुभरागी दोनों ही कर्म बाँधते हैं और जो विराग से सम्पन्न हैं अर्थात् जो शुभराग और अशुभराग से रहित हैं; वे कर्मों से मुक्त होते हैं, वीतरागदशा को प्राप्त होते हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

इसलिए चाहे शुभकर्म हों, चाहे अशुभकर्म हों; किसी में भी रागभाव मत करो। 'इन्हें सहजभाव से जानो, देखो। यदि तुम

इन्हें करनेवाले नहीं हो तो इन्हें रोकनेवाले भी कौन होते हो ? रोकना भी तो एकप्रकार से करना ही है।'

75

अरे, भाई ! 'कुछ मत करो, जो हो रहा है, उसे जान लो। जैसे हैं, वैसे जान लो। शुभ हों तो शुभ जान लो, अशुभ हों तो अशुभ जान लो। जो है, उसे जान लो। यदि ऐसा हुआ तो निश्चितरूप से अशुभभाव धीरे-धीरे कम होते जाएँगे और शुभभाव धीरे-धीरे बढ़ते जाएँगे। कुछ समय पश्चात् शुभभाव भी धीरे-धीरे कम होते जाएँगे। इसप्रकार शनैः-शनैः पूर्ण शुद्धता को प्राप्त हो जाएँगे हम।

तत्काल कुछ भी होनेवाला नहीं है; सब क्रमिक विकास से होता है। अतः हे जीव ! तू निर्णय कर कि दोनों कर्म समान हैं।

पुण्य-पाप अधिकार का मूल उद्देश्य पुण्य-पाप की विशेष चर्चा करना नहीं है; अपितु यह बताना है कि दोनों कर्म समान हैं। ज्ञानी के जीवन में दोनों ही होते हैं और जब होते हैं, तब वह उन्हें जान लेता है। ऐसी परिणति हमारे जीवन में प्रगट हो – यही पुण्य-पाप-अधिकार का मूल उद्देश्य है। ●

डॉक्टर हत्यारा नहीं कहा जाता

सरकारी कानून भी इस बात को स्वीकार करता है। किसी व्यक्ति ने किसी को जान से मारने के इरादे से गोली चला दी, पर भाग्य से यदि वह न मरे, बच भी जावे; तथापि गोली मारनेवाला तो हत्यारा ही जाता है; पर बचाने के अभिप्राय से ऑपरेशन करनेवाले डॉक्टर से चाहे मरीज ऑपरेशन की टेबल पर क्यों न मर जावे; पर डॉक्टर हत्यारा नहीं कहा जाता, नहीं माना जाता।

यदि मृत्यु को ही हिंसा माना जायेगा तो फिर डॉक्टर को हिंसक तथा मारने के इरादे से गोली चलानेवाले को हिंस्य व्यक्ति के न मरने पर अहिंसक मानना होगा, जो न तो उचित ही है और न उसे अहिंसक माना ही जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि हिंसा का संबंध मृत्यु के होने या न होने से नहीं है, हिंसक भावों के सद्भाव से है।

– अहिंसा : महावीर की दृष्टि में, पृष्ठ-36

दसवाँ प्रवचन

समयसार परमागम में जिस आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है; उस आत्मतत्त्व को समझने के लिए निश्चय-व्यवहार, निमित्तोपादान और पुण्य-पाप जैसे विषयों को समझना अत्यंत आवश्यक है।

समयसार में उस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का ही विवेचन है, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसके ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसके ध्यान को सम्यग्चारित्र कहते हैं।

उस भगवान आत्मा को ही समझने के लिए उक्त सिद्धान्तों को समझने की अत्यंत आवश्यकता होती है। यही कारण है समयसार जैसे शुद्धात्मा के प्रतिपादक ग्रन्थ में भी इनका भरपूर विश्लेषण है।

जीवाजीवाधिकार में पाँच गाथाओं के माध्यम से एवं स्थान-स्थान पर निश्चय-व्यवहार की चर्चा समयसार में की गई है।

कर्त्ताकर्माधिकार में निमित्तोपादान की चर्चा मुख्य रूप से आती है; क्योंकि उपादान अर्थात् अपनी वस्तु और निमित्त अर्थात् पर — 'उपादान निज गुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय' जब आचार्य यह कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है तो इसका अर्थ यही होता है कि उपादान कर्त्ता है और निमित्त कर्त्ता नहीं है।

निमित्तोपादान और निश्चयव्यवहार ये दोनों विषय परस्पर गुंथे हुये हैं। निमित्त की अपेक्षा से जितना भी कथन होता है, वह सब व्यवहारनय का होता है अर्थात् औपचारिक होता है। उपादान की अपेक्षा जितना भी कथन किया जाता है, वह निश्चयनय का होता है, वास्तविक होता है; इसलिए निश्चय-व्यवहार और निमित्तोपादान आपस में जुड़े हुए हैं।

आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं — यह तो परसापेक्ष कथन है। स्वयं का तो आत्मा कर्त्ता-भोक्ता भी है एवं ज्ञाता-द्रष्टा भी है; लेकिन पर की अपेक्षा से यह आत्मा मात्रा ज्ञाता-द्रष्टा/जानने-देखनेवाला तत्त्व है, पर का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है।

76

पूर्व में विवेचित अमृतचन्द्राचार्य के कलश में यह स्पष्ट कहा है कि जो ज्ञाता होता है, वह कर्त्ता नहीं होता है और जो कर्त्ता होता है, वह ज्ञाता नहीं होता है; क्योंकि ये दोनों क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं।

किसी कम्पनी ने किसी गाँव में एक अपना ऑफिस खोला, उस ऑफिस के लिए एक ऑफीसर, एक क्लर्क और एक चपरासी रखना अनिवार्य था। अतः कम्पनी ने योग्य अभ्यर्थियों को इन्टरव्यू के लिए बुलाया। सबसे पहले ऑफीसर का चयन कर लिया गया। उस ऑफीसर से यह कहा गया कि अब चपरासी और क्लर्क के चयन में आप भी सहयोग करना; क्योंकि इनसे काम तो आपको ही लेना है।

उस चयनित ऑफीसर ने कम्पनीवालों से पूछा कि 'क्लर्क का काम क्या रहेगा?' कम्पनीवालों ने कहा — 'यह लेखा-जोखा देखेगा, यह आपके पत्रा लिखेगा, आप जो काम कहेंगे, वह करेगा।'

तब ऑफीसर बोला — 'ये कितना सा काम है; यह तो मैं ही कर लूँगा। दो चार पत्रा लिखने पड़ेंगे तो उन्हें मैं ही लिख दूँगा।'

इस पर कम्पनीवालों ने सोचा कि अभी चार-छः माह काम का अधिक भार नहीं रहेगा; अतः क्लर्क की नियुक्ति चार-छः माह बाद कर लेंगे।

इसीप्रकार का प्रश्न जब चपरासी के बारे में किया गया तो कम्पनीवालों ने कहा — 'ये आपके लिखे हुए पत्रा डाकखाने में डाल आयेगा। ऑफिस की झाड़ू लगायेगा, आपको पानी पिलायेगा।'

इसपर ऑफीसर बोला — 'हम तो गांधीजी के शिष्य हैं, एक ग्लास पानी के लिए किसी आदमी की जरूरत पड़े — यह अच्छी बात नहीं है। सामने ही तो डाकघर है, हम डाकघर में पत्रा डाल देंगे। छोटा सा तो कमरा है, इसकी झाड़ू लगाने के लिए किसी आदमी को रखने की क्या आवश्यकता है? मैं स्वयं ही झाड़ू लगा लिया करूँगा। हम तो स्वयंसेवक हैं।'

यह सुनकर कम्पनीवालों ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा — 'हमने ऑफीसर पद के लिए गलत व्यक्ति को चुन लिया है;

‘आप चपरासी ही रहना, हमें ऑफीसर तो ऐसा चाहिए जो अपने हाथ से एक गिलास पानी भी उठाकर नहीं पी सके। गांधीजी के चले हो तो स्वराज का आंदोलन करो। हमारा ऑफीस तुमसे चलनेवाला नहीं है।’

ऐसी ही अवस्था हमारे आत्मा की है। हम ही ज्ञाता-द्रष्टा, और हम ही कर्त्ता-धर्त्ता बनना चाहते हैं। भाई ! ज्ञाता-द्रष्टा ऑफीसर है और कर्त्ता-धर्त्ता क्लर्क है, चपरासी है।

भले ! ही ऑफीसर को कुछ काम न हो, वह दिनभर बैठा रहे; लेकिन वह क्लर्क या चपरासी का काम नहीं कर सकता। इसे ऑफीसर इसलिए बनाया जाता है कि यह काम पैदा करे। उसे झाड़ू लगाने या लेखा-जोखा करने के लिए ऑफीसर नहीं बनाया है।

इसे काम फ़ैलाने के लिए ऑफीसर नियुक्त किया है और कर्मचारियों को काम समेटने के लिए नियुक्त किया गया है। इसपर यदि कर्मचारी शिकायत करें, ‘साब ! आप काम फ़ैला देते हो, कल से इसे मैं नहीं समेटूँगा।’ तो वह क्या काम करेगा। काम समेटने के लिए ही तो इस कर्मचारी को रखा गया है। इसका काम समेटने का है तो यह समेटने का ही कार्य करेगा, अन्य नहीं। ऐसे ही जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता है और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं हो सकता है।

यह भगवान आत्मा पर पदार्थों का या तो ज्ञाता-द्रष्टा रह सकता है या कर्त्ता-धर्त्ता हो सकता है; लेकिन अनादि के अज्ञान से इसके अंतर में इतना लोभ समाया हुआ है कि चपरासी, क्लर्क और ऑफीसर इन तीनों का वेतन अकेला ही लेना चाहता है। दूसरे के हाथ में कुछ भी नहीं जाने देना चाहता है। ऐसा व्यक्ति न ऑफीसर बन पाता है, न क्लर्क ही बन पाता है और न ही चपरासी।

100 व्यक्ति सही ढंग से काम कर रहे हैं कि नहीं – यह देखने के लिए ऑफीसर रखा जाता है; यदि मालिक यह सोचे कि यह ऑफीसर तो कुछ काम करता ही नहीं है, मात्रा खड़ा रहता है।

ऐसा सोचकर यदि ऑफीसर को भी काम करने के लिए कहे तो पहले जितना काम होता था, उससे आधा काम भी नहीं होगा। उस ऑफीसर को मजदूर ही समझकर उससे कोई डरेगा नहीं।

77

ऐसे ही आत्मा तो ऑफीसर है, उसका कर्त्तव्य तो देखना-जानना है। यदि यह कर्त्ता-धर्त्ता बनना चाहेगा तो ज्ञाता-द्रष्टा नहीं रह सकेगा और ज्ञाता-द्रष्टा रहना है तो करने-धरने का भाव छोड़ना होगा। जैसाकि कलश में कहा है –

है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्त्ता होवे।
जो विकल्प को करे वही तो कर्त्ता होवे।।
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे।
इस विधि कर्त्ता-कर्मभाव का नाश न होवे।।95।।
जो करता है वह केवल कर्त्ता ही होवे।
जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे।।
जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई।
जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई।।96।।

जो ज्ञाता है, वह ज्ञाता ही होता है और जो कर्त्ता है, वह कर्त्ता ही होता है। यह परसापेक्ष कथन है।

जैसे अपनी स्वयं की दाढ़ी बनाना हो तो हमें ही देखना पड़ता है और हमें ही दाढ़ी बनानी पड़ती है अर्थात् दाढ़ी बनाने का कार्य करना पड़ता है। देखना और करना एक ही द्रव्य में होने से यह स्वसापेक्ष कथन है। यदि इसे परसापेक्ष देखा जाय अर्थात् यदि हमें किसी अन्य की दाढ़ी बनाना हो, तो देखेगा वह और दाढ़ी बनायेंगे हम ! अर्थात् जो ज्ञाता है, वह ज्ञाता ही होता है और जो कर्त्ता है, वह कर्त्ता ही होता है।

इसलिए यह कहा जाता है कि निमित्तोपादान का स्वरूप समझ में आ जाय तो सहज ही कर्त्ताकर्मभाव समझ में आ जाता है। इसतरह समयसार परमागम को समझने के लिए निश्चयव्यवहार, निमित्तोपादान

और पुण्य—पाप इन तीनों सिद्धान्तों को समझना अत्यंत आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रथमतः जीवाजीवाधिकार में निश्चय—व्यवहार की विस्तार से चर्चा की; कर्त्ताकर्माधिकार में निमित्तोपादान की चर्चा की; अब पुण्यपापाधिकार में पुण्य—पाप की चर्चा करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द को पुण्य—पाप इतने महत्त्वपूर्ण लगे कि इनकी चर्चा एक पृथक् अधिकार में की। पुण्य—पाप आस्रव और बंध के ही अवान्तर भेद हैं; अतः आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य—पाप की आस्रवाधिकार एवं बंधाधिकार में भी चर्चा कर सकते थे। तत्त्वार्थसूत्रा में सात तत्त्व कहे हैं एवं समयसार में नौ तत्त्व कहे हैं। इसमें मूल अन्तर यही है कि तत्त्वार्थसूत्रा में पुण्य—पाप को आस्रव—बंध में समाहित कर लिया है; जबकि समयसार में इन्हें पृथक् स्थान दिया गया है।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में पुण्य—पाप की चर्चा कितनी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण थी।

अज्ञानी अजीव को जीव समझ लेता है और जीव को अजीव समझ लेता है। शरीर को आत्मा तथा आत्मा को शरीर समझ लेता है। इस प्रथम भूल को मिटाने के लिए आचार्य ने सर्वप्रथम जीवाजीवाधिकार लिखा।

इस जीव की दूसरी भूल यह होती है कि जिनका यह जीव ज्ञाता—द्रष्टा है; उनका कर्त्ता—धर्त्ता बन जाता है।

सी.आई.डी. का काम मात्रा कहाँ/क्या हो रहा है — देखकर रिपोर्ट देना है; एक्शन लेना इस विभाग का काम नहीं है। एक्शन लेनेवाला विभाग अलग होता है।

सी.आई.डी. विभाग के व्यक्तियों को निश्चित वेष में रहना जरूरी नहीं है। जैसा मन में आए, वैसा वह वेष धारण कर सकता है। वह साधु भी बन सकता है। वह साधु बना हुआ पकड़ा जाय तो उसे कोई दंड नहीं मिलता है; लेकिन दूसरे विभागवाला साधु बनकर लूटने लगे तो उसे दंड मिलता है। कोई अपराधी, अपराध कर रहा है; तब यह

सी.आई.डी. उसे नहीं पकड़ सकता है; वह मात्रा उसे देख सकता है। वह जानने की मर्यादा के बाहर नहीं जा सकता है; क्योंकि यदि लोग उसे पहचानने लगे तो वह अपना काम नहीं कर सकेगा।

78

किसी की इज्जत लुट रही हो तो भी वहाँ उसे वह जान ही सकता है, वह वहाँ उसे बचा नहीं सकता। यदि बचायेगा तो वह अपनी मर्यादा लांघ देगा। यह तो छोटा अपराधी है, यदि यह इसे पकड़ लेता है तो इनका गिरोह प्रमुख इसके जानने में कभी नहीं आएगा। इसका काम तो छोटा अपराधी जो कुछ भी करे, उसके पीछे जाकर बड़े गिरोह के बारे में सूचना एकत्रित करके एक्शनवाले विभाग को सूचित करना है।

ऐसे ही भगवान आत्मा सी.आई.डी. डिपार्टमेंट का व्यक्ति है, उसका कार्य मात्रा जानने—देखने तक सीमित है; वह पर में कुछ नहीं कर सकता है। इसतरह कर्त्ताकर्माधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा ज्ञाता—द्रष्टा है, कर्त्ता—धर्त्ता नहीं; — यह बात स्पष्ट की।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्यपापाधिकार पृथक् से लिखना इसलिए उचित समझा; क्योंकि उन्होंने देखा कि पुण्य—पाप के सम्बन्ध में ही अध्यात्मजगत में सर्वाधिक भ्रम है।

पुण्य को धर्म मानने से सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि धर्म की खोज ही खो गई। धर्म क्या है ? यह खोजने की आवश्यकता ही नहीं रही। जब धर्म खोजने की आवश्यकता ही नहीं रही तो हमें धर्म कहाँ से प्राप्त होगा ?

हम सुबह थोड़े घूमने गए; योगा के नामपर थोड़ा सा व्यायाम किया और उसे ही धर्म मानने लगे। जैसे खाना—पीना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है; वैसे ही व्यायाम भी स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। तीन घंटे जो योगा करते हैं; उसे हम धर्म के खाते में और दो घंटे जो खाया—पीया उसे हम कर्म के खाते में डाल देते हैं; जबकि वे दोनों कर्म ही हैं। इसप्रकार पाँचों ही घंटे हमारे शरीर के लिए ही जाते हैं। इसमें

धर्म गायब ही हो जाता है ! जो धर्म नहीं है, वह धर्म बनकर बैठ जाता है।

इससे समस्या यह है कि धर्म का विकास ही रुक जाता है।

हम शिविर लगाते हैं तो इसमें प्रातः 5 से रात्रि 10 बजे तक ज्ञान का ही यज्ञ चलता है। अब धीरे-धीरे इसमें भी घुन लगना आरंभ हो गया है। पहले आधे घंटे के लिए भक्ति आरंभ हुई। अब वही आधे घंटे की भक्ति बढ़ते-बढ़ते विधान, पूजन और भक्ति के रूप में पाँच घंटे चलने लगी। इसके बाद प्रवचन रखा गया तो समस्या यह हुई कि जो उत्साह प्रवचन के समय दिखना चाहिए था, वह दिखा नहीं; क्योंकि सम्पूर्ण उत्साह तो पूजन में ही खत्म हो गया; इससे जो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा समझना था; वह समझने से रह गया।

ऐसे ही पूजा-पाठ अर्थात् पुण्य ने धर्म के क्षेत्रा में बाधा पहुँचाई है। मैं पूजन का विरोधी नहीं हूँ; लेकिन यह एक तथ्य है कि जिसपर विचार करना बहुत जरूरी है।

पुण्य कर्मजाति का है और यह धर्म बनकर, धर्म का वेष धारण करके हमारे सामने आया है; अतः इसके बहुरूपियापन को स्पष्ट करना बहुत जरूरी है।

कर्म को धर्म समझ लिया गया है; इसे ही लक्ष्य रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्यपापाधिकार लिखा है। आचार्य कुन्दकुन्द पुण्यपापाधिकार के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि चाहे लोहे की बेड़ी हो, चाहे सोने की बेड़ी हो; बेड़ी तो बेड़ी है, उसे बेड़ी के रूप में ही देखना चाहिए, सोने चाँदी के रूप में नहीं देखना चाहिए। हमारी जेल की दीवालें सीमेंट-कंक्रीट से बनी है या सोने चाँदी से बनी है; इससे हमें क्या फर्क पड़ता है, हमारे लिए तो वह कैद ही है।

जंगली हाथियों को पकड़ने के लिए जंगल में एक बहुत बड़ा गहरा गड्ढा खोदा जाता है। उस पर झीना आवरण डालकर, उसके ऊपर मिट्टी और दूब-घास व झाड़ियाँ डाल दी जाती हैं।

79

जंगली हाथियों को फँसाने के लिए एक हथिनी को प्रशिक्षित करते हैं। वह चतुर हथिनी अपनी कामुक चेष्टाओं से जंगली हाथियों को आकर्षित करती है, मोहित करती है और अपने पीछे-पीछे आने के लिए प्रेरित करती है। उनसे नाना प्रकार की क्रीडाएँ करती हुई वह हथिनी उन्हें उस गड्ढे के समीप लाती है। तेजी से भागती हुई वह कुट्टनी हथिनी तो जानकार होने से उस गड्ढे से बचकर निकल जाती है; पर तेजी से पीछा करनेवाला भागता हुआ कामुक हाथी उस गड्ढे में गिर जाता है। इसप्रकार वह अपनी स्वाधीनता खो देता है, बंधन में पड़ जाता है। वह कुट्टनी हथिनी चाहे सुन्दर हो, चाहे कुरूप हो; पर उसके मोह में पड़नेवाला हाथी बंधन को प्राप्त होता ही है।

उक्त उदाहरण के माध्यम से आचार्य अमृतचंद्र यह समझाना चाहते हैं कि कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ, पुण्यरूप हों या पापरूप; उनसे राग करनेवाले, उन्हें उपादेय माननेवाले संसाररूपी गड्ढे में गिरते हैं, फँसते हैं, बंधन को प्राप्त होते हैं। अतः कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ, पुण्यरूप हो या पापरूप – दोनों से ही राग व संसर्ग नहीं करना चाहिए, उन्हें उपादेय नहीं मानना चाहिए।

मोही हाथी के कुरूप हथिनी की अपेक्षा सुरूप (सुन्दर) हथिनी पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इस कारण उक्त कुट्टनी हथिनी का कुरूप होने की अपेक्षा सुरूप होना अधिक खतरनाक है। उसीप्रकार मोही जीव के पापकर्मों की अपेक्षा पुण्यकर्मों पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; अतः पुण्य के संसर्ग में अधिक में अधिक सावधानी अपेक्षित है।

गुप्तचर विभाग में लड़कियाँ भी रखी जाती हैं। वहाँ कुरूप लड़कियाँ रखी जाती हैं या खूबसूरत ? कौन-सी लड़कियाँ अपराधियों को फँसाने के लिए योग्य है ? सुरूप लड़कियाँ अपराधियों के लिए अधिक खतरनाक है। ऐसे ही सुरूप कुट्टनी हथिनी ही मोही हाथी के लिए अधिक खतरनाक है।

ऐसे कितने ही उदाहरणों से आचार्य ने पुण्यपापाधिकार में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि भाई ! पुण्य पाप के समान ही हेय है। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी ऐसा ही उल्लेख है। वहाँ भी पुण्य को पाप के समान ही हेय कहा है।

पाप के उदय में प्रतिकूल सामग्री मिलती है और प्रतिकूलता को तो हम वैराग्य का निमित्त मानते हैं; क्योंकि वहाँ वैराग्य के अधिक अवसर उपलब्ध हैं। अर्थात् पापोदय वैराग्य का निमित्त है। पुण्य के उदय में अनुकूल सामग्री मिलती है, वह हमारे लिए राग में उलझाने के लिए निमित्त है। अतः वस्तुतः पुण्य, पाप से भी अधिक खतरनाक है। हमारी समस्या आत्मकल्याण करने की है और पुण्य इसमें सबसे बड़ी बाधा है।

हम दिन—रात पाँच इन्द्रियों के विषयों को जोड़ने और भोगने में लगे रहते हैं। सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक भोगों को जोड़ने में और भोगने में ही समय व्यतीत हो रहा है।

पुण्य के उदय से मिलनेवाली भोगसामग्री; पुण्यसामग्री नहीं है, वस्तुतः पापसामग्री ही है; क्योंकि उसके भोगने से पाप बंधता है; अतः वह पापसामग्री ही है।

हमारे पुण्य के उदय से रुपया, पैसा, मकान आदि अनुकूल सामग्री मिली। ये पुण्य का फल हैं; इसलिए इन्हें पुण्यसामग्री कहते हैं। लेकिन इनके भोगने से पाप बंधता है; अतः इसे यहाँ पापसामग्री कहा गया है; इसप्रकार पुण्योदय से पापसामग्री मिलती है।

जो पापोदय से मिलती है, वह वैराग्यसामग्री भी हो सकती है; क्योंकि प्रतिकूलता में सहज ही वैराग्य होता देखा जाता है। पुण्योदय से मिली सामग्री को भोगने से पाप बंधता है; अतः एक स्तर के पश्चात् वह पाप ही है। दिखता पुण्य है; लेकिन बंधता पाप है; अतः इसे धर्म कहना तो सर्वथा अनुचित ही है।

अज्ञानी की इसी समस्या को 154वीं गाथा में स्पष्ट किया है —

परमद्वबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥
(हरिगीत)

80

परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते ।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य हो हैं चाहते ॥१५४॥

जो परमार्थ से बाहर है, वे जीव अज्ञान से पुण्य की इच्छा करते हैं। मोक्ष के हेतु को नहीं जाननेवाले वे लोग संसार—गमन के हेतुभूत पुण्य को ही चाहते हैं।

परमार्थ अर्थात् परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत भगवान आत्मा, परमपारिणामिक भाव; जो समयसार का मूल प्रतिपाद्य है; उससे बाह्य अर्थात् जिन्हें भगवान आत्मा में अपनापन नहीं है, जो उसका ध्यान नहीं धरते हैं; वे मोक्ष के वास्तविक हेतु अर्थात् धर्म को न जानते हुए अज्ञान से संसारगमन का हेतु होने पर भी मोक्ष का हेतु समझकर, धर्म का हेतु समझकर पुण्य अर्थात् कर्म को ही चाहते हैं।

सबसे पहले हमें त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा जो परद्रव्य से सर्वथा भिन्न है, पर्याय से, राग से, 29 प्रकार के भावों से भिन्न है; उसे जिनवाणी में पढ़कर अथवा गुरुमुख से सुनकर अच्छी तरह समझना चाहिए; क्योंकि अनुभव में आत्मा के अनंत गुण गिनने में नहीं आते। न ही आत्मा के असंख्यात प्रदेश, 47 शक्तियाँ, 47 नय ही अनुभव में आते हैं।

आत्मा के सन्दर्भ में विस्तार से जो भी जानना है; वह शास्त्रों से या गुरुमुख से सुनकर ही जानना पड़ेगा। आत्मा के संबंध में विस्तार से जानने के लिए और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

आत्मा के अनुभव के पहले आत्मा के सन्दर्भ में सम्पूर्ण सम्यक् जानकारी अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा आत्मानुभव सम्भव नहीं। एक भी परमाणु अपना नहीं है, उसकी सत्ता निज में नहीं है — ऐसा दृढ़ ज्ञान होना चाहिए। त्रिकाली ध्रुव आत्मा के ज्ञान के साथ ही 'ये ही मैं हूँ' — इस प्रतीति के साथ उसका श्रद्धान भी अत्यन्त आवश्यक

है। मात्रा परद्रव्य और आत्मा भिन्न-भिन्न है – ऐसा जानने से काम नहीं चलेगा। 'आत्मा मैं हूँ और परद्रव्य मैं नहीं हूँ' – ऐसी दृढ़ प्रतीति होनी चाहिए।

आत्मानुभव तो बाद में होगा; लेकिन हमें उसके पहले इतना दृढ़ श्रद्धान होना चाहिए कि त्रिलोक बदल जाय तो भी हमारी श्रद्धा नहीं पलटनी चाहिए। कोई व्यक्ति आये और जादू दिखाए, देखते ही हमारी श्रद्धा पलट जाये – ऐसी अस्थिर श्रद्धा से काम नहीं चलेगा। वह जादूगर कहे कि देखो मैंने मेरे मंत्रा से घड़ी गायब कर दी, आकाश में से मैंने घड़ी बुला ली। इस मंत्राजाल को देखकर हमारी श्रद्धा बदले तो यह हमारी श्रद्धा की अस्थिरता ही है। यही कारण है कि ज्ञान के साथ श्रद्धा जुड़ी हुई है। इसलिए सर्वप्रथम व्यवहार में भी ऐसा दृढ़ज्ञान-दृढ़श्रद्धान होना जरूरी है। यथार्थ श्रद्धा तो बाद में होगी, इसे व्यवहार श्रद्धा यह नाम भी बाद में मिलेगा; लेकिन सर्वप्रथम यह कार्य होना अत्यंत जरूरी है।

इस सहज प्रक्रिया के पश्चात् आत्मानुभव का काल नियम से आएगा। इस जीव के रुचि के जोर से ही आत्मानुभव का काल आएगा। क्रियाकाण्ड के जोर से आत्मानुभव का काल नहीं आएगा।

रुचि का जोर इसलिए अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि आजतक इस जीव ने सम्पूर्ण जगत को अपना मान रखा है। इसमें स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद, अर्हन्त, सिद्ध सब सम्मिलित हैं। इन सबको एकसाथ एक झटके में छोड़ना है। छोड़ना है अर्थात् श्रद्धा में इन सबको अपना मानना छोड़ना है। ये मेरे नहीं हैं – ऐसा मानकर परद्रव्यों से पूर्णतः उपयोग को हटाकर जो मेरा है – ऐसे त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा पर दृष्टि को केन्द्रित करना है।

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा पर दृष्टि जाने से अनंत आनंद आएगा – ऐसी भगवान आत्मा की महिमा अपनी श्रद्धा में होनी चाहिए तभी आत्मानुभव सम्भव है।

कोई व्यक्ति किसी ऑफिस में नौकरी कर रहा है, उसे वहाँ 25 हजार रुपए प्रतिमाह वेतन मिल रहा है एवं इसके साथ उसे सम्पूर्ण सुविधाएँ भी मिल रही हैं। यदि इस व्यक्ति को यह कहा जाय कि हम तुम्हें 50 हजार रुपए वेतन देंगे और सभी सुविधा देंगे, आप हमारे ऑफिस में काम करो। इस प्रस्ताव पर उसे पूरा भरोसा हो जाय तो वह सारे जगत को छोड़कर यह नौकरी करने आ जाएगा।

81

ऐसे ही जबतक इस जीव को परद्रव्य की महिमा है; तबतक आत्मानुभव सम्भव नहीं है। जब इसे यह दृढ़ प्रतीति-दृढ़ ज्ञान होगा कि सारे जगत से मेरा आत्मा मूल्यवान है; तब यह जगत के सारे कार्य छोड़कर आत्मानुभव करेगा ही करेगा।

जब इसे व्यवहार में इतनी दृढ़ प्रतीति होगी, तब अंतर से आत्मा की रुचि का जोर बढ़ेगा; इसे ही शास्त्रीय भाषा में प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। जो निर्णय किया, वह देशनालब्धि है; प्रायोग्यलब्धि के परिणाम से यह करणलब्धि में आएगा, तब आत्मानुभव होगा। तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रा प्रकट होंगे। ऐसे निश्चयरत्नत्राय के साथ जो व्यवहार प्रकट होगा वही सम्यक् व्यवहार नाम पायेगा।

इस सम्यक् व्यवहार प्रगट होने से पूर्व करना तो सब पड़ेगा और व्यवहार नाम भी नहीं मिलेगा।

यदि वास्तव में इसे कुछ काम करना है, धर्मप्रचार करना है, शिविर लगाना है या कोई भी लौकिक काम करना है तो वह व्यक्ति इस काम में तभी सफल हो सकता है, जब यह व्यक्ति महसूस करे कि 'सारा काम मुझे करना है, इस कार्य को पूरा करने की जिम्मेदारी मेरी है। इसमें मुझे नाम की आवश्यकता नहीं है। नाम दूसरों को मिले; लेकिन काम पूरा होना चाहिए।' – ऐसी तैयारी के साथ यदि वह व्यक्ति कार्य करे तो वह निश्चित सफल होगा। इसमें जरा सी भी कमजोरी रही और इसने दूसरों के माथे काम मड़ा तो वह असफल ही होगा। यह धर्मक्षेत्रा में एवं लौकिक क्षेत्रा में भी विकास के लिए अत्यंत प्रेरक विचारबिन्दु है।

पूरनचन्द्रजी गोदिका इसके ज्वलन्त उदाहरण रहे हैं।

उन्होंने यहाँ जयपुर में स्वामीजी को आमंत्रित किया, समिति बनाई; लेकिन कहीं भी वे अध्यक्ष, मंत्री, सदस्य कुछ भी नहीं रहे। उनकी इस पवित्रा भावना से ही यह पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट बन पाया है।

ऐसे ही महात्मा गांधी थे, जो काँग्रेस के चवन्नी सदस्य भी नहीं थे; लेकिन उनकी सहमति के बिना एक कार्य भी नहीं होता था; क्योंकि वे समझते थे कि ये सारा काम मुझे करना है, यह मेरी जिम्मेदारी है; लेकिन वे किसी पद के आकांक्षी नहीं थे। यही लौकिक जीवन में सफलता का सूत्रा है।

इसीप्रकार अध्यात्म में भी यह भगवान आत्मा सारे पदों से, सम्पूर्ण भोग सामग्रियों से, सम्पूर्ण संयोगों से अधिक महिमावंत नजर आना चाहिए; तभी हमारी दृष्टि जगत से हटकर इस आत्मा पर केन्द्रित होगी। अब इसे कुछ नहीं करना है। ऐसी स्थिति का वर्णन करते हुए अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में लिखते हैं कि तब आत्मानुभव दौड़ा-दौड़ा आएगा, इसे कुछ नहीं करना होगा। यही आत्मानुभव की वास्तविक विधि है।

यह अज्ञानी जीव जिसे अपना मानता है – ऐसा सम्पूर्ण जगत अर्थात् परिग्रह पुण्य का ही ठाठ-बाट है। स्त्री, पुत्रा, मकान इत्यादि सब पुण्य के ही ठाठ-बाट हैं। हम भारतवासी हैं – यह भी पुण्योदय के बिना सम्भव नहीं हुआ है। यदि किसी अन्य देश में पैदा होते तो वहाँ जैनतत्त्व का समागम होना अतिदुर्लभ होता।

यदि आत्मानुभव करना है तो सबसे नाता तोड़ना होगा। सर्वप्रथम पुण्य के उदय से जो मनुष्य देह प्राप्त हुई है; वह मैं नहीं हूँ, शुभराग मैं नहीं हूँ। यह जीव इतना महान है कि इसे दूसरे से मिश्रण की आवश्यकता ही नहीं है। इसे इसका आत्मा जब प्राप्त होगा, तब इसे इतनी सुख-शान्ति मिलेगी जो कल्पनातीत है। पुण्य को हेय माने बिना आत्मानुभवरूपी धर्म का कार्य सम्भव नहीं है।

आजतक पर में कर्तृत्व का अभ्यास है; इसलिए इस जीव को आत्मा को प्राप्त करने की यह विधि, विधि नहीं लगती है; उसे कुछ करना ही विधि लगता है। धर्म के नाम पर योगा अर्थात् शरीर सम्बंधित क्रियाएँ करता है, इसे यह कुछ करना विधि लगती है। इन क्रियाओं से शांति महसूस करता है। यह क्षणिक अनुकूलता से उपजी शांति है।

इस पुण्य ने धर्म के क्षेत्र में बाधा पहुँचायी है, ज्ञान के क्षेत्र में बाधा पहुँचायी है। आत्मा तो ज्ञान का कर्ता था, लेकिन यह अज्ञानी जीव जड़ की क्रिया में इतना मग्न हो गया कि इसने स्वयं की आत्मा को ही विस्मृत कर दिया है। यह क्रियाकाण्ड में इतना जकड़ा हुआ है कि आत्मानुभव की विधि इस जीव को विधि ही नहीं लगती।

इसप्रकार ये शुभ क्रियायें और शुभभाव अर्थात् पुण्यनामक कर्म-जाति ने ही आत्मानुभव में सर्वाधिक बाधा पहुँचायी है। अतः पाप के समान पुण्य भी आत्मानुभव के लिए हेय है।

इसे और अधिक स्पष्टता से समझने के लिए समयसार के 109 कलश का यह पद्यानुवाद उपयुक्त रहेगा –

(हरिगीत)

त्याज्य ही है जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए।।
निज आत्मा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा।।

इसी सन्दर्भ में संस्कृत में ऐसा लिखा है कि –

‘का कथा पुण्यस्य पापस्य वा’ पुण्य और पाप की क्या कथा करें? जहाँ कर्म ही छोड़ना है, वहाँ पुण्य और पाप की क्या बात करना ! जब इस जीव को यह दृढ़ प्रतीति हो जाय कि मुझे कुछ करना ही नहीं है; तभी इस जीव को निष्कर्म में रस आ सकता है। जब इस जीव को धर्म का सम्यक् स्वरूप समझ में आए तभी निष्कर्म में रस जग सकता है।

जबतक इस जीव को पर के कर्तृत्व में रस है, तबतक इसे निष्कर्म में रस जग ही नहीं सकता।

आत्मानुभव के लिए कुछ करना नहीं है। जब इस जीव को निष्कर्म में रस जगोगा तब स्वयमेव ही ज्ञान दौड़ा आएगा। पुण्य-पाप तो जड़ की क्रिया है, इसे करते-करते अनंतकाल व्यतीत हो गया है। अनंतकाल से शुभभाव करते हुए कभी इस जीव को सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हुई।

यदि इस जीव ने पुण्य नहीं किया होता तो इसे यह मनुष्य देह कैसे मिलती? यह जीव यदि ऐसे ही कर्म करता रहेगा तो जैसे मनुष्य देह प्राप्त हुई, वैसे ही निगोदावस्था में भी चला जाएगा।

अतः हे जीव ! कर्तृत्व का अभिमान मस्तिष्क से उतार फेंक। यह पुण्यपापाधिकार निष्कर्म होने का अधिकार है।

इसप्रकार इस पुण्यपापाधिकार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पुण्यकर्म एवं पापकर्म – दोनों से निष्कर्म होने का उपदेश दिया है, आदेश दिया है।

कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है

वस्तुतः निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता, कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है। जब सिंह की पर्याय में सद्धर्म की प्राप्ति हुई तो मुनिराजों को निमित्त कहा गया और मारीचि के भव में नहीं हुई तो ऋषभदेव को निमित्त नहीं कहा गया। यदि यहाँ भी न होती तो मुनिराजों का उपदेश भी निमित्त नहीं कहा जाता। निमित्त के प्रति बहुमान भी तभी आता है जब कार्य सम्पन्न हो जावे। शेर की पर्याय में जब सद्धर्म की प्राप्ति हुई तो मुनिराजों के प्रति सहज भक्ति जगी, किन्तु मारीचि के भव में सद्धर्म की उपलब्धि नहीं हुई तो भगवान ऋषभदेव के प्रति भक्ति-भाव नहीं उमड़ा।

— तीर्थकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-49

ग्यारहवाँ प्रवचन

83

जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है – ऐसा त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा; वर्णादि एवं रागादि भावों से भिन्न है। न तो वह वर्णादि, रागादि भावोंरूप है और न ही वह उनका स्वामी है। यही जीवाजीवाधिकार का सारांश है। कर्त्ताकर्माधिकार में यह बताया कि वर्णादि एवं रागादि जितने भी परपदार्थ हैं; उन सबका यह भगवान आत्मा न कर्त्ता है न ही भोक्ता है।

वर्णादि और रागादि भावों के लक्ष्य से आत्मा में जो पुण्य और पाप भाव होते हैं, वे दोनों यद्यपि एक प्रकार के ही हैं; लेकिन उनमें यह जीव इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है; यह पुण्य को ही धर्म मानकर बैठा है; इसप्रकार पुण्यपापाधिकार में आत्मा को पुण्य-पाप से पराङ्गमुख किया गया है।

अब, इस क्रम प्राप्त आस्रवाधिकार में आचार्य कहते हैं कि जिन पुण्य-पाप की चर्चा पुण्यपापाधिकार में की थी; वे पुण्य-पापभाव ही आस्रव हैं। पुण्य-पाप परिणाम ही भावास्रव हैं; इन परिणामों के निमित्त से ही कर्मों का आस्रव होता है। अशुभ कर्मों के आने के द्वार को पापास्रव एवं उनके बंध को पापबंध तथा शुभ कर्मों के आने के द्वार को पुण्यास्रव एवं उनके बंध को पापबंध कहते हैं।

इसप्रकार पुण्य-पाप दोनों ही आस्रवतत्त्व में सम्मिलित होते हैं। पुण्य-पाप रागादि और वर्णादि में ही आते हैं, आत्मा में नहीं, ये आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं।

इस जीव को आस्रवभावों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व बुद्धि का त्याग करना है। यदि ये आस्रवभाव इस जीव के जानने में आ जाय तो सहज ज्ञाता-द्रष्टा भाव से जान लेना है; क्योंकि स्व-पर दोनों को जानना आत्मा का स्वभाव है और समस्त ज्ञेयों में प्रमेयत्व नामक गुण है; उसके कारण वे ज्ञेय भी ज्ञान का विषय बनते हैं। यह उनका स्वभाव है।

इस संदर्भ में गुरुदेवश्री के विचार ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान जो ज्ञेयों को जानता है, वह ज्ञेयों के कारण नहीं जानता है। उनमें प्रमेयत्व नामक धर्म है; इसलिए भी ज्ञान उन्हें नहीं जानता। परज्ञेयों को जाने ऐसी बाध्यता इस आत्मा को नहीं है। ज्ञेयों का ज्ञान ज्ञेयों के कारण होता है – यह तो बौद्धमत है।

जिस समय जिस ज्ञेय को जानना है, उस समय उस ज्ञेय को जानना – यह योग्यता स्वयं ज्ञान की है, यह ज्ञान का स्वभाव है। तात्पर्य यह है इस जीव के ज्ञान में वह ज्ञेय आया, इसमें वह ज्ञेय कारण नहीं है; अपितु इस ज्ञान की पर्यायगत योग्यता ही कारण है। इस पर्यायगत योग्यता के कारण ही वह जानने में आता है।

इसप्रकार इस आत्मा का पर के साथ ऐसा कोई संबंध नहीं है कि जिसके कारण इस आत्मा को किसी भी प्रकार की पराधीनता प्राप्त हो। जैसा कि आचार्य ने पूर्व में प्रतिज्ञा की थी कि –

‘नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धो, पर द्रव्यात्मतत्त्वयोः।’

परद्रव्य और आत्मा में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो स्वभाव है। यह सम्बन्ध नाम तो तब पाता, जब हम ज्ञेय के कारण ज्ञेय को जानते, ज्ञेय से प्रभावित होते।

ज्ञेय को जानने में आत्मा ज्ञेय से प्रभावित नहीं होता; अतः ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध कोई सम्बन्ध नहीं है; यह तो स्वभाव है। ज्ञाता का स्वभाव जानना है और ज्ञेय का स्वभाव प्रमेय बनना है। इन दोनों का अपना-अपना स्वतंत्रा स्वभाव है।

सूर्य का स्वभाव उदय होना है; अतः वह उदित होता है और कमल का स्वभाव; सूर्य उदित होते ही खिलना है; अतः वह उस समय खिलता है। दोनों अपने स्वभाव के कारण उगते एवं खिलते हैं। इसप्रकार दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसीप्रकार ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो नाममात्रा का संबंध है।

यहाँ इस अधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्य-पाप को आस्रव मानो। इन आस्रवभावों से इस जीव का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है – इसमें जीव का न एकत्व है, न ममत्व, न कर्तृत्व, न ही भोक्तृत्व है। आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से ज्ञाता-ज्ञेयरूप निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है। वह भी सहजभाव से इस जीव के ज्ञान में आवे तो ही जानता है, जानने में नहीं आवे तो नहीं जानता है।

इसके सन्दर्भ में मोक्ष अधिकार में तो आचार्यदेव कहेंगे कि बंध को जानने से इस जीव के बंध नहीं कटेंगे, बंध का विचार करने से भी बंध नहीं कटेंगे। इसप्रकार के कथन से आचार्यदेव ने जानने का निषेध नहीं किया है।

यदि जानने का निषेध करेंगे तो स्व-परप्रकाशकस्वभावी आत्मा का ही निषेध हो जाएगा। जैसे, बंध को जानने से बंध नहीं कटेगा, वैसे ही बंध को जानने से बंध होगा भी नहीं। यहाँ यदि जानने से कर्म कटेंगे – ऐसा मानेंगे तो इनको जानना मुक्ति का कारण सिद्ध होगा, अतः यहाँ मुक्ति के कारणपने का निषेध है, जानने का निषेध नहीं है।

आस्रवभाव दो प्रकार के हैं – द्रव्यास्रव और भावास्रव। इसके पुण्यास्रव एवं पापास्रव – इसप्रकार के भी दो भेद हैं। इनकी चर्चा पुण्यापापाधिकार में की गई है। आचार्यदेव इस अधिकार में द्रव्यास्रव एवं भावास्रव का विश्लेषण करते हैं।

मोह-राग-द्वेष भावों को ही भावास्रव कहते हैं एवं उनके निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं। ज्ञानी इन दोनों से सदैव भिन्न रहता है। इसी अर्थ का पोषक अमृतचन्द्र का यह कलश-काव्य है –

‘भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो, द्रव्यास्रवेम्यः स्वत एवं भिन्नः।

ज्ञानी सदा ज्ञानमयैक भावो, निरास्रवो ज्ञायक एक एव॥११५॥’

(दोहा)

द्रव्यास्रव से भिन्न है भावास्रव को नाश।

सदा ज्ञानमय निरास्रव ज्ञायकभाव प्रकाश॥११५॥

भावास्रवों का अभाव हो गया और द्रव्यास्रवों से तो यह भगवान आत्मा स्वतः भिन्न ही है। इसप्रकार ज्ञानी जीव ज्ञानमय भाववाला होने से सदा निरास्रव ही हैं।

आस्रवाधिकार में आस्रव के जो 57 प्रकार के भेद-प्रभेद होते हैं; उनकी चर्चा यहाँ नहीं है। सम्यग्दर्शन की भूमिका में ज्ञानियों के आस्रव नहीं होता – यह बताना ही आस्रवाधिकार का मूल उद्देश्य है।

हमारे पूर्व में बंधे हुए कर्म जब उदय में आते हैं तो मोह-राग-द्वेष के परिणाम होते हैं और जब मोह-राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, तो नूतन कर्मों का आस्रव होता है, नवीन कर्मबंध होता है।

जब ये बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं, तब मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं। जब मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं, तब नवीन कर्मबंध होता है; यही चक्र अनादि काल से चला आ रहा है। इस दुष्चक्र को तोड़ने का उपाय इस आस्रवाधिकार में बताया गया है।

द्रव्य कर्म के उदय से जो भाव होते हैं, उन भावों से ही आगामी कर्मबंध होता है – ऐसी हमारी मान्यता है। यदि हम इसके विस्तार में जाए तो यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के उदय से जो भी होता है, वह सब आगामी कर्म-बंध का कारण नहीं है; अकेले मोहनीय कर्म के उदय में जो भाव होते हैं, वे भाव ही आगामी कर्मबंध के कारण हैं।

ज्ञानावरण कर्म के उदय में जो अज्ञान है, उस अज्ञान से आगामी कर्मों का आस्रव नहीं होता है। दर्शनावरण कर्म के उदय से जो अदर्शन है, उस अदर्शन भाव के कारण आगामी कर्मों का आस्रव नहीं होता है। अंतराय कर्मों के उदय से जो हमें अंतराय प्राप्त होता है, वह आगामी कर्मबंध का कारण नहीं है।

वेदनीय कर्म के उदय से जो साता, असाता संयोग मिलते हैं, वे कर्मों के आस्रव के कारण नहीं हैं। आयु, नाम और गोत्रा कर्म के कारण भी जो संयोग मिलते हैं, उनके कारण भी आगामी कर्म का बंध नहीं होता है।

मात्र मोहनीय कर्म के उदय से जो मोह-राग-द्वेष परिणाम होते हैं; उन परिणामों से ही आगामी कर्मबंध होता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानावरणादि जो सात कर्म हैं, वे आगामी कर्मास्रव एवं कर्मबंध के लिए अकार्यकारी हैं। इन सात कर्मों का उदय आया, इनका फल मिला तो ये चाहे भोगकर खिरें, चाहे बिना भोगे खिरें; लेकिन इनसे परम्परा आगे नहीं बढ़ती है, इनसे आगे द्रव्यकर्म से भावकर्म का दुष्चक्र नहीं चलता है।

जिसप्रकार एक पिता के आठ पुत्रा होते हैं; उनके आगे पुत्रा के पुत्रा होते हैं; इसप्रकार परम्परा चलती है। कभी-कभी चार पुत्रा शादी नहीं करते हैं, तीन पुत्राओं को पुत्रियाँ ही होती है एवं एक पुत्रा को पुत्रा होता है। इसप्रकार यहाँ मात्रा एक पुत्रा से ही कुल परम्परा आगे बढ़ती है; बाकी सात पुत्राओं से कुल परम्परा आगे नहीं बढ़ती है।

इसी भाँति सात कर्म एक पीढ़ी से आगे चलते ही नहीं हैं। नामकर्म के कारण शरीर का संयोग होता है, पर इस शरीर के कारण आगामी कर्मबंध नहीं होता है, यह कर्म उदय में आकर संयोग देकर नाश को प्राप्त हो जाता है। उसका अनंतकाल के लिए नाश हो जाता है। इसीप्रकार अन्य छह कर्मों से संयोगों का भी जानना चाहिए।

यदि हम शरीर आदि संयोग से राग करेंगे तो कर्मबंध होगा; क्योंकि राग तो मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला भाव है। मोहनीय कर्म के उदय से जो मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं, वे आगामी कर्मबंध के कारण हैं। मोहनीय कर्म से ही द्रव्यकर्म से भावकर्म की परम्परा आगे बढ़ती है। इसप्रकार द्रव्यकर्म में सात द्रव्यकर्मों के वंश का नाश तो होनेवाला ही है।

उन सात प्रकार के द्रव्यकर्मों में यदि जीव अपूर्वकरणरूप पुरुषार्थ न करे तो कुछ निधत्ति-निकाचितरूप द्रव्यकर्मों का फल ऐसा होता है, जिन्हें भोगना ही पड़ता है एवं कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें नहीं भोगे तो भी चलता है; ऐसी अवस्था में वे बिना भोगे स्वयमेव खिर जाते हैं। इसप्रकार इन सात कर्मों के फल में भोग्य, अभोग्य – ऐसी दोनों स्थितियाँ पायी

जाती हैं। चक्रवर्ती, तीर्थकरों के निधत्ति-निकाचितरूप कुछ पुण्य कर्मफल ऐसे होते हैं, जिन्हें भोगना ही पड़ता है। नरकायु बाँध ली है तो उसे भोगना ही पड़ता है।

इसप्रकार कर्म में जो सात प्रकार के द्रव्यकर्म हैं; इनकी संतति नहीं चलती है। सुस्वर नामकर्म से अच्छा गला एवं दुःस्वर नामकर्म से बुरा गला मिला, यहीं तक नामकर्म की संतति है, इसके आगे अच्छे गले से पुण्य और बुरे गले से पाप नहीं बंधता है। जो कर्म संयोग में ही फलते हैं, वे कर्म संयोग देने के पश्चात् नाश को प्राप्त हो जाते हैं; इसप्रकार कितने ही द्रव्यकर्म व्यर्थ में ही खिर जाते हैं।

आठ कर्मों में मात्र मोहनीय कर्म की ही संतति चलती है। मोहनीय कर्म के भी दो भेद हैं, एक दर्शन मोहनीय एवं दूसरा चारित्रमोहनीय।

करणानुयोग की अपेक्षा से चारित्रमोहनीय के उदय में होनेवाले भावों से जो बंध होता है, उस बंध को अध्यात्म में बंध गिनते ही नहीं हैं; क्योंकि वह बंध अनंत संसार का कारण नहीं है। दर्शनमोहनीय के उदय से होनेवाले आस्रव और बंध की अपेक्षा यह चारित्रमोहजन्य आस्रव-बंध अनंतवाँ भाग है। इसी आधार पर सम्यग्दृष्टि को निरास्रव कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि के आस्रव विद्यमान हैं। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जो अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन संबंधी राग विद्यमान है; उससे जो 77 प्रकृतियाँ बंधती हैं; तत्संबंधी आस्रव हैं। लेकिन आस्रवाधिकार में आचार्य सम्यग्दृष्टि को निरास्रव कहते हैं। इसका आधार यह है कि चारित्रमोह के उदय में जो राग-द्वेष परिणाम होते हैं और उनसे जो आस्रव है, बंध है; उसे अध्यात्म आस्रव-बंध गिनता ही नहीं है।

चारित्रमोह के उदय में जिन कर्मों का बंध होता है, वे अधिकांशतः शुभ-अशुभ संयोगों में फलते हैं और वे संयोग बंध के कारण नहीं हैं। मिथ्यात्व से जो बंध होता है, वह संयोग में फलनेवाला नहीं है; उससे

परद्रव्य में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वबुद्धि होती है; वह आत्मा में फलनेवाला है।

86 इस पर शिष्य के हृदय में यह शंका होती है कि सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को भोगों को भोगते हुए, खाते-पीते देखा है, तो क्या ऐसी स्थिति में उनके बंध नहीं होता है ?

इस प्रश्न को पंडित बनारसीदासजी इस छन्द के माध्यम से और अधिक स्पष्ट करते हैं -

(सवैया तेईसा)

ज्यों जग मैं विचरै मतिमंद, सुछंद सदा वरतै बुध तैसो ।
चंचल चित्त असंजत वैन, सरीर-सनेह जथावत जैसो ॥
भोग संजोग परिग्रह संग्रह, मोह विलास करै जहं ऐसो ।
पूछत सिष्य आचारोज सौं यह, सम्यकवंत निरास्रव कैसो ॥

जिसप्रकार मंदमती मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दता से विचरण करता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि भी विचरण करता है। जिसप्रकार अज्ञानी का चित्त चंचल होता है, वाणी असंयत होती है, शरीर के प्रति प्रेम होता है, भोगों का संयोग होता है, परिग्रह का संग्रह होता है और मोह का विलास होता है; उसीप्रकार ज्ञानी के भी देखा जाता है। शिष्य आचार्यश्री से पूछता है कि ऐसी स्थिति में आप सम्यग्दृष्टि को निरास्रव कैसे कहते हो ?

श्रीरामचन्द्रजी सम्यग्दृष्टि होते हुए भी छह माह तक लक्ष्मण के शव को कंधे पर रखे रहे तथा वन में सीता के अपहरण के बाद पशु-पक्षियों से सीता के बारे में पूछते रहे -

हे खग हे मृग मधुकरश्रेणी। तुम देखी सीता मृगनैनी ॥

हे पक्षियों ! हे मृगों ! हे भ्रमरावलियो! क्या तुमने मृगनयनी सीताजी को देखा है ?

ऐसे सम्यग्दृष्टियों के चरित्रा हमने शास्त्रों में देखे हैं, पढ़े हैं।

समाधिगतक में सम्यग्दृष्टि के संदर्भ में यहाँ तक लिखा है कि सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थापि विभ्रमो नात्मदर्शिनाम्। तात्पर्य यह है

कि सम्यग्दृष्टि यदि पागल भी हो जाए तो भी सम्यग्दर्शन कायम रहता है।

दिग्विजय के लिए भरत निकले तो वह भी परिग्रह का संग्रह ही था।

इसप्रकार शिष्य यह प्रश्न करता है कि हमें तो सम्यग्दृष्टि का सम्पूर्ण आचरण मिथ्यादृष्टियों जैसा ही दिखाई देता है — ऐसी स्थिति में उन्हें निरास्रव कैसे कहा जा सकता है ?

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के द्रव्यास्रव की सारी संतति विद्यमान है, तब भी उन्हें आप निरास्रव कहते हो — यह समझ में नहीं आता है ?

इस प्रश्न को आचार्य इस कलश के माध्यम से स्पष्ट करते हैं —
सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।

कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवैति चेन्मतिः ॥११७॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान सम्पूर्ण।

फिर भी ज्ञानी निरास्रव कैसे हो परिपूर्ण ॥११७॥

ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रवों की संतति विद्यमान होने पर भी यह क्यों कहा गया है कि ज्ञानी सदा ही निरास्रव है; यदि इस जीव की ऐसी मति (आशंका) है तो अब इसका उत्तर कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के मात्रा चारित्रामोहनीय कर्म के उदयवाला आस्रव होता है, श्रद्धा की दृष्टि में इस आस्रव की कोई कीमत नहीं है। जैसे, जिसके पास करोड़ों का कर्जा था और करोड़ों की सम्पत्ति है; उसके पास सौ रुपयों का कर्जा कोई कर्जा नहीं है।

उसीप्रकार सातों द्रव्यकर्मा का उदय, आस्रव एवं बंध का कारण नहीं है, मोहनीय कर्म में भी दर्शनमोहनीय कर्म का उदय है ही नहीं; चारित्रामोहनीय कर्म के उदय को यहाँ गिनते ही नहीं हैं। इसप्रकार ज्ञानी के कर्मास्रव नहीं हैं; इसलिए उसे निरास्रव कहा है। इसे और अधिक स्पष्ट समझने के लिए समयसार कलश का यह पद्यानुवाद उपयुक्त है —

(हरिगीत)

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय बंधे थे अब वे सभी,
काल पाकर उदित होंगे सुप्त सत्ता में अभी।

87

यद्यपि वे हैं अभी पर रागद्वेषाभाव से,

अंतर अमोही ज्ञानियों को बंध होता है नहीं ॥११८॥

सम्यग्दृष्टि के पूर्व में जो द्रव्यकर्म बंधे थे, वे अभी विद्यमान हैं। जबतक इनका उदयकाल नहीं आए; तबतक ये कोई फल नहीं दे सकते हैं। यह इनकी मजबूरी है कि जब ये बंधते हैं तब भी ये कुछ नहीं कर सकते हैं और सत्ता में रहते समय भी कुछ नहीं कर सकते, निमित्त रूप में भी नहीं।

सात कर्मों के बंधने में मोह—राग—द्वेष भाव निमित्त हैं; परंतु वे स्वयं किसी कर्म के बंधने में, उदयकाल में मात्रा संयोग देने में निमित्त होते, उपादान तो हैं ही नहीं। जब वे कर्म सत्ता में हैं, तब वे पृथ्वी के ढेले के समान हैं अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते। जिससमय उनका उदय होता है, तभी वे निमित्त होते हैं, उपादान तो हैं ही नहीं।

यदि वह अघातिया कर्म है तो ही वह संयोग में निमित्त होगा; लेकिन वह संयोग बंध का कारण नहीं है। ज्ञानावरण कर्म है, वह अज्ञान में निमित्त है; यह अज्ञान बंध का कारण नहीं है, मिथ्याज्ञानवाला अज्ञान बंध का कारण है। ज्ञानावरण के उदय में होनेवाला अज्ञान औदयिक अज्ञान है, वह मिथ्याज्ञानवाला अज्ञान नहीं है।

अब मात्रा मोहनीय कर्म रहा, उस मोहनीय कर्म में भी भूतकाल के कर्म तो खिर गए, सत्ता में स्थित कर्म भी कुछ नहीं करते हैं अर्थात् वे आगामी कर्मबंध में कारण नहीं हैं। संयोग में भी जो अनुकूल—प्रतिकूल संयोग मिलेंगे; उनसे भी आगे कर्म बंधनेवाले नहीं हैं।

कर्म बंधते वक्त कुछ कार्यकारी नहीं, जब सत्ता में स्थित हैं, तब भी कुछ कार्यकारी नहीं हैं। सात प्रकार के कर्म यदि उदय में आए तो भी वे आगामी कर्मबंध के कारण नहीं हैं, निमित्त भी नहीं हैं।

अब शेष मोहनीय कर्म में भी चारित्रमोहनीय के उदय से जो भाव होंगे; वे आस्रव में एवं बंध में निमित्त होंगे; लेकिन इससे इस जीव का कुछ विशेष बिगाड़ नहीं है। अतः अध्यात्म में चारित्रमोह के उदय से होनेवाले बंध को बंध ही नहीं गिना है।

मिथ्यात्व के उदय से जो बंध होता है, वही वास्तविक बंध है; वही आगामी कर्मबंधन में निमित्त है। वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के नहीं है; अतः सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को कर्म का सद्भाव होने पर भी वे कुछ कार्यकारी न होने के कारण निरास्रव कहा है।

इसे इस कलश पद्यानुवाद में विशेष स्पष्ट किया है —

(दोहा)

राग द्वेष अर मोह ही केवल बंधकभाव।

ज्ञानी के ये हैं नहीं तातैं बंध अभाव॥119॥

मोह—राग—द्वेष भाव ही बंध करनेवाले भाव हैं। ज्ञानी के मोह अर्थात् दर्शनमोह संबंधी मोह नहीं है एवं राग—द्वेष अर्थात् अनंतानुबंधी संबंधी राग—द्वेष भी नहीं हैं। अन्य जो राग—द्वेष हैं; उन्हें अध्यात्म में राग—द्वेष मानते ही नहीं। इस कारण ज्ञानी के बंध का अभाव है।

लौकिक जीवन में हम किन्हीं दो व्यक्तियों की पारस्परिक तुलना करते हुए कहते हैं कि सुरेशजी को बहुत गुस्सा आता है और हमारे रमेशजी को तो कभी गुस्सा आता ही नहीं।

रमेशजी को क्रोध नहीं आता है — ऐसी बात नहीं है। लेकिन कम क्रोध आता है, उसे ही क्रोध नहीं आता है — ऐसा कहते हैं। इसप्रकार हमने क्रोधियों में भी क्रोधी और अक्रोधी ऐसे दो भेद कर लिए; जबकि इस अक्रोध में क्रोध की सिर्फ मंदता है; जबकि ज्ञानी में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का पूर्ण अभाव है। यदि उन्हें क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव है — ऐसा कहते हैं तो इसमें कोई दोष नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यानावरण आदि से संबंधित क्रोध, मान, माया, लोभ को अध्यात्म में कुछ गिना ही नहीं है; इसलिए यह कथन उचित ही है

कि उनके मोह—राग—द्वेष नहीं हैं; अतः उनके आस्रव—बंध भी नहीं हैं।

अब आचार्य, सत्ता में स्थित कर्म फल नहीं देता है, बंधते हुए कर्म फल नहीं देते — इसे मूल गाथाओं में इस उदाहरण के माध्यम से समझाते हैं —

88

सत्त्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि समदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥173॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तद्विहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥174॥
संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥175॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥176॥

(हरिगीत)

सद्दृष्टियों के पूर्वबद्ध जो कर्मप्रत्यय सत्त्व में।
उपयोग के अनुसार वे ही कर्म का बंधन करें ॥173॥
अनभोग्य हो उपभोग्य हों वे सभी प्रत्यय जिसतरह।
ज्ञान—आवरणादि वसुविध कर्म बाँधे उसतरह ॥174॥
बालबनिता की तरह वे सत्त्व में अनभोग्य हैं।
पर तरुणवनिता की तरह उपभोग्य होकर बाँधते ॥175॥
बस इसलिए सद्दृष्टियों को अबंधक जिन ने कहा।
क्योंकि आस्रवभाव बिन प्रत्यय न बंधन कर सके ॥176॥

यहाँ उदाहरण में तत्काल की विवाहित बाल स्त्री ली है। यद्यपि लोक में कानूनी और सामाजिक दृष्टि से विवाहित स्त्री को उसके पति द्वारा भोगने योग्य माना जाता है; तथापि यदि वह विवाहित स्त्री बालिका हो, कच्ची उम्र की हो, तो विवाहित होने पर भी बाल्यावस्था के कारण भोगने योग्य नहीं होती; किन्तु जब वही विवाहित बालिका जवान

हो जाती है तो सहज ही पुरुष (पति) के द्वारा भोगने योग्य हो जाती है।

इस उदाहरण के माध्यम से आचार्यदेव यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि स्वयं के द्वारा पूर्व में बांधे गए और जो अभी सत्ता में विद्यमान हैं, वे कर्म जीव के द्वारा अभी बालिका स्त्री के समान भोगने योग्य नहीं हैं; किन्तु जब उनका उदयकाल आयेगा, तब वे जवान स्त्री की भाँति भोगने योग्य हो जावेंगे।

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार पूर्व में विवाहित वह बालस्त्री जवान हो जाने पर भी पुरुष (पति) को पुरुष के रागभाव के कारण ही वश में करती है, बंधन में डालती है।

यदि पुरुष (पति) के हृदय में रागभाव न हो तो वह जवान स्त्री (पत्नी) भी उसे बाँध नहीं सकती; उसीप्रकार पूर्व में बद्धकर्म उदय में आने पर भी जीव को उसके रागभाव के कारण ही बंध के कारण बनते हैं। यदि जीव की पर्याय में रागभाव न हो तो मात्रा द्रव्यकर्मों का उदय कर्मबंध करने में समर्थ नहीं होता।

यहाँ इसी बात पर विशेष वजन दिया गया है कि आत्मा में उत्पन्न मोह—राग—द्वेषरूप भाव ही मूलतः बंध के कारण हैं। यदि मोह—राग—द्वेष न हो तो पूर्वबद्ध कर्म का उदय भी बंधन करने में समर्थ नहीं है।

इसप्रकार न तो बंधावस्था को प्राप्त कर्म बंधन के कारण हैं, न सत्ता में पड़े हुए कर्म बंधन के कारण हैं और न रागादि के बिना उदय में आये कर्म बंधन के कारण है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्म का बंध, सत्त्व व उदय सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव को बंधन में नहीं डालते, आगामी कर्मों का बंध नहीं करते; अपितु आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव ही कर्मबंध के मूल कारण हैं। इस भाँति जिसके अन्तर में मिथ्यात्व है; उसे ही कर्मास्रव, कर्मबंध होता है तथा ज्ञानी इनसे रहित है; अतः वह निरास्रव है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोगों के संयोग में रहते हुए भी, उसके कदाचित् भोग के भाव विद्यमान रहते हुए भी वह किसप्रकार निरास्रव है — यही बताना आस्रवाधिकार का मूल प्रतिपाद्य है। ●

बारहवाँ प्रवचन

89

आस्रव अधिकार में 'आस्रवों के भेद—प्रभेद में न जाकर भोगों का संयोग होने पर भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को कर्मों का आस्रव नहीं होता है।' इस बिन्दु को बहुत विस्तार से स्पष्ट किया है। इसे समझने के लिए हमें कर्मबंध की, आस्रव की प्रक्रिया को समझना अत्यंत आवश्यक है।

महाशास्त्रा तत्त्वार्थसूत्रा में आस्रवों का वर्णन करते हुए आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि — 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा—बंधहेतवः' अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु अर्थात् आस्रवभाव हैं। कर्मों का आस्रव इन पाँच कारणों से होता है। ये पाँच भाव किस कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं — ये जानना भी अत्यंत आवश्यक है।

मिथ्यात्व, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होता है अर्थात् मिथ्यात्व में दर्शनमोहनीय कर्म का उदय निमित्त है और अविरति, प्रमाद और कषाय में चारित्रामोहनीय कर्म का उदय निमित्त है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय — ये चारों बंध के प्रमुख कारण हैं। योग तो ऐसा कारण है, जो तेरहवें गुणस्थान में वीतरागी सर्वज्ञ भगवान के भी होता है। इस योग से जो आस्रव होता है, वह एक समय का होता है, वह एक समय में ही आकर खिर जाता है; इसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

अनंत संसार को बढ़ानेवाला जो साम्प्रायिक आस्रव है, वह योग से नहीं होता है। योग को हम यहाँ थोड़ा गौण करें, तो अन्य चार जो आस्रव के मुख्यकारण हैं, उसमें एक दर्शनमोहनीय एवं अन्य तीन चारित्रा मोहनीय कर्म के उदय से हुए। मोहनीय कर्म को छोड़कर जो अन्य सात कर्म हैं, उनका उदय आस्रव के कारणों में नहीं है, इसे तर्क—युक्ति से सिद्ध किया जा चुका है। यहाँ हम इसे आगम से सिद्ध कर रहे हैं।

आगम में भी आस्रव के कारणों में इन्हीं को गिनाया गया है और

ये भाव सिर्फ मोहनीय कर्म के उदय में होते हैं। इसका आशय यह है कि मोहनीय को छोड़कर शेष सात कर्मों के उदय के कारण कर्मों की संतति आगे चलनेवाली नहीं है, इनका वंश तो यहाँ ही समाप्त होनेवाला है। इनके बारे में पूर्व में ही कहा था कि ये हमारे पास मात्रा सत्ता में पड़े हैं। जो कर्म सत्ता में पड़े हैं; उन्हीं के विचार से हम आकुलित—व्याकुलित होते हैं। उन सात कर्मों में से आगामी कर्मबंध का कारण एक भी नहीं बनेगा; न निमित्त बनेगा, न उपादान बनेगा।

ये सात कर्म जब भी बंधते हैं, तब निमित्तरूप से भी कुछ फल नहीं देते हैं और जबतक सत्ता में रहते हैं, तब भी फल नहीं देते हैं। जब उदय में आयें, तब फल का प्रश्न उपस्थित हो सकता है। ये कर्म सत्ता में तो लाखों वर्ष पर्यन्त रहते हैं; लेकिन उदय में मात्रा एक समय को ही आते हैं।

कर्म का एक निषेक एक ही समय में उदय में आयेगा और फिर दूसरे समय में दूसरा और तीसरे समय में तीसरा निषेक। इसप्रकार की स्थिति संसारी जीव की अनंतकाल तक बनी रहेगी; लेकिन जो कर्म अभी बंधा है, उसकी स्थिति बंधी है, वह स्थिति पूर्ण होने पर एक समय में उदय में आता है और एक ही समय में खिर जाता है और जो फल देने की अपेक्षा है, वह उदय के काल में ही फलित होती है।

अब एक मोहनीय कर्म शेष रहता है। जो कर्म सत्ता में है, वह जबतक उदय में नहीं आता; तबतक असर नहीं करता। बंध के काल में नहीं, सत्ता के काल में नहीं, सिर्फ उदय के काल में ही असर दिखाता है। यह प्रभाव भी वह कर्ता के रूप से नहीं; अपितु निमित्तरूप में ही दिखाता है।

आशय यह है कि हमारा यह शत्रु कितना कमजोर है — यदि यह पता चले तो हमारी हिम्मत बढ़े; परन्तु आजतक हमने कर्म के इतने गीत गाए हैं कि उससे हमारी हिम्मत पस्त हो गई है —

ऐसे कर्म बड़े बलवान जगत में पेरत हैं।।टेक।।
पवनंजय की रानी अंजना गर्भ विषैं हनुमान।

सगी सास ने दियो निकारो किस विधि राखो प्राण।।

जगत में पेरत हैं, ऐसे कर्म बड़े बलवान जगत में पेरत हैं।।

इसप्रकार हमने कर्मों के बहुत गीत गाए और सुने भी हैं। इससे कर्मों की महिमा बहुत बढ़ गई और प्राप्तव्य आत्मा की महिमा घट गई।

कर्मों ने तीर्थकर आदिनाथ को नहीं छोड़ा, कर्मों ने तीर्थकर पार्श्वनाथ को नहीं छोड़ा; मुनिराज पार्श्वनाथ पर पत्थर बरसाए और मुनिराज आदिनाथ को एक वर्ष तक आहार नहीं मिला — ऐसे कथन सुनकर हमारा हृदय कमजोर हो गया है।

लेकिन क्या कर्मों ने मुनि आदिनाथ को नहीं छोड़ा है ? क्या कर्मों ने मुनि पार्श्वनाथ को नहीं छोड़ा ? यदि उन्हें कर्म नहीं छोड़ते तो वे आज संसार में होते, मोक्ष कैसे चले गए ?

यह कितना परमसत्य है कि आदिनाथ से महावीर तक सभी तीर्थकरों को कर्मों ने छोड़ दिया है अथवा इन तीर्थकरों ने कर्मों को तोड़ दिया है। कर्म की जंजीरें तोड़कर वे तीर्थकर मुक्त हुए; फिर भी हमारा यही पूर्वाग्रह रहता है कि 'कर्मों ने नहीं छोड़ा' और यही सबको जँचता है; क्योंकि वे याद करते हैं कि 'मुनि आदिनाथ को आहार नहीं मिला था, मुनि पार्श्वनाथ पर पत्थर बरसे थे।' लेकिन मैं पूछता हूँ कि युद्ध का निर्णय अंतिम दृश्य से होता है या मध्यकाल के दृश्य से ? वह तो मध्य का छोटा—सा दृश्य था।

कर्म के उदय से जब मुनि पार्श्वनाथ के ऊपर पत्थर बरस रहे थे, उसके आधे घंटे पश्चात् चार घातिया कर्मों का महल भर—भराकर गिर गया था और अघातिया कर्म भी निरर्थक से हो गये थे। तुरंत समवशरण की रचना हुई और अनंत सुख प्रकट हो गया; फिर भी अभी भी यही कहा जाता है कि कर्मों ने नहीं छोड़ा। हमें मात्रा इतना ही याद है।

अरे भाई ! जब कर्म का उदय आ रहा था और उपसर्ग हो रहा था; इसके पश्चात् क्या हुआ ? यह कहानी भी विस्मृत नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकरण के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट करना भी अनुचित नहीं

है कि हम तीर्थंकर पार्श्वनाथ की उपसर्ग के समय की सांप के फणवाली एवं धरणेन्द्र—पद्मावतीवाले पार्श्वनाथ की मूर्ति को विराजमान करके भगवान पार्श्वनाथ को कम, कर्म की बलवत्ता को अधिक याद करते हैं।

धरणेन्द्र—पद्मावती पार्श्वनाथ की रक्षा कर रहे हैं; क्या यह पार्श्वनाथ का सबसे बढ़िया समय था। क्या यह उनकी दिग्विजय का दृश्य था ? हमारा फोटो यदि घर में लगाना हो या किताब में छपाना हो, तो वह फोटो छपाते हैं, जिसमें हमारा सम्मान हो रहा है; न कि पिटाईवाले फोटो को।

इससे यह नहीं कहा जा रहा है कि फणवाली पार्श्वनाथ की मूर्ति अपूज्य है; लेकिन विचार यह आता है कि हमने ऐसे चित्रा क्यों पसंद किए ? क्या यह पार्श्वनाथ के जीत का दृश्य है ? इसके आधे घण्टे पश्चात् वे जीत गए और अष्ट प्रातिहार्य से युक्त हो गए। यह दृश्य हमें पसंद क्यों नहीं आया ? उपसर्ग न तो पुण्योदय से होता है और न ही धर्म करने से। वह धर्म का कार्य नहीं था, उन्होंने पूर्व में कोई पाप किया होगा, उसी का वह फल था।

यदि हमारे चेहरे पर सफेद दाग हो जाता है और हमें चित्राकार से स्वयं का फोटो बनवाना हो तो क्या वह दाग भी साथ में बनवायेंगे ? वह दाग भी तो पापकर्म के उदय का परिणाम है — ऐसे ही मुनि पार्श्वनाथ के ऊपर आपतित उपसर्ग भी पूर्व में बांधे हुए पापकर्म का ही परिणाम है।

उन्होंने पूर्व में जो भाव करके इस कर्म को बांधा होगा; वही परिणाम उदय में आया है। धीरे-धीरे यह घटना इतनी प्रचलित हो गई कि यह फण पार्श्वनाथ का चिन्ह हो गया है।

आज ऐसे भी लोग हैं जो बिना फण की पार्श्वनाथ की मूर्ति को पार्श्वनाथ की मूर्ति मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यदि हम कहते हैं कि यह पार्श्वनाथ की मूर्ति है, तब वे पूछते हैं कि इसका फण कहाँ है ?

यहाँ प्रश्न है कि यदि फण नहीं तो फिर पार्श्वनाथ का चिन्ह क्या है? पार्श्वनाथ का चिन्ह तो सर्प ही है; किन्तु चिन्ह जहाँ होता है, वहाँ होना चाहिए न ! चिन्ह आसन पर होना चाहिए न कि माथे पर।

भगवान महावीर की मूर्ति पर जहाँ सिंह का चिन्ह होता है; वहीं पार्श्वनाथ की मूर्ति पर सर्प का चिन्ह होना चाहिए।

यह पार्श्वनाथ की मूर्ति का विरोध नहीं है, पार्श्वनाथ की मूर्ति का विरोध तो वह करता है, जो बिना फणवाली मूर्ति को पार्श्वनाथ की मूर्ति मानने के लिए तैयार नहीं है। हम तो फणवाली पार्श्वनाथ की मूर्ति को भी मानते हैं और बिना फणवाली पार्श्वनाथ की मूर्ति को भी; लेकिन इस मन्तव्य पर इतना तो विचार हो ही सकता है कि दोनों में से श्रेष्ठ कौन है ? लेकिन दोनों चित्राओं में से किसी एक चित्रा को हमें चुनना है तो हम किस चित्रा को चुनेंगे ?

हमारे गले में मालायें पड़ती हैं, उस चित्रा को चुनना श्रेष्ठ है या हमारे ऊपर लाठियाँ बरसायी जाती है, उस चित्रा को ? क्योंकि पुण्य—पाप के उदय के अनुसार दोनों ही स्थितियाँ सम्भव हैं।

आस्रव कितना कमजोर है, जरा विचार तो कीजिए ! आजतक हमने कर्मों के ही गीत गाए हैं कि कर्म कितना बलवान है ? लेकिन क्या इस पर भी विचार किया है कि जब वह बंधा था, तब उसने कुछ नहीं किया।

‘जब कर्म बंधते हैं, तब भी फल नहीं देते और जब सत्ता में पड़े रहते हैं, तब भी फल नहीं देते। यह तो ठीक, पर यह भी तो बताओ कि जब उदय में आते हैं तब फल देते हैं कि नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर आस्रव अधिकार में आचार्य देते हैं कि — ‘वे कर्म जब उदय में आते हैं, तब उपयोग के प्रयोगानुसार फल देते हैं।’

‘उपयोग के प्रयोगानुसार फल’ — का आशय यह है कि जब वह कर्म उदय में आए और तुम्हारा उपयोग यदि आत्मा में हो तो उस कर्म के फल का संयोग तो होगा; किन्तु उसमें रंजायमान न होने से कर्मबंध नहीं होगा। जैसे कि नामकर्म का उदय हुआ तो गोरा—काला शरीर होगा, सुस्वर—दुःस्वर भी होगा, वह संयोग तो होगा; लेकिन उपयोग यदि कर्म के उदयस्वरूप संयोग में नहीं होगा, तो इसका उपभोगरूप और बंधरूप फल हमें नहीं मिलता है; क्योंकि हम स्वयं तो आत्मा में मग्न है।

जैसे गला चाहे जैसा रहे, हमें बोलना ही नहीं है तो सुस्वर और दुःस्वर से कुछ अंतर ही नहीं होता।

यदि हमारे सुस्वर नामकर्म का उदय होता तो क्या होता ? पण्डित से गवैये बनते। इसमें क्या अच्छा है ? पण्डित बनना या गवैये ? प्रवचनकार से पूजनकार होते। यदि गला बढ़िया होता है तो भगवान के गीत गाते; और यदि दुःस्वर है तो भगवान ने जो कहा है, वह सुनाते हैं। तो कहिए कि दुःस्वर पुण्योदय से मिलता है या पापोदय से ? यह तो तेरे अनुभव पर है कि तू इसे इष्ट मान रहा है या अनिष्ट ?

जिसमें अनुकूलता का वेदन हो, वह इष्ट है, सुख है और जिसमें प्रतिकूलता का वेदन हो, वह अनिष्ट है, दुःख है — ये दोनों क्रमशः पुण्य—पाप के उदय से हैं और इसमें यदि वेदन नहीं होता है तो वह कर्म फल दिए बिना ही खिर जाता है।

आशय यह है कि उपयोग के प्रयोगानुसार अर्थात् उपयोग यदि आत्मा में चला जाता है तो बाह्य में सात कर्मों का उदय आकर खिर जाता है, उसका फल नहीं मिलता है।

जैसे कि पूर्व में उदाहरण दिया था कि जिसप्रकार तत्काल परिणीत बालस्त्री उपभोग के योग्य नहीं है। वह अपनी विवाहिता है, फिर भी उपभोग के योग्य नहीं है। जब वह परिणीता बालस्त्री तरुण होती है, तब उपभोग के योग्य होती है। इसीप्रकार सत्ता में पड़ा हुआ कर्म भोगने योग्य नहीं है। वह कर्म जब उदय में आये, तब वह भोग के योग्य होता है।

यद्यपि वह भोग के योग्य तरुण स्त्री, पुरुष को बाँधने में समर्थ है; तथापि वह स्त्री कितनी ही सुंदर, कितनी ही जवान, कितनी आकर्षक क्यों न हो; लेकिन यदि पुरुष का उपयोग ही उसकी ओर नहीं है, अपने व्यवसाय में, अध्ययन में लग रहा है तो वह उसको बाँध नहीं सकती; क्योंकि वह उपयोग के प्रयोगानुसार ही बांधती है।

अंदर में उसका स्त्री के प्रति राग है और उसका उपयोग उधर है तो वह उसको बांधती है। सात फेरे पड़ने से, कच्चे धागे

में बंधने से कोई फर्क नहीं पड़ता, उपयोग यदि उस तरफ है तो वह बंधन का कारण है। उपयोग के प्रयोगानुसार ही वह बंध का कारण है। इस उदाहरण को स्त्री, पुत्र, मकान जायदाद सब पर घटित कर लेना।

यदि हमारा उपयोग स्त्री, पुत्र, मकान जायदाद पर है तो ये हमारे लिए बंधन के कारण हैं। उपयोग के प्रयोगानुसार ही ये भोगने में आएँगे; लेकिन उपयोग यदि वहाँ नहीं होगा तो ये हमारे भोगने में आनेवाले नहीं हैं, बिना भोगे ही ये कर्म खिर जाएँगे।

वे कर्म एक स्थान पर रहते नहीं, गंगा के पानी जैसे बहते ही रहते हैं। कर्म का उदय आ गया है; लेकिन यदि उसी समय हम आत्मा के ध्यान में लग गए हैं तो कर्म तबतक रुकते नहीं है।

जिसप्रकार गंगा का पानी बह रहा है; लेकिन हम अपनी आत्मा में गए हैं और हमें आत्मा से बाहर आने के बाद पानी पीना है तो गंगा का वह पानी रुक नहीं जाता, वह बहता ही रहता है और जब तुम बाहर आओगे तब तुम्हें जो पानी पीना था, वह तो बहकर आगे चला जाता है। उसीप्रकार आत्मा के ध्यान में जाने के पश्चात् जो कर्म उदय में आते हैं, वे बिना फल दिए ही खिर जाते हैं।

देखो ! कितना कमजोर है हमारा शत्रु ! जब बंधा था, तब भी कुछ नहीं कर सका; वर्षों तक हमारे पास सत्ता में पड़ा रहा; तब भी कुछ नहीं कर सका। जब उदय में आया, तब हमारा उपयोग इसके ऊपर नहीं था, राग इसमें नहीं था, दूसरे स्थान पर हमारा उपयोग था; अतः तब भी कितने ही कर्म ऐसे ही फल दिए बिना खिर गए।

इसे हम इस उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं। समझ लीजिए कि किसी ने मुझे 20 रुपए की एक किताब भेंट दी; उसमें हमारा पुण्य खर्च होता है। यदि किताब हमें भेंट में नहीं मिलती है और हम खरीदते हैं, तब भी हमारा पुण्य का उदय खर्च होता, यह कर्म का गणित है। इसमें मात्रा किताब खरीदने या भेंट मिलने पर ही पुण्य

खर्च नहीं हुआ; अपितु जबतक वह किताब हमारे पास रही, वह पुण्य के उदय से ही रही है।

आशय यह है कि जबतक किताब हमारे पास रही; तबतक प्रतिसमय पुण्य खर्च हो रहा है। एक बार पुण्य खर्च होकर वह चीज मिल गई और अमर्यादित समय तक हमारे पास रहेगी — इस भ्रम में कभी मत रहना।

यह घर के मकान में रहने जैसा नहीं है, होटल के कमरे में रहने जैसा है। जैसे कि हजार रुपए रोज देकर होटल के एक कमरे में रहते हैं, जितने दिन उस होटल में रहते हैं, उतने दिन का किराया देना होता है। होटल में आप कबतक ठहर सकते हैं? जबतक एक हजार रुपए एक दिन का किराया देते रहेंगे। इसीप्रकार सभी अनुकूल संयोगों में हमारा निरन्तर पुण्य खर्च होता है।

हमें अनुकूल पत्नी मिलती है तो भी वह पुण्य के उदय से ही मिलती है। जबतक हमारा निरन्तर पुण्य खर्च होता रहता है, तबतक वह पत्नी अनुकूल बनी रहती है। हमारा पुण्य खत्म होता है और जब पाप का उदय आता है, तब वही पत्नी प्रतिकूल हो जाती है। ऐसे ही पति, पुत्रा इन सभी संयोगों का समझ लो। कितनी विडम्बना है कि जिसे हम परिग्रह का संग्रह कहते हैं, वह पुण्य के उदय से आता है और इसी की सम्हाल में न जाने कितने गुणा पुण्य खर्च होता रहता है।

हमारे पास पुण्योदय से दस मकान हैं और स्त्री-पुत्रादिक सब अनुकूल हैं। हमारे पुण्योदय से जो चीजें प्राप्त हैं, उन सभी को एक साथ तो भोग नहीं सकते हैं। हमारे पास 25 प्रकार की मिठाईयाँ हैं, 10 कारें रखी हैं; लेकिन एक ही समय में इन्हें हम भोग नहीं सकते।

उपयोग के प्रयोगानुसार जिसमें हमारा उपयोग रहेगा, जिधर हमारा राग दौड़ेगा; वही वस्तु हमारे भोगने में आयेगी। अन्य सब वस्तुएँ भी तो हमारे पुण्य का उदय खर्च होने से ही हमारे अनुकूल हैं; लेकिन तब भी हम उन्हें नहीं भोग रहे हैं।

हमने 10 कमरे होटल में बुक किए, लेकिन एक ही कमरे में हम रह रहे हैं, भोगने में एक ही आ रहा है; ऐसी स्थिति में हमने कितना ही पुण्य क्यों न कमा लिया हो और बहुत भोग सामग्री प्राप्त कर ली हो; लेकिन उपयोग यदि हमारा वहाँ नहीं रहा और भोगने का भाव भी नहीं रहा, तो सारे भोग आकर खिर जाएँगे। उन्हें आप रोक नहीं सकते। वे तो समय पूरा होने पर चले ही जायेंगे। सोचो तब क्या होगा ?

भाई ! हम तो इंतजार कर रहे थे कि वह परिणीता बालस्त्री जवान हो जाय। अब जब वह जवान हुई है तो हमारा उपयोग वहाँ नहीं है, हमारा उपयोग व्यवसाय में लग गया है और उसमें ही ऐसा रच-पच गया है कि उसी उद्देश्य से परदेश चले गए और एक वर्ष तक आए ही नहीं। तो क्या वह बालस्त्री जो 20 साल की तरुणी हुई है, हमारे एक वर्ष परदेश जाने के पश्चात् 20 वर्ष की ही रहेगी या 21 वर्ष की हो जाएगी ? इसके बाद भी यदि 25 वर्ष तक तुम्हारा उपयोग व्यवसाय में ही रहा तो तबतक उस स्त्री की जवानी निकल जाएगी, वह वृद्धा हो जाएगी और इसमें तुम्हारा पुण्य निरन्तर खर्च होता ही रहेगा। इसमें ऐसा नहीं है कि पुण्य भोगने में नहीं आएगा तो वह तुम्हारे लिए रुका रहेगा, वह आगे काम आनेवाला नहीं है।

कई लोग ये कहते हुए फूले नहीं समाते कि 'मेरा एक बंगला दिल्ली में है और एक बंगला मुम्बई में है, एक शिखरजी में और एक कलकत्ता में है; हर स्थान पर चौबीसों घंटे नौकर रहते हैं, हम वहाँ जाते हैं तो हमारा कमरा हमेशा स्वच्छ और रसोई के लिए तैयार रसोइया मिलता है।'

अरे भाई ! एक ही व्यक्ति के पास इतने बंगले हैं कि कभी-कभी तो वह इन बंगलों में सारी जिन्दगी में एक बार भी नहीं जा पाता; क्या इन बंगलों के लिए प्रतिदिन खर्चा नहीं होता ? इनके रख-रखाव, व्यवस्था के लिए रुपए खर्च होते हैं; लेकिन यहाँ मात्रा पैसा ही खर्च नहीं होता, हमारा पुण्य भी खर्च होता है।

इसप्रकार अज्ञानियों के पुण्य-पाप भोगने में आते हैं, परन्तु ज्ञानी तो पुण्य-पाप के भोक्ता हैं ही नहीं, ज्ञानी तो कभी स्वयं को पुण्य-पाप का कर्ता-भोक्ता मानता ही नहीं है। वह स्वयं को मात्रा उसका ज्ञाता-द्रष्टा मानता है। ज्ञानी का शिखरजी का बंगला उसके लिए मात्रा ज्ञान का ज्ञेय है। यदि ज्ञानी से इसके बारे में पूछते हैं तो ज्ञानी कहता है कि यह मेरे ज्ञान में है कि मेरा एक बंगला शिखरजी में है। यदि ज्ञानी से पूछते हैं कि यह किसने बनाया है? तब ज्ञानी का उत्तर यह होता है कि "मैं इसका न कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ मैं इसका मात्रा ज्ञाता-द्रष्टा हूँ। मैं चक्रवर्ती भी हो जाऊँगा, तो भी मैं मात्रा चक्रवर्तित्व का ज्ञाता ही रहूँगा, चक्रवर्तित्व का कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाऊँगा।" यही कारण है कि ज्ञानी निरास्रव है।

'उपयोग के प्रयोगानुसार बंध होता है' यही आस्रवाधिकार का मूल प्रदेय है। इसीलिए इसमें ऐसा आया है कि बंध का कारण क्या है? इसकी चर्चा करते हुए मूल गाथा में लिखा है कि ज्ञान गुण बंध का कारण है। आस्रवाधिकार में बंध के कारणों में ज्ञानगुण की चर्चा है तो क्या ज्ञान गुण बंध का कारण हो सकता है ?

अरे भाई ! ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव बंध का कारण कैसे हो सकता है ? ज्ञान कभी बंध का कारण हो ही नहीं सकता।

यद्यपि यह सत्य है कि ज्ञान कभी बंध का कारण नहीं हो सकता; लेकिन ऐसा कौन-सा कारण है, जिससे ज्ञान को बंध का कारण कहा जा रहा है; इसे समझना अत्यंत आवश्यक है।

ज्ञान जिसमें है, बंध उसको ही होता है। जिसमें ज्ञान नहीं है — ऐसे रुमाल इत्यादि को बंध नहीं होता है। पुद्गल द्रव्य को कर्म का बंध नहीं होता; जिसमें ज्ञान गुण है — ऐसे आत्मा को ही कर्म का बंध होता है। बस इतनी अपेक्षा से ज्ञान को बंध का कारण कह दिया है। जबकि इसी समयसार में लिखा है कि — ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः।

ज्ञान तो शिव का हेतु अर्थात् मुक्ति का कारण है। तो क्या वास्तव में ज्ञान बंध का कारण है ?

नहीं, क्योंकि अगली ही गाथा में ऐसा कहा है कि ज्ञान नहीं; अपितु ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन ही बंध का कारण है। ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन अर्थात् जैसा उसका स्वभाव है, वैसा पूरा वर्तमान पर्याय में विकसित नहीं होना अर्थात् क्षायिक ज्ञान न होकर क्षयोपशम ज्ञान होना; ज्ञान जबतक क्षायोपशमिक होगा, तबतक बंध होगा। इसप्रकार ज्ञानगुण के जघन्य परिणमन को ही बंध का कारण कहा है। यही कारण है कि ज्ञान को बंध का कारण कहा जाता है।

जैसे किसी कवि सम्मेलन में प्रसिद्ध कवि को आमन्त्रित किया; लेकिन वह किसी कारणवश नहीं आया तो जनता रुष्ट हो जाती है। अच्छे कवि का नाम बताकर टिकिट बेचते हो — ऐसा आरोप लगाते हुए, जनता संयोजक की पिटाई कर देती है। संयोजक अस्पताल में हो और वह कवि उनसे मिलने आवे और पूछे कि ये कैसे, क्या हुआ ?

तब संयोजक कहता है कि 'आपकी कृपा से।'

तब वह कवि कहता है कि 'हम आए ही नहीं तो हमारे कारण ये कैसे हो सकता है, हम आए ही नहीं तो हम कारण कैसे हो सकते हैं ?'

तब संयोजक कहता है कि 'आपका नहीं आना ही कारण है।' ऐसे ही ज्ञान को बंध का कारण कैसे कह दिया ? ज्ञानगुण के जघन्य परिणमन के कारण ही ज्ञान को बंध का कारण कहा है। ऐसा कभी नहीं कहा जाता कि आपका नहीं आना पिटाई का कारण हुआ। लोक में तो ऐसा ही कथन होता है कि आपके कारण ही ऐसा हुआ; उसीप्रकार ज्ञानगुण के जघन्य परिणमन के स्थान पर ज्ञानगुण को ही बंध का कारण कह दिया है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानगुण का परिणमन चाहे जघन्य हो चाहे उत्कृष्ट; वह बंध का कारण कैसे हो सकता है ? एक ही आस्रवाधिकार में 'ज्ञानी को बंध नहीं होता' और 'ज्ञानगुण बंध का कारण है' क्या ये दोनों परस्पर विरुद्ध कथन नहीं हैं ? इनकी क्या अपेक्षा है ?

यदि यहाँ अपेक्षा नहीं समझी जाय तब तो अज्ञानी को यह कथन पागलों जैसा प्रलाप (विरुद्ध) लगेगा। पागल को समझदार भी पागल ही दिखते हैं। पागलपन तो अज्ञानी में है और वह देखता है आचार्यों में। ज्ञानगुण के जघन्य परिणमन को बंध का कारण कह रहे हैं — इसका आशय यह है कि वास्तव में तो जघन्य परिणमन बंध का कारण नहीं है, बंध का कारण तो एकमात्र मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला मोह-राग-द्वेष परिणाम हैं। ज्ञानगुण तो बंध का कारण है ही नहीं।

आस्रवाधिकार का यह कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होता है; लेकिन इसमें विरोध नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव आगे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जिनका ज्ञानगुण जघन्यरूप से परिणमन करता है, उनके नियम से राग होता है और वह राग बंध का कारण है।

यहाँ ज्ञान को बंध का कारण इसलिए कहा; क्योंकि वह राग की संगति में है, वह उसका अनिवार्यरूप से साथी है, ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन राग के सद्भाव के साथ अविनाभूत है। एकमात्र ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान को छोड़ दें तो जहाँ भी क्षयोपशमज्ञान होगा, वहाँ राग अनिवार्यरूप से होगा।

ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में ज्ञान का क्षयोपशम है और वहाँ राग नहीं है; शेष प्रथम से लेकर दसवें गुणस्थान तक ज्ञान और राग एक साथ ही रहते हैं। राग बंध का कारण होने से उसके साथ में रहनेवाले ज्ञान को भी बंध का कारण कह दिया है। ज्ञानगुण के जघन्य परिणमन के कारण ज्ञानपर्याय को, पर्याय के कारण गुण को और गुण के कारण द्रव्य को ही बंध का कारण कहा है।

आस्रवाधिकार में बंध का कर्ता आत्मा को कहा है। किसी परद्रव्य ने बंध नहीं कराया है, स्वयं के कारण ही स्वयं के अपराध के कारण ही दण्ड मिला है, बंध का कारण स्वयं में ही विद्यमान है।

यहाँ बंध की प्रक्रिया की बात चल रही है एवं यह प्रश्न उपस्थित

95

है कि ज्ञानी को आस्रव क्यों नहीं होता ?

सात कर्मों के उदय में होनेवाले भाव बंध के कारण नहीं हैं। मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले भाव ही बंध के कारण हैं; इसमें भी दर्शनमोह मुख्य है। चारित्रमोह उपयोग के प्रयोगानुसार अर्थात् अन्य सात कर्म के उदय में जो भी संयोग मिलेंगे; उसमें उपयोग के प्रयोगानुसार चारित्रमोह बंध का कारण है।

अघातिया कर्म का उदय तो संयोग में ही फलता है और अन्य तीन घातिया कर्म के उदय से जो संयोगी भाव हैं, उसे भी अध्यात्म में संयोग ही कहा है। जैसे क्रोध का संयोग, मान का संयोग। यहाँ क्रोध या मान कर्म को नहीं; अपितु क्रोध नामक जो आत्मा में भाव प्रगट होता है उसे भी संयोग ही कहा है।

ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान का क्षयोपशम है; उसे भी संयोग ही कहते हैं। संयोगों की उपलब्धि मात्रा से बंध नहीं होता; क्योंकि जबतक हमारा पुण्य-पाप का उदय है; तबतक वे संयोग हमारे साथ रहेंगे और पुण्य-पाप का उदय समाप्त होते ही वे चले जाएँगे।

जैसे एक पुलिसवाले की ड्यूटी लगी हुई है; आठ घंटे पूर्ण होने से पहले उसे यदि 50 बार भी जाने के लिए कहा जाएगा तो भी वह वहाँ से जानेवाला नहीं है। आठ घंटे होने के पश्चात् उसे कितना ही कहें पर वह एक सैकिण्ड भी रुकनेवाला नहीं है; क्योंकि वह तुम्हारे अनुसार वहाँ नहीं है, वह तो अपनी ड्यूटी के अनुसार वहाँ खड़ा है।

ऐसे ही कर्म के उदय के अनुसार संयोग हैं। जितने काल तक कर्म का उदय है; उतने काल तक वह संयोग है, उसके पश्चात् वह संयोग चला जाता है। जो संयोग होगा, उसके साथ उपयोग का प्रयोग भी होगा।

उपयोग के प्रयोग के साथ यदि राग होता है तो बंध होगा। राग होगा तो राग के अनुसार ही बंध होगा। अब यदि चारित्रमोहनीय का राग होता है तो अल्प बंध होकर ही रह जाएगा और यदि यह एकत्वबुद्धि

—पूर्वक राग है तो अनंत बंध होगा। ज्ञानी के दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व है ही नहीं, ज्ञानी के दर्शनमोहनीय का अभाव है; यही कारण है कि ज्ञानी को बंध नहीं होता है, यही आस्रवाधिकार का रहस्य है।

वही भोग ज्ञानी के भी है और वही भोग अज्ञानी के भी है; लेकिन ज्ञानी के बंध नहीं होता है और अज्ञानी के बंध होता है ! यह बात हमारे गले नहीं उतरती है।

देखो ! चार भाई एक साथ एक थाली में एकसाथ भोजन करते हैं; फिर भी उन चारों को एकसा कर्मबंध नहीं होता; क्योंकि चारों के भोजन की गृद्धता में अन्तर है।

यहाँ ज्ञानी—अज्ञानी के संदर्भ में न देखते हुए मात्रा अज्ञानी के संदर्भ में देखते हैं। चार अज्ञानी भी यदि एकसाथ भोजन करते हैं तो उन्हें भी एक—सा बंध नहीं होता है। भोजन तो सबने एक जैसा एवं एक ही मात्रा में किया है; इसके अनुसार तो सबको एक जैसा ही बंध होना चाहिए; लेकिन नहीं होता; चारों को बंध उनकी गृद्धता के अनुसार ही होता है।

कोई कम या अधिक भोजन करता है — यह तो पता चलता है; लेकिन इससे गृद्धता का अंतर प्रगट नहीं होता; क्योंकि जबतक भोग का संयोग रहे; तबतक गृद्धता का पता नहीं चलेगा। प्रतिदिन चटनी बनती है, थाली में आती है, चारों भाई खाते हैं; लेकिन ऐसा होते हुए भी चारों को चटनी खाने का पाप अलग—अलग लगता है। किसी को कम तो किसी को अधिक पाप लगता है।

गृद्धता में अंतर होने के कारण ही उसके पाप में भी अंतर आता है। गृद्धता का पता तो तब चलता है; जब एक दिन थाली में चटनी नहीं आती है। एक भाई भोजन के लिए आता है, तो उसे तो भोजन में कुछ कमी है — इसका आभास ही नहीं होता, उसे कोई विकल्प ही नहीं आता, उसके ज्ञान की ज्ञेय वह चीज ही नहीं बनती है। उसे यदि कहते हैं कि हमने चटनी रखी थी, उसे क्यों नहीं ली ? अपने हाथ से

भी ले सकते थे; लेकिन उपयोग जाता तो वह लेता। अरे ! सामने ही तो रखी थी; सामने रखने से क्या होता है ? अपना उपयोग ही दूसरी जगह हो तो वह खाने में ही नहीं आएगी।

96

दूसरा भाई भोजन के लिए आता है तो उसे कुछ भोजन में कमी नजर आती है और वह कहता है — ‘भोजन में आज कुछ मजा नहीं आ रहा है, आज भोजन में कुछ कमी है।’ इस भाई को भोजन में कमी तो नजर में आती है; लेकिन क्या कमी है ? इसके बारे में पता नहीं चलता है। जब उसे बताया जाता है कि आज भोजन में चटनी नहीं है; तब वह ‘चटनी बनाया करो, भोजन में मजा नहीं आता है,’ मात्रा इतनी शिकायत करता है और भोजन कर लेता है।

तीसरे भाई को जब पता चलता है कि भोजन में चटनी नहीं है, तब वह थोड़ा क्रोधित होते हुए कहता है कि — ‘समझ में नहीं आता कमाते किसलिए हैं, तुम लोग दिनभर क्या करती रहती हो ? चटनी तक नहीं बना सकती हो ? कल से चटनी बनना चाहिए।’ तीसरा भाई इसप्रकार उपदेश देकर भोजन करके चला जाता है।

चौथा भाई जब भोजन के लिए आता है और देखता है कि चटनी नहीं है तो वह कहता है कि — ‘चटनी क्यों नहीं बनी ? जाओ पहले चटनी बनाओ; बाद में भोजन होगा।’

यदि उसे कहते हैं कि ‘सामान नहीं है।’

तब वह कहता है — ‘बाजार से ले आओ।’

तब उसे कहते हैं कि — ‘ठीक है बैठो ! तबतक अन्य लोग तो भोजन करें।’

तब वह कहता है — ‘नहीं, मैं यहाँ भूखा बैठा रहूँ और सब लोग भोजन करें — ऐसा नहीं हो सकता; पहले चटनी !’

इसप्रकार जब चटनी नहीं आई, तब उन चारों भाइयों के चटनी खाने के राग में कितना अंतर है ? यह पता चला। यह जो अंतर है, उस अंतर के अनुसार ही बंध होता है। राग में जो अंतर है, वह दुनिया

को दिखाई नहीं देता।

घर में चार भाई हैं, पति-पत्नी हैं; सभी के पास भोगों का संयोग तो एक-सा ही है; लेकिन उन चारों भाइयों में कोई मिथ्यादृष्टि है, कोई सम्यग्दृष्टि है और कोई अणुव्रती है। उन चारों भाइयों को बंध अलग-अलग होता है। चारों भाइयों को जो बंध होता है, वह स्वयं के उपयोग के प्रयोगानुसार होता है। उपयोग के प्रयोग में भी वहाँ राग का कितना अंश है एवं वह किस जाति का है? उसके अनुसार बंध होता है।

उस राग की जाति में भी अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के अनुसार बंध होता है; चूँकि ज्ञानी को अनंतानुबंधी और मिथ्यात्व संबंधी राग नहीं होता है; अतः जो भी बंध होता है, वह अल्प ही होता है। वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला बंध भी स्वकाल में समाप्त हो जायेगा। उससे मोक्षमार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है, यही कारण है कि ज्ञानी के आस्रव नहीं है — ऐसा कहा है।

समयसार के आस्रवाधिकार का मूल उद्देश्य आस्रव क्या है? ये समझाना नहीं; अपितु ज्ञानी को आस्रव नहीं होता — ये समझाना है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन से ज्ञानी को आस्रव नहीं होता? क्योंकि ज्ञानी तो सिद्ध भगवान भी हैं।

अरे भाई! सिद्ध भगवान के आस्रव नहीं होता — यह समझाने के लिए क्या आचार्यश्री को पूरा अधिकार लिखने की जरूरत थी? एक गाथा से भी काम चल जाता, सिद्धों के आस्रव नहीं है — यह तो पूरी दुनिया जानती है। अरहंत और मुनिराज सम्यग्दृष्टि हैं — यह बात सबके समझ में आती है। अतः उनके आस्रव नहीं होता है। ये कथन भी सबको सहज समझ में आता है।

आस्रवाधिकार का मूल उद्देश्य तो अविरत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के आस्रव नहीं होता है — यह समझाना है। जैसाकि पूर्व प्रकरण में

कहा था कि —

जो जगमें क्विरें मतिमंद, स्वच्छन्द सदा वरते बुध तैसों।
चंचल चित्त असंजत वैन, शरीर सनेह यथावत जैसों।।
भोग संजोग परिग्रह संग्रह, मोह विलास करै जहं ऐसो।
पूछत सिष्य आचारजसौं यह सम्यकवंत निरास्रव कैसो।।6।।

97

इस छन्द से स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की वाणी असंयमित है एवं चित्त चंचल है, शरीर से स्नेह भी पहले जैसा ही है। अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भरत चक्रवर्ती जैसे भी हो सकते हैं।

भरत चक्रवर्ती, जो पूरी तरह से अलंकारों से मण्डित हैं, जब सामायिक के लिए खड़े होते थे तो पाँचों अंगुलियों की अंगूठियाँ जमीन पर गिर जाती थी। सभी की दृष्टि अंगूठियों के गिरने पर जाती है; लेकिन मुझे यह विचार आता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि को इतने रत्नजडित अंगूठियों की आवश्यकता ही क्या थी? यह चतुर्थ गुणस्थान में अधिकतम कितना परिग्रह एवं संयोग हो सकता है — इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

यहाँ इतने परिग्रह एवं संयोग होने के पश्चात् भी ऐसे जीव को आस्रव नहीं होता, बंध नहीं होता है — यह अज्ञानी जगत को समझाना बहुत कठिन है। सिद्धों को बंध नहीं होता है, आस्रव नहीं होता है — यह समझाना कठिन नहीं है; यह तो सभी की समझ में है।

शास्त्रा में तो यहाँ तक भी आता है कि चक्रवर्ती के पटरानी से उसके कोई संतान नहीं होती है। यदि पटरानी मासिकधर्म से होती और उसके संतान होती तो चक्रवर्ती के भोग में अंतराय होता, विध्न होता है। चक्रवर्ती के इतना पुण्य का उदय है कि उसके भोगों में कभी अंतराय नहीं आता है, गजब की बात तो यह है कि ऐसी अवस्था में भी उसके आस्रव और बंध नहीं होता।

मोह माने चारित्रा मोहनीय का विलास, जहाँ ऐसा दिखाई देता

है। दर्शनमोह की तो यहाँ बात ही नहीं चल रही है — 'पूछत शिष्य अचारज सौं, सम्यक्वन्त निरास्रव कैसी ।'

इसका उत्तर इसप्रकार है —

'पूरव अवस्था जे करम बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं।
केई सुभ साता केई असुभ असाता रूप
दोहूं सौं न राग न विरोध समचेत है।।
यथा जोग क्रिया करै फल की न इच्छा धरै,
जीवन मुकति कौ बिरद गहि लेत है।
यातै ग्यानवन्त कौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धता सौं न्यारे भए सुद्धता समेत हैं।।'

पूर्व अवस्था में जो कर्म बांधे थे, वह अब उदय में आकर नाना रस देते हैं। यह जो सब संयोग दिखाई दे रहे हैं, वे सब उन कर्मों के ही फल हैं। संयोग जोड़ने से कभी जुड़ते नहीं हैं।

साता और असाता की स्थितियों में चक्रवर्ती को न किसी में राग है न किसी से विरोध है; उसके लिए तो दोनों समान हैं। दोनों में एकसा समताभाव है। जैसी भूमिका के अनुसार क्रिया होती है, वैसी क्रिया करता है; लेकिन उसमें कोई आकांक्षा नहीं है, श्रद्धा संबंधी इच्छा नहीं है। इसलिए उन्हें आस्रव नहीं होता है — ऐसा कहा जाता है।

ज्ञानीजीव को आस्रव नहीं है — ऐसा इसलिए कहा जाता है; क्योंकि उन्होंने शुद्धता को सम्हाला है। उनमें अशुद्धता है; लेकिन मैं इससे भिन्न हूँ — ऐसा उनकी दृष्टि में है। इसलिए भोगों के संयोग में रहते हुए भी ज्ञानियों के आस्रव और बंध नहीं होता है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मिथ्यात्व के कारण जो बंध होता है, वह तो निरंतर ही होता रहता है; यह उपयोग के प्रयोगानुसार बंध की बात है, वह मुख्यरूप से चारित्रमोहजन्य राग-द्वेष से संदर्भ में ही जाननी चाहिए। ●

तेरहवाँ प्रवचन

98

समयसार परमागम का संवर अधिकार भेदविज्ञान के अभिनंदन का अधिकार है। भेदविज्ञान की चर्चा तो समयसार के जीवाजीवा-धिकार से ही प्रारम्भ हो गई थी; वैसे तो संपूर्ण समयसार ही भेदविज्ञान के लिए समर्पित शास्त्रा है।

जीवाजीवाधिकार में 29 प्रकार के भावों से आत्मा को भिन्न बताया है। इस संवर अधिकार में उन 29 प्रकार के भावों को द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म — इसप्रकार तीन भागों में विभाजित किया है।

द्रव्यकर्म में ज्ञानावरणादि आठ कर्म, भावकर्म में मोह-राग-द्वेष के परिणाम एवं नोकर्म में शरीर, स्त्री-पुत्रा, मकान-जायजाद, ग्राम, नगर, देश आदि सम्मिलित होते हैं। इन तीनप्रकार के कर्मों से आत्मा को भिन्न जानना ही भेदविज्ञान है।

जीवाजीवाधिकार में उक्त 29 प्रकार के भावों या फिर इन तीन प्रकार के कर्मों में एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि का निषेध करके भेदविज्ञान कराया गया है।

कर्त्ताकर्माधिकार में इन तीनप्रकार के कर्मों से कर्त्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि का निषेध करके भेदविज्ञान कराया गया है।

पुण्यपापाधिकार में परस्पर अभिन्न ऐसे कर्मजाति के पुण्य-पाप भावों से आत्मा को भिन्न बताकर उनसे भेदविज्ञान कराया गया है।

आस्रवाधिकार में पुण्य-पाप भाव आस्रव हैं और आत्मा इन आस्रवभावों से भिन्न है, इसप्रकार आस्रवों से आत्मा का भेदविज्ञान कराया गया है।

इसप्रकार समयसार के ये चारों अधिकार एकप्रकार से भेदविज्ञान के लिए ही समर्पित हैं।

भेदविज्ञान से सम्पन्न ज्ञानी धर्मात्मा भोगों के मध्य रहते हुए भी कर्मों से नहीं बंधता है — आस्रवाधिकार में ऐसा कहा गया है; लेकिन

आस्रवाधिकार का मूल प्रयोजन आस्रव भिन्न है और आत्मा भिन्न है — यह बताना ही है। इसका संकेत कर्त्ताकर्म अधिकार की आरम्भ की इस गाथा में दिया था —

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ॥69॥
(हरिगीत)

आत्मा अर आस्रवों में भेद जब जाने नहीं।
हैं अज्ञ तबतक जीव सब क्रोधादि में वर्तन करें ॥६९॥

जबतक यह जीव आत्मा और आस्रवों — इन दोनों के भेद और अन्तर को नहीं जानता है, तबतक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवर्तता है। इन भावों को करता हुआ ज्ञानावरणादिक कर्मों का संचय करता है और इसतरह वह बंधन में पड़ता है।

इसप्रकार यद्यपि आत्मा और आस्रवों की भिन्नता का कथन कर्त्ताकर्माधिकार में है; लेकिन इसका वास्तविक विश्लेषण आस्रवा-धिकार में है। इसतरह आचार्य निरंतर जीवाजीवाधिकार से लेकर आस्रवाधिकार तक द्रव्य-कर्म, भावकर्म एवं नोकर्मों से भेदविज्ञान कराते आ रहे हैं।

अब, इस संवर अधिकार में भी विशेषरूप से भेदविज्ञान की ही चर्चा है। यह भेदविज्ञान का प्रकरण अन्य अधिकारों में आगत भेदविज्ञान के प्रकरण से पृथक् है। अन्य अधिकारों में जहाँ मात्रा भेदविज्ञान की चर्चा निहित है; वहाँ इस अधिकार में भेदविज्ञान की चर्चा के साथ-साथ भेदविज्ञान की महिमा भी गायी गई है। इस अधिकार में भेदविज्ञान की महत्ता बतायी है।

इसीलिये तो मैं कहता हूँ कि यह भेदविज्ञान के अभिनन्दन का अधिकार है। इस अधिकार की आरंभिक गाथाओं की जो उत्थानिका आत्मख्याति टीका में दी गई है, उसमें भी कहा गया है कि —
तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनन्दति।

अब सबसे पहले सम्पूर्ण कर्मों का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है; उसका अभिनन्दन करते हैं।

आचार्य भेदविज्ञान का अभिनन्दन करते हुए अधिकार का आरम्भ इसप्रकार करते हैं —

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥181॥
अट्टवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥182॥
एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥183॥
(हरिगीत)

उपयोग में उपयोग है क्रोधादि में उपयोग ना।
बस क्रोध में है क्रोध पर उपयोग में है क्रोध ना ॥१८१॥
अष्टविध द्रव्यकर्म में नोकर्म में उपयोग ना।
इस ही तरह उपयोग में भी कर्म ना नोकर्म ना ॥१८२॥
विपरीतता से रहित इस विधि जीव को जब ज्ञान हो।
उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी ना करे तब आत्मा ॥१८३॥

उपयोग में उपयोग है अर्थात् भगवान आत्मा (उपयोग) ज्ञान-दर्शन में (उपयोग) है, क्रोधादिक में नहीं है। क्रोध, क्रोध में है, ज्ञान-दर्शन में नहीं। आठ प्रकार के कर्मों में भगवान आत्मा नहीं है और भगवान आत्मा में आठ प्रकार के कर्म नहीं है।

इसप्रकार आचार्य ने क्रोध कहकर भावकर्म से एवं आठ कर्म कहकर द्रव्यकर्म से इस आत्मा को पृथक् बताया। नोकर्म अर्थात् स्त्री, पुत्रा, शरीर इत्यादि में उपयोग नहीं है और उपयोग स्वरूप भगवान आत्मा में नोकर्म अर्थात् शरीर, स्त्री-पुत्रादि-नगर-देश-ग्राम आदि नहीं हैं। — ऐसा कथन करके नोकर्म से भी आत्मा को पृथक् बताया।

इसप्रकार 29 प्रकार के बोलों को आचार्य ने इन तीन भागों में समाविष्ट किया है एवं उनसे उपयोग को भिन्न बताया है।

निष्कर्ष में 183 वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि जब जीव को इसप्रकार का अविपरीत ज्ञान होता है। तब यह उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता।

द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्म में आत्मा नहीं है। आत्मा, आत्मा में है — इसप्रकार जानना ही अविपरीत ज्ञान है और इनमें आत्मा है — ऐसा मानना विपरीत ज्ञान है। जब इस जीव को अविपरीतज्ञान होता है तब यह शुद्धोपयोग का, निर्मलभावों का ही कर्ता होता है, ज्ञानभावों का ही कर्ता होता है, अज्ञानभावों का कर्ता नहीं होता है।

यद्यपि इसके जीवन में रागादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म एवं शरीरादि नोकर्म होते हैं; लेकिन यह विपरीत ज्ञान रहित जीव इन्हें अपना नहीं मानता है और इनका कर्ता नहीं बनता, वह स्वयं को निर्मल परिणमन का ही कर्ता मानता है — यही आशय है। 'शुद्धो-पयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं करता' — इस कथन का।

यह शुद्धोपयोग 24 घंटे अर्थात् प्रतिक्षण हो — ऐसा नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि आत्मानुभूतिपूर्वक जो मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी का अभाव हुआ है; वह निरन्तर कायम है, तज्जन्यशुद्धि भी निरन्तर कायम है।

ज्ञानी आत्मा उक्त शुद्धि का कर्ता तो अपने को मानता है; किन्तु उसीसमय विद्यमान शेष कषायों जन्य अशुद्धिरूप भावकर्म, द्रव्यकर्म एवं शरीरादि नोकर्म का कर्ता-भोक्ता स्वयं को नहीं मानता, उनमें एकत्व-ममत्व भी नहीं करता।

यद्यपि दृष्टि के विषय में वह निर्मल पर्याय भी शामिल नहीं होती; तथापि ज्ञानी उस परिणमन में स्वयं का एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वीकार करता है।

ज्ञानी के विकल्प के काल में शुद्धोपयोग नहीं है; परन्तु शुद्ध-परिणति विद्यमान है। परिणति भी पर्याय का नाम है। शुद्धता पर्याय में विद्यमान है। इस पर्यायरूपी कार्य का कर्ता कौन ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं — यः परिणमति सः कर्ता।

अर्थात् जो उस पर्यायरूप परिणमित हुआ है, वही उस पर्याय का कर्ता है। आत्मा उस शुद्धपरिणतिरूप परिणमित हुआ है; अतः आत्मा ही उस परिणति का कर्ता है।

100

यद्यपि ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक पढ़ना-पढ़ाना, दण्ड देना, क्रोधित होना; इत्यादि सांसारिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। इस अवस्था में यदि इसे पूछें कि — 'तुमने क्या किया ?' इसपर ज्ञानी यही उत्तर देता है कि — 'मैंने कुछ नहीं किया, मैं शुद्धभाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता हूँ। मैंने उसे मात्रा देखा-जाना है।'

इसका आशय यह है कि ज्ञानी की कर्तृत्वबुद्धि सहजभाव से देखने-जाननेरूप परिणमन में है। सहज ज्ञाता-द्रष्टारूप जो ज्ञान हुआ, ज्ञानी उनका कर्ता है; जो जाननेरूप क्रिया हुई; ज्ञानी उसका कर्ता है।

संवर अर्थात् कर्म के बंधन का रुक जाना; संवर अर्थात् आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न न होना, जिनसे कर्मों का आस्रव होता है अर्थात् मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी आदि का न होना ही संवर है।

कर्म के संवर करने के उपाय के रूप में इस अधिकार में एक सूत्रा दिया है, जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है —

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेष्यं लहदि जीवो।

जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवेष्यं लहदि ॥186 ॥

(हरिगीत)

जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो।

जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो ॥१८६॥

जो जीव अपने आत्मा को शुद्ध जानता है, वह जीव शुद्धता को प्राप्त होता है एवं जो जीव स्वयं को अशुद्ध जानता है, वह अशुद्धता को प्राप्त करता है।

यदि हमें अपनी आत्मा की शुद्धता को प्राप्त करना है तो उसे शुद्ध जानना होगा। जब हम आत्मा को शुद्ध जानेंगे, तभी शुद्धता

प्राप्त होगी। यदि हमें अशुद्धता प्राप्त करनी है तो आत्मा को अशुद्ध जानना होगा; तब ही अशुद्धता प्राप्त होगी।

इस गाथा का अर्थ करने में कई विद्वान भ्रमित हो जाते हैं। वे कहते हैं कि आचार्यों ने कहा है कि हम अपने आत्मा को शुद्ध मानें। वास्तव में तो आत्मा शुद्ध नहीं है, अशुद्ध ही है; लेकिन आत्मा को शुद्ध मानने से आत्मा शुद्ध हो जाएगा; इसलिए आचार्यदेव आत्मा को शुद्ध मानने का आग्रह कर रहे हैं।

इससे यह अर्थ प्रतिभासित होता है कि आत्मा अशुद्ध है और हमें उसे शुद्ध मानना है। इसका आशय तो यह हुआ कि आत्मा शुद्ध है — यह बात असत्य है और इस असत्य कथन के आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है। इसमें यह स्वीकार है कि हम अशुद्ध हैं और अशुद्ध को अशुद्ध मानने से हमारी अशुद्धता प्रगट हुई; यह कथन सत्य है। इसप्रकार हमें सत्य कथन के आश्रय से अशुद्धता और असत्य कथन के आश्रय से शुद्धता प्रगट होना मानना होगा।

द्रव्यदृष्टि से यह शुद्ध है एवं पर्यायदृष्टि से यह अशुद्ध है — यह जैनदर्शन का अनेकांत है। द्रव्यदृष्टि अर्थात् पर्यायों को गौण करके अकेले आत्मा के द्रव्यस्वभाव की तरफ से देखें तो आत्मा शुद्ध दृष्टिगोचर होता है; जबकि पर्यायदृष्टि में द्रव्य की शुद्धता को गौण करके पर्यायों की तरफ देखें तो पर्यायों में जो अशुद्धि है, वही दिखाई देती है। इसप्रकार द्रव्य में शुद्धि है; अतः आत्मा शुद्ध है एवं पर्याय में अशुद्धि है; अतः आत्मा अशुद्ध है — इसप्रकार दोनों ही कथन उचित हैं।

इसपर वे विद्वान कहते हैं कि जो अपने को शुद्ध मानता है, शुद्ध ध्याता है; इससे यह अर्थ प्रतिभासित होता है कि पर्याय में अशुद्धता है; अतः कथंचित् शुद्ध है। इसप्रकार 'मैं शुद्धाशुद्ध हूँ' ऐसा मानने से धर्म होना चाहिए। जबकि यह सत्य नहीं है।

'मैं शुद्ध हूँ' — ऐसा स्वीकार कराके आचार्य, पर्याय में जो अशुद्धि

है, जिसमें यह जीव अपनापन करता है, उसे तोड़ना चाहते हैं तथा द्रव्य में जो शुद्धि है, उससे इस जीव का अपनापन जोड़ना चाहते हैं।

इसप्रकार आचार्य पर्याय का निषेध नहीं कर रहे हैं; अपितु पर्यायों में जो अशुद्धि है, उसमें इस जीव का जो अपनापन है, उसका निषेध कर रहे हैं। इस जीव की भूल के कारण ही पर्यायों में अशुद्धि है।

ज्ञानी जीव भूल को स्वीकार करता है; लेकिन 'मैं भूल हूँ' — ऐसा स्वीकार नहीं करता। यदि मैं भूलस्वरूप हो गया तब तो भूल इस जीव का स्वभाव हो जायेगी; वस्तुस्वरूप हो जायेगी।

ज्ञानी यह स्वीकार करता है कि भूल में मेरा अपनापन नहीं है। यह जो शुद्धस्वभाव है, वही मैं हूँ। ज्ञानी इसी का ध्यान करता है; तब स्वयमेव ही पर्याय की भूल निकल जाती है एवं जो दूसरी नूतन पर्याय उत्पन्न होती है, वह शुद्ध माननेरूप शुद्धपर्याय ही उत्पन्न होती है।

इसप्रकार इस आत्मा में माननेरूप श्रद्धागुण में शुद्धता, जाननेरूप ज्ञानगुण में शुद्धता, ध्यान अर्थात् चारित्रागुण की शुद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। यह तभी संभव है कि जब यह आत्मा 'मैं शुद्ध हूँ' — ऐसा स्वीकार करे। इस गाथा का हिन्दी पद्यानुवाद इस अर्थ को और अधिक सरलता से स्पष्ट करता है —

(हरिगीत)

जो जानता मैं शुद्ध हूँ, वह शुद्धता का प्राप्त हो।

जो जानता अविशुद्ध वह, अविशुद्धता को प्राप्त हो।।186।।

इसमें जो 'मैं शुद्ध हूँ' — ऐसा मानता है, वह शुद्धता को प्राप्त होता है तथा जो स्वयं को अशुद्ध मानता है, वह अशुद्धता को प्राप्त होता है — यह नियम है।

समयसार में इस नियम के समर्थन में एक और तर्क प्रस्तुत किया गया है; वह यह है कि 'मैं शुद्ध हूँ' यह जो ज्ञान हुआ है, यदि यह धारावाही हो जाए; अर्थात् उस ज्ञान में निरन्तरता रहे, तो वह ध्यान हो जाता है। इसे स्पष्ट करनेवाला कलश इसप्रकार है —

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।

तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा;
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥127॥

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धारा प्रवाह से।
कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धात्म को ॥
और निरंतर उसमें ही थिर होता जावे।

पर परिणति को त्याग निरंतर शुद्ध हो जावे ॥127॥

इस शुद्धात्मा को किसी भी प्रकार से धारावाही ज्ञान से प्राप्त करें; एक प्रकार से इसी का नाम ध्यान है। ध्यान तो चारित्रागुण की निर्मल पर्याय का नाम है; जब धारावाहीरूप से होनेवाले ज्ञान के कारण राग के अभावरूप/कषाय के अभावरूप जो निर्मल परिणति उत्पन्न होती है, वही चारित्रागुण की निर्मल पर्याय कहलाती है। वीतरागतारूप शुद्धि को छोड़कर जो मात्रा ज्ञान की निरन्तरता है, वही धारावाही ज्ञान है।

'मैं शुद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ' ये ज्ञान जब धारावाही बना रहे; तब इस जीव की अशुद्ध पर्याय का व्यय हो जाता है और इसके पश्चात् जो पर्याय उत्पन्न होती है; वह 'मैं ज्ञान हूँ, मैं शुद्ध हूँ' — इसप्रकार शुद्धतारूप ही उत्पन्न होती है।

'मैं शुद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ' — इसप्रकार के विकल्पों में धारावाही ज्ञान नहीं होता, धारावाहीपना वाणी और विकल्प में कायम नहीं रह सकता है। 'मैं शुद्ध हूँ' इस ज्ञान का धारावाहीपना ज्ञान में है, वाणी और विकल्प में नहीं।

ज्ञान धारावाहीपने से आत्मा की शुद्धता को ही जानता रहे; यही शुद्धनय का उदय है। शुद्धनय का उदय अर्थात् मुख्यता

शुद्धनय की रहे एवं अन्य नयों की गौणता रहे; इसे धारावाही-बोध कहते हैं — तात्पर्य यह है कि त्रिकालीध्रुव आत्मा ज्ञानी का ज्ञेय बना रहे। ऐसा धारावाहीबोध यदि यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल तक बना रहे तो केवलज्ञान हो जाता है। इसप्रकार धारावाहीपने का एक अर्थ तो यह है।

धारावाहीपने का एक दूसरा भी अर्थ होता है। वह यह है कि ज्ञान में एक बार यह दृढ़ निर्णय हो गया है कि 'मैं शुद्ध हूँ।' इसके पश्चात् यदि यह जीव सांसारिक प्रवृत्तियों में भी संलग्न रहें; तब भी वह यही जानता है कि जो कुछ हो रहा है, वह है जरूर; लेकिन वह मैं नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध हूँ; यह निर्णय इस जीव के लब्धिज्ञान में, धारणाज्ञान में सुरक्षित है। जो अंतर में धारावाहीरूप से ज्ञान की धारा है, उसे ही लब्धिज्ञान कहा जाता है।

इस ज्ञानधारा को पण्डित बनारसीदासजी पुण्य-पाप एकत्व द्वार में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

जौलों अष्ट कर्म कौ विनास नांही सरवथा,
तौलों अंतरातमा में धारा दोइ बरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहूँ की प्रकृति न्यारी-न्यारी न्यारी धरनी ॥
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोख की करनहार,
दोख की हरनहार भौ-समुद्र-तरनी ॥14॥

अंतरात्मा में ज्ञानधारा एवं शुभाशुभकर्मधारा दोनों निरंतर एकसाथ बहती रहती है। शुभाशुभकर्मधारा शुद्धोपयोग के काल में भी बहती है। जब शुभाशुभकर्मधारा बहती है, तब भी ज्ञानधारा टूटती नहीं है; वह लब्धि-ज्ञान में रहती है। यही धारावाही ज्ञान है। इस धारावाही ज्ञान में वह तेजी नहीं होती है, जैसी तेजी धारावाहीबोध अर्थात् शुद्धोपयोग में

होती है। शुद्धोपयोगरूप धारावाहीबोध की अंतर्मुहूर्त तक की निरंतरता से केवलज्ञान होता है।

प्रस्तुत धारावाही ज्ञान उक्त धारावाहीबोध जैसा नहीं है; लेकिन इस धारावाहीज्ञान से कुछ कार्य नहीं होता है — ऐसा भी नहीं है। इस धारा के बहाव के कारण ही 43 प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। वह 43 प्रकृतियाँ उदय में आकर खिरती रहती हैं। इसप्रकार आत्मा उतनी मात्रा में निर्बंध होता है, उतनी अशुद्धि की हानि होती है एवं उतनी शुद्धि की वृद्धि होती है; इसी का नाम निर्जरा है — ऐसे ही शनैः शनैः मोक्ष हो जाता है।

इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं। लोक में भी ऐसा पाया जाता है कि जो पुरुष है, वह निरंतर 'मैं स्त्री हूँ' — ऐसा ही चिंतन करता रहे तो वह अर्द्धस्त्री तो हो ही जाता है। डॉक्टर तो यहाँ तक कहते हैं कि ऐसे पुरुष के हारमोनो में परिवर्तन होने लगता है एवं वह धीरे-धीरे स्त्री जैसा हो जाता है।

सबके शरीर में स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं। स्त्रियों में पुरुषों के एवं पुरुषों में स्त्रियों के सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं। मात्रा अंतर यह है कि पुरुषों में पुरुषत्व अधिक है एवं स्त्रीत्व कम; जबकि स्त्रियों में स्त्रीत्व अधिक है एवं पुरुषत्व कम। पुरुषों में जो पुरुषत्व अधिक होता है, उससे उन तत्त्वों को ही उत्तेजना मिलती रहती है; इसलिए वे ही तत्त्व पनपते एवं वृद्धि को प्राप्त होते हैं; अतः उनमें 'मैं स्त्री हूँ' — ऐसी मान्यता नहीं पायी जाती है। इसकारण उस पुरुष के स्त्री तत्त्व सुप्त रहते हैं, वह पुरुषत्व के ही वातावरण में अधिक रहता है, जिससे उस पुरुष में 'मैं स्त्री हूँ' — ऐसी मान्यता नहीं पायी जाती।

अब वह पुरुष यदि स्त्रियों जैसे वस्त्रा धारण करने लगे, स्त्रियों जैसी केश-सज्जा करे, स्त्रियों जैसा ही चिन्तन करने लगे; तब शनैः शनैः उन स्त्री परिणामों को शक्ति मिलती है, स्त्री हारमोनो को शक्ति मिलती है; तब वे स्त्रीतत्त्व तेजी से काम करने लगते हैं, और पुरुष के

पुरुषतत्त्व सुप्त हो जाते हैं, तब उस पुरुष को 'मैं स्त्री हूँ' — ऐसा अनुभव होने लगता है। वह डॉक्टरों से शिकायत करता है तो डॉक्टर उसका ऑपरेशन करके लिंग परिवर्तन कर देते हैं; इसप्रकार लोक में भी यह अनुभव से सिद्ध हो रहा है।

जैसा हम सोचते हैं, वैसे ही हम हो जाते हैं; — यही सूत्रा समयसार के इस कलश में बताया है। इसे अधिक सरलता से समझने के लिए समयसार कलश का यह पद्यानुवाद उपयुक्त है —

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धाराप्रवाह से,
कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धात्म को।
और निरंतर उसमें ही थिर होता जावे,

पर परिणति को त्याग निरंतर शुद्ध हो जावे।।127।।

आत्मा में निरंतर भेदविज्ञान की धारा बहनी चाहिए। यह धारा प्रथमतः 'मैं भिन्न हूँ, देह भिन्न है' — इसप्रकार भाषा में बहेगी; तदुपरांत यह धारा विकल्पों में बहेगी; जब इस धारा में निरंतरता बनी रहेगी; तब यह ज्ञान में बहेगी, उपयोग में, परिणति में — इसप्रकार यह भेद-ज्ञान की धारा अविरल बहनी चाहिए; यही शुद्ध होने की विधि है।

पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है कि भेदज्ञान की भावना अविरल भानी चाहिए; क्योंकि भेदज्ञान की भावना भाने को तबतक भला माना गया है जबतक कि मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती है।

बनारसीदासजी का इस आशय का छन्द निम्नानुसार है —

(दोहा)

भेदग्यान तबलौं भलौं, जबलौं मुक्ति न होइ।

परमज्योति परगट जहाँ, तहाँ न विकल्प कोई।।

भेदज्ञान तबतक भला है, जबतक कि मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती। मुक्ति अर्थात् मिथ्यात्व से मुक्ति, असंयम से मुक्ति, अज्ञान से मुक्ति, देह से मुक्ति। जबतक दृष्टिमुक्ति, प्रमादमुक्ति, मोहमुक्ति, देहमुक्ति

न हो; आशय यह है कि जबतक आत्मा पूर्णरूप से आत्मा में लीन न हो, तबतक भेदज्ञान की अविरलधारा बहती रहनी चाहिए।

इसी को इस संस्कृत कलश में दृढ़ कराया है —

(मालिनी)

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥128॥

जो भेदज्ञान की शक्ति से अपनी महिमा में लीन रहते हैं; उन्हें नियम से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होती है; इसप्रकार आचार्य पूर्ण विश्वास दे रहे हैं कि इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है।

इसका पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(रोला)

भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमारत को,
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके,
अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जावे॥

यदि शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो गई तो सम्पूर्ण कर्म स्वयमेव भाग जायेंगे; क्योंकि इनमें एकत्वबुद्धि के कारण ही ये कर्म बंधते हैं। जब कर्म बंध का मूल कारण एकत्वबुद्धि ही नहीं रही तो सारे कर्म स्वयमेव विनाश को प्राप्त होंगे। अतः हे भव्य जीवो —

(रोला)

आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से,
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता।
इसीलिए तो सच्चे दिल से निजप्रति करना,
अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की॥129॥

जबतक इस जीव का ज्ञान सम्पूर्ण जगत से हटकर ज्ञान (आत्मा) में स्थिर न हो जावे, तबतक इस जीव को सच्चे मन से बिना विराम के

भेदज्ञान की अविरल भावना भानी चाहिए; क्योंकि आजतक जितने भी जीव सिद्ध दशा को प्राप्त हुए हैं; वे सब भेदविज्ञान के बल से ही सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं एवं आजतक जितने भी जीव संसार सागर में भटक रहे हैं; वे सब भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही भटक रहे हैं। इसे स्पष्ट करनेवाला प्रसिद्ध कलश इसप्रकार है —

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धाः ये किल केचन॥131॥

इस का पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(रोला)

अब तक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे,
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की।
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में,
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं॥

भेदविज्ञान की महिमा इससे अधिक और क्या बताई जा सकती है कि आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही गये हैं और जो जीव कर्मों से बंधे हैं, संसार में अनादि से अनंत दुःख उठा रहे हैं; वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही उठा रहे हैं।

अतः एकमात्रा भेदविज्ञान ही करने योग्य कार्य है, कर्तव्य है; यही कारण है आचार्यदेव समयसार के प्रथम अधिकार से यहाँ तक भेद-विज्ञान को ही नचाते आ रहे हैं। आचार्यदेव ने पूर्व में प्रतिज्ञा की थी कि — 'मैं तुम्हें एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को समझाऊँगा।' विभक्त भगवान आत्मा की भावना ही भेदविज्ञान की भावना है।

विभक्त आत्मा अर्थात् 'मैं पर से भिन्न हूँ' — इसे गम्भीरता से समझना अत्यंत आवश्यक है। 'मैं पर से भिन्न हूँ' — इसे समझने में रंचमात्रा भी भूल हुई तो हमारा प्रयोजन सधनेवाला नहीं है। राग की एक कणिका को भी यदि इस जीव ने निजरूप माना, तो भी इस जीव को मुक्ति नहीं होगी।

इसे गुरुदेव की भाषा में इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि जिस भाव से तीर्थकर नामकर्म प्रकृति का बंध हो, वह भाव मैं हूँ, मेरा है, मैं उसका कर्ता-भोक्ता हूँ, वह धर्म है, सुख है — ऐसी उस भाव में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वबुद्धि आ जाए तो हमारा प्रयोजन कदापि सधने वाला नहीं है।

पर मैं एकत्वबुद्धिरूप परिणाम जहाँ भी है, विनाश का कारण है, संसार का कारण है। चाहे एकत्वबुद्धि स्त्री-पुत्रादि में हो, चाहे राग में हो; दोनों ही आत्मा के लिए घातक हैं।

जैनदर्शन में वस्तुस्वरूप के संबन्धित भूल में क्षमा करने की व्यवस्था नहीं है। भगवान भी किसी को क्षमा नहीं कर सकते हैं। कोई कहे कि हम तो नासमझ हैं, हमें माफ कीजिए। वस्तुस्वभाव में यह नहीं चलता; क्योंकि अग्नि पर हाथ रखे तो क्या अग्नि इसकी नासमझी का ध्यान रखते हुए इसको माफ कर देगी ? — ऐसे ही जैनदर्शन में किसी को माफ करने की कोई व्यवस्था नहीं है।

सर्वप्रथम पर कौन है और मैं कौन हूँ ? इसका सत्य निर्णय करना अत्यंत आवश्यक है। यह निर्णय करने का जो प्रयास है, अध्ययन, मनन, चिंतन, पठन-पाठन है; वही भेदविज्ञान है। जब यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि यह मैं हूँ एवं यह पर हैं और इस जीव के उपयोग का विषय निरंतर आत्मा यह ही बनता रहे; जिससे यह दृढ़ निश्चय पुराना न पड़ जाए, तबतक 'यह मैं हूँ' और 'ये पर हैं' — इसप्रकार की भेदविज्ञान की भावना भाते रहना चाहिए।

इस अर्थ का पोषक कलशकाव्य इसप्रकार है —

(मालिनी)

अवतरित न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा,
दनवमपरभाव त्याग दृष्टान्त दृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता,
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ।।29।।

हिन्दी पद्यानुवाद से इस कलश का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है —

(हरिगीत)

105

परभाव के परित्याग की दृष्टि पुरानी न पड़े,
अर जबतलक हे आत्मन् वृत्ति न हो अतिबलवती।
व्यतिरिक्त जो परभाव से वह आत्मा अतिशीघ्र ही
अनुभूति में उतरा अरे चैतन्यमय वह स्वयं ही।।29।।
आचार्य कहते हैं कि पर से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है, रागादि मेरे
कुछ नहीं, धर्मादि मेरे कुछ नहीं, क्रोधादि मेरे कुछ नहीं; मैं एक ज्ञायक
भाव हूँ — इसप्रकार भेदविज्ञान की भावना अब बहुत बलवती हो गई
है; अतः मध्य में ही मत रुक जाना, नहीं तो यह भावना फीकी पड़
जाएगी।

इस भावना का जो परिपाक हुआ है, वह पुराना न पड़े अर्थात् यह
निरंतर बना रहे। यदि यह भावना निरंतर नहीं बनी रहेगी तो इस
भावना के कारण जो पंचेन्द्रियों के विषय मंद हो गए थे; वे फिर तेजी
से इस भावना के अभाव में जागृत हो जायेंगे।

जबतक ये विषय-कषाय दबे पड़े हैं, तबतक आत्मानुभव कर
लेना चाहिए; तभी इस जीव का प्रयोजन सधेगा, अन्यथा एकबार
अवसर चूक जाने पर पुनः अवसर प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

हम इसे निम्न उदाहरण से सरलता से समझ सकते हैं — यदि
किसी कार्य की उपयोगिता बताई जाती है, अनिवार्यता बताई जाती
है, देश की आवश्यकता है, धर्म की रक्षा का प्रश्न है — ऐसी घोषणायें
की जाती हैं तो भावना के वेग में बहकर माँ-बहिनें अपने गहने तक देने
के लिए तैयार हो जाती हैं। कोई अपना मकान लिखवा देता है तो
कोई अपनी सारी सम्पत्ति दान कर देता है।

इसप्रकार लोग जब भावना के वेग में बहते हैं; तब वह कार्य तुरन्त
सध जाता है। यदि उस वक्त आर्थिक सहयोग स्वीकार न करके छ:

घंटे बाद मांगते हैं तो उस भावना के बहाव के टूटने के कारण आधे व्यक्ति आर्थिक सहयोग नहीं देते हैं।

दृष्टि पुरानी पड़े अर्थात् जबतक लोभ दृष्टि बलवती न हो, भावना का निरंतर बहाव हो; तबतक उस कार्य को सम्पन्न कर लेना चाहिए। यदि यह बात बहुत पुरानी पड़ गई तो वह कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है। ऐसा ही इस जीव के परिणामों के संदर्भ में भी है।

प्रतिदिन इस जीव को भेदविज्ञान की भावना को इतना प्रबल करना होगा कि जब वह परिपाक पर पहुँचे; तब उसका लाभ उठाकर भगवान आत्मा में गोता लगाना होगा; तभी वह अनुभूति का एक क्षण दुर्लभता से आएगा। 15 दिन में यदि एक बार अनुभूति होने लगे तो समझ लेना कि यह अणुव्रती हो जाएगा, अन्तर्मुहूर्त में एक बार अनुभूति हो तो यह महाव्रती हो जाएगा; एक बार अनुभूति हो जाय और आत्मानुभव से लौटकर बाहर नहीं आए तो केवलज्ञानी हो जाएगा।

मार्ग एक ही है, प्रक्रिया एक ही है। लौकिक अध्ययन में जिसप्रकार चौथी का पाठ्यक्रम पृथक्, पाँचवीं का पाठ्यक्रम पृथक् होता है; इसप्रकार की स्थिति मुक्ति के मार्ग में नहीं है। अंतर में निरंतर धाराप्रवाहरूप से भेदविज्ञान की भावना को भाना है, इसी का नाम धर्म है।

संवराधिकार अर्थात् धर्म का आरम्भ। धर्म का आरम्भ भेदविज्ञान की प्रबल भावना से ही होता है। भेदविज्ञान की प्रबल भावना से धर्म का आरम्भ किसप्रकार होता है ? इसी का विवरण संवरा-धिकार में आद्योपांत है।

संवराधिकार में अबतक भेदविज्ञान को प्रबल करनेवाली भावना की चर्चा की। अब आचार्य तर्क और युक्ति से भेदविज्ञान की उपयोगिता सिद्ध करेंगे। इस प्रकरण में आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् ! पर अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म अर्थात् 29 प्रकार के भावों से, स्वयं

को भिन्न जान। तर्क और युक्तियों से परद्रव्यों से आत्मा भिन्न है — ऐसा जानना ही इस भेदविज्ञान के अभिनंदन के अधिकार का उद्देश्य है।

मात्रा परद्रव्य मेरा नहीं है — ऐसा जानने से प्रयोजन की सिद्धि होनेवाली नहीं है। परद्रव्य मेरा क्यों नहीं है, वह मेरा कैसे नहीं है, परद्रव्य को मेरा मानने में क्या आपत्ति है ? इन मूलभूत प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होना अत्यंत आवश्यक है।

यदि इन प्रश्नों का उत्तर हमारे पास नहीं है तो अकेले 'परद्रव्य मेरा नहीं है' — ऐसा कहने से भेदविज्ञान की भावना प्रबल होनेवाली नहीं है।

इसके संदर्भ में मेरा एक संस्मरण है। एक महिला मेरे कार्यालय में आयी; उसे णमोकार मंत्रा का विधान कराना था। सभी पण्डितों ने उन्हें मना कर दिया था कि णमोकार मंत्रा का कोई विधान नहीं है; अतः आप यहाँ णमोकार मंत्रा का विधान नहीं कर सकती। जब मुझे यह पता चला, तब मैंने कहा कि कौन कहता है कि णमोकार मंत्रा का विधान नहीं है।

पंचपरमेष्ठी विधान किसका है ? णमोकार मंत्रा जब बोलते हैं तो पाँचों परमेष्ठियों का उल्लेख होता है और इस विधान में भी पाँचों परमेष्ठियों की पूजन होती है, अर्घ्य चढ़ते हैं। यदि कोई णमोकार मंत्रा विधान बनाएगा तो उसमें वह अरहंत, सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठी की ही पूजन करेगा एवं उनके गुणों को अर्घ्य चढ़ाएगा। अतः पंचपरमेष्ठी विधान और णमोकार मंत्रा विधान पृथक्-पृथक् नहीं हैं, एक ही हैं।

इसप्रकार जबतक पूर्वापर तर्क और युक्तियों के माध्यम से क्यों, कैसे, किसप्रकार ? — यह चिन्तन नहीं चलता है; तबतक हमारा वास्तविक प्रयोजन सधता नहीं है।

आज विधान करनेवाले, पूजन करनेवाले चिन्तन अर्थात् विचार तो करते ही नहीं हैं; वे कहते हैं कि विचार करने का कार्य आप जैसे विद्वानों का है, हमारा कार्य तो विधान कराने का है, गाने का है, बजाने का है, नृत्य करने का है।

सुस्वर नामकर्म वाले पण्डित विधानकर्त्ता बनते हैं तो वे पण्डित से पंडा बन जाते हैं, गवैया, नचैया बन जाते हैं। ये सुस्वर नामकर्म उन्हें गणधरदेव की गद्दी से उतारकर गवैया बनाता है। जो काम समवशरण में तीर्थकरदेव करते थे, गणधर करते थे; उससे निवृत्त होकर ये लोग गीत गाने लगते हैं।

एक भाई ने मुझसे कहा कि अभी आपको एक काम करना बाकी है ?

मैंने पूछा, कौनसा ?

तो वे कहते हैं कि आपने सब काम बहुत बढ़िया किये हैं; लेकिन अभी तक आपने अपना उत्तराधिकारी तैयार नहीं किया।

मैंने कहा — 'हम कर रहे हैं।'

उन्होंने पूछा — 'कितने हो गए।'

मैंने कहा कि 250 हो गए। जिस दिन से छात्रा हमारे महाविद्यालय में भर्ती होने के लिए आता है; उसी दिन से प्रवचन करने के लिए प्रवचन की गद्दी पर बैठता है। उसी गद्दी पर बैठकर प्रवचन करता है, जिसपर बैठकर हम करते हैं।

अरे भाई ! कौन किसकी गद्दी पर बैठता है, हर एक अपनी-अपनी गद्दी पर बैठता है। क्या अजितनाथ, आदिनाथ की गद्दी पर बैठे थे ? दूसरों की गद्दी पर बैठनेवाले गद्दी को बदनाम ही करते हैं; जिनमें क्षमता होती है, उन्हें दूसरे की गद्दी पर बैठने की उत्सुकता नहीं होती। वे अपनी गद्दी बनाने में समर्थ होते हैं। इसलिये हमारे बाद कौन ? यह प्रश्न ही निरर्थक है।

यह आत्मा पर से सर्वथा भिन्न है। पर से भिन्न स्वयं में समा जाओ — यही सबसे महान कार्य है। स्वयं से महान कोई नहीं; अतः पर की ओर मत देखो — यही धर्म है, धर्म का सार है, संवर है। ●

अहिंसा तो अमृत है; जो इस अमृत के प्याले को पियेगा, वह अमर होगा, सुखी होगा, शान्त होगा। — गागर में सागर, पृष्ठ-96

चौदहवाँ प्रवचन

107

संवराधिकार का प्रकरण चल रहा है। भेदविज्ञान का क्या महत्त्व है और भेदविज्ञान का मुक्तिमार्ग में क्या स्थान है ? — इस बात को पूर्व प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकरण का केन्द्रबिन्दु यह है कि आजतक जितने भी सिद्ध हुए हैं; वे सब इस भेदविज्ञान के बल से ही हुए हैं एवं जितने भी जीव चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटक रहे हैं; वे सब इस भेदविज्ञान के अभाव से ही भटक रहे हैं।

भेदविज्ञान की उपयोगिता ध्यान में आते ही यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि क्या भेदविज्ञान जैनदर्शन की ही विशेषता है; क्योंकि भगवान आत्मा का जैसा स्वरूप समयसार में बताया गया है; लगभग वैसा ही वेदान्त में भी बताया गया है।

गीता में कहा गया है —

नैवं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैवं दहति पावकः।

आत्मा शस्त्रों से छिदता नहीं, अग्नि से जलता नहीं और पानी से गलता नहीं। जिसप्रकार जैनदर्शन में आत्मा को देह से भिन्न कहा है उसीप्रकार वेदान्त शास्त्रों में भी आत्मा को देह से भिन्न स्वीकार किया गया है। जिसप्रकार हम नये वस्त्रा पहनते हैं और पुराने वस्त्रा छोड़ देते हैं; वैसे ही शरीर को भी आत्मा बदलता रहता है। वेदान्त और समयसार परमागम की विषयवस्तु लगभग एक-सी ही है, समान ही है — ऐसा भ्रम होता है।

यद्यपि ऊपरी तौर पर कुछ समानताएँ हैं; तथापि अंतर में बहुत बड़ा अंतर है। वह अंतर भेदविज्ञान का है।

वेदान्त में कहा गया है —

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।।

सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममय है, भिन्न-भिन्न कुछ भी नहीं है। इस जगत को जो भिन्न-भिन्न देखता है, वह अज्ञानी है। जो इस जगत को एक मानता है, वह ज्ञानी है। रामायण में कहा है —

‘सियाराममय सब जग जानौ।’

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सबको एक मानना, अभेद जानना ही ज्ञान है और सबको भिन्न-भिन्न मानना अज्ञान है। वेदान्त में ‘मैं और भगवान’ भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं — ऐसा मानना अज्ञान है एवं ‘मैं और भगवान’ एक ही हूँ — ऐसा मानना ज्ञान है।

जबकि जैनदर्शन यह कहता है कि दो द्रव्यों को एक मानना अज्ञान है। अरहंत और सिद्ध इस जीव से भिन्न तत्त्व हैं एवं उनके आश्रय से भी राग की ही उत्पत्ति होगी, पुण्य का बंध ही होगा। अतः अरहंत, सिद्ध का आश्रय भी धर्म नहीं है। अपना यह आत्मा और अरहंत-सिद्ध भगवान सर्वथा स्वतन्त्रा चैतन्यतत्त्व है।

इसप्रकार जगत को दो भागों में बाँटकर उसमें भेद की रेखा खींचना ही जैनदर्शन का भेदविज्ञान है। गीता, उपनिषद् अथवा वेदान्त कहता है कि दोनों में जो जैनदर्शन ने भेद की रेखा खींची है, वह अज्ञान है; उनको एक मानना ही सम्यग्ज्ञान है। इसप्रकार वेदान्त और समयसार परमागम की विषयवस्तु में महान अन्तर है और वह अन्तर भेदविज्ञान का ही है।

जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा को सबसे भिन्न एक स्वतंत्रा पदार्थ मानता है; उसका परद्रव्य के साथ कुछ भी संबंध नहीं है। इसप्रकार जानकर स्व-आत्मा में लीन होना ही अनन्त सुखी होने का उपाय है।

जबकि वेदान्त में यह कहा गया है कि भगवान और स्व-आत्मा को एक जानकर उसमें लीन होना ही सुखी होने का उपाय है। इसप्रकार वेदान्तशास्त्रों में अपनी सत्ता को भगवान में समाहित करने को ही सुखी होने का उपाय कहा है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिन अध्यात्म में और वेदान्त के

अध्यात्म में सबसे बड़ा अंतर भेदविज्ञान का ही है।

यह संवर अधिकार भेदविज्ञान के अभिनन्दन का अधिकार है, समयसार के मंदिर पर शिखर चढ़ाने का अधिकार है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह भेदविज्ञान करना किससे है ?

मूल बात तो यह है कि सभी परपदार्थों से हमें भेदविज्ञान करना है; किन्तु जो पर पदार्थ आज तक हमारे जानने में ही नहीं आये, जो पदार्थ हमसे इतने दूर हैं कि उनसे अपनत्व हो ही नहीं सकता; उनमें ‘यह मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ’ — इसप्रकार उन्हें छोड़ना — इसमें क्या दम है ? क्योंकि ये तो छोटे हुये ही हैं।

फिर भी आचार्यदेव ने सर्वप्रथम भेदविज्ञान का प्रकरण यहाँ से ही प्रारम्भ किया; उन्होंने कहा कि — ‘धर्मद्रव्य मैं नहीं हूँ।

धर्मादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।

इसपर शिष्य ने आचार्यश्री से यह प्रश्न किया कि जब धर्मद्रव्य को हमने अपना माना ही नहीं है तो इस उपदेश का क्या प्रयोजन है ?

तब आचार्य भी उत्तर देते हैं कि — ‘धर्मद्रव्य के संदर्भ में जो हमारा चिंतन चलता है, अर्थात् धर्मद्रव्य हमारे जानने में आता है; वह जो जाननेरूप चिंतन है, विकल्प है; उसे भी धर्मद्रव्य ही कहा जाता है।

जैसे जल नामक पदार्थ है, उसका प्रतिपादक जो जल नामक शब्द है, उसे भी जल ही कहते हैं। उसमें जिसप्रकार हमारा विकल्प होता है, एकत्व होता है; उसीप्रकार धर्मद्रव्य के सन्दर्भ में भी हमारा विकल्प होता, उस विकल्प में एकत्व होता है। धर्मद्रव्य के संदर्भ में हमारे मस्तिष्क में जो विकल्प उपस्थित हुए और उसमें जो एकत्व-बुद्धि हुई — यहाँ यही धर्मद्रव्य संबंधी एकत्वबुद्धि है’।

एक बात यह भी है कि हमारे पुण्य-पापकर्म के उदय के अनुसार जो भी बाह्यसंयोग हमें प्राप्त हुये हैं, हमारा भेदविज्ञान का चिंतन वहीं से प्रारम्भ होता है।

पड़ौसी का मकान मेरा मकान नहीं है — यह तो सारा जगत कहता है; किन्तु जिस मकान में हमने लाखों रुपए खर्च किए हैं, उस मकान को कुछ बाधा पहुँचती है तो बात कुछ अलग होती है। जिस मकान की इसने पूरी सार-सम्हाल की है, उस मकान के बारे में यदि यह कहा जाता है कि — 'ये मेरा नहीं है, ये मैं नहीं हूँ' तब बात कुछ विशेष होती है; इस बात को स्वीकार करने में विशेष पुरुषार्थ लगता है। अतः भेदविज्ञान का आरम्भ यहाँ से ही होता है।

इसमें भी एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि पापकर्म के उदय से जो पदार्थ हमें प्राप्त होते हैं; उन्हें हम सहज ही छोड़ देते हैं; छोड़ क्या देते हैं? उन्हें तो हम अपना मानने के लिए तैयार ही नहीं होते हैं। पापकर्म के उदय से पुत्रा हमारे अनुकूल न हो तो हम अखबार में ऐसी घोषणा करके कि 'ये मेरा नहीं है' उससे पिंड छुड़ाना चाहते हैं। पाप के उदय से पत्नी प्रतिकूल हो तो उसे भी तलाक देकर उससे पिंड छुड़ाना चाहते हैं।

अतः पापकर्म के उदय से जो संयोग हमें प्राप्त हुए मैं 'वे नहीं हूँ, वे मेरे नहीं हैं, मैं उनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ' — ऐसे निर्णय में इस जीव का विशेष पुरुषार्थ नहीं लगता है।

अतः पुण्यकर्म के उदय से जो अनुकूल सामग्री उपलब्ध हुई है; उससे ही वास्तव में भेदविज्ञान की प्रक्रिया शुरू होती है।

समयसार में मैं प्रमत्त नहीं हूँ, अप्रमत्त नहीं हूँ यहाँ से भेदविज्ञान का प्रकरण प्रारम्भ होता है। यह शरीर मेरा नहीं है, यह सम्पत्ति मेरी नहीं है — यह पंचास्तिकाय की प्रारम्भिक विषयवस्तु हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की 20वीं गाथा की टीका में भी इसकी संक्षिप्त चर्चा की है।

आशय यह है कि जिन संयोगों में हमने एकत्वबुद्धि स्थापित की है एवं जगत जिसे व्यवहार से अपना कहता है; वहाँ से भेद-विज्ञान का प्रकरण प्रारम्भ होता है। सम्पूर्ण जगत को हम इन शब्दों में समाहित कर सकते हैं कि — स्त्री, पुत्रा, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा,

गाँव-नगर, देश — ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ।

ये बहुत ही सीमित शब्द हैं। इसका विश्लेषण इसप्रकार है —

109 स्त्री-पुत्रा में सम्पूर्ण परिवार समाहित होता है। मकान-जायदाद में सम्पूर्ण सम्पत्ति सम्मिलित होती है। नगर और देश में सम्पूर्ण जगत आ जाता है।

अभी सम्पूर्ण जगत में अपनत्व का विकास नहीं हुआ है। मैं राजस्थानी हूँ, मैं हिन्दुस्तानी हूँ, हम अभी यहाँ तक ही सीमित हैं। आज कोई मैं जगतवासी हूँ — ऐसा नहीं कहता है। अभी विश्व नागरिकता का प्रचलन नहीं है। मैं भारतवासी हूँ — इसप्रकार कहकर हम देश तक ही सीमित हैं।

यह भेदविज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु है। इन पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले संयोगों से भेदविज्ञान करने के लिए समयसार के पाठकों को अधिक समय व्यर्थ नहीं करना चाहिए; क्योंकि ये सब हमसे पृथक् पदार्थ हैं, इनका वियोग तो हमें हमारी आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

यदि ये संयोग आत्मा होते तो उनका वियोग सम्भव नहीं था। कितनी ही बार उनमें कुछ करने के विकल्प हमें होते हैं; परन्तु हजार प्रयत्न करने पर भी कुछ हाथ नहीं आता है। भेद विज्ञान के इस प्रारम्भिक बिन्दु में यह बात आ जाती है कि—'ये मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, इनका कर्ता-भोक्ता मैं नहीं हूँ।'

मैंने मकान बनाया, मैंने यह संस्था बनाई, मैंने देश की, परिवार की सेवा की, परोपकार किया — ऐसी मान्यता प्रथम भेदविज्ञान से निर्मूल हो जाती है। जैनदर्शन में परोपकार की बात उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही होती है।

जैनेतर मतानुयायी तो परोपकार को सबसे बड़ा धर्म मानते ही हैं; लेकिन दुःख तो तब होता है कि जब जिस जैनधर्म में उनके की चोट पर यह कहा गया है कि यह जीव परद्रव्य का कुछ भला-बुरा

कर ही नहीं सकता है; फिर भी आबाल—गोपाल से लेकर सभी सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित जैन—धर्मानुयायी व्यक्ति भी परोपकार को ही सबसे बड़ा धर्म घोषित करते हैं।

आशय यह है कि परोपकार का कथन उपचरित—असद्भूत—व्यवहार—नय का कथन है। जैनदर्शन में इसका त्याग कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता है। स्त्री—पुत्रा, मकान—जायदाद — इसको त्यागकर नग्न दिगम्बर मुनि हुए — इससे यह स्पष्ट है कि अब वे मुनि स्त्री—पुत्रा, मकान—जायदाद की चिंता नहीं करेंगे। उनके बारे में कर्तृत्व—भोक्तृत्व, एकत्व—ममत्व का विकल्प नहीं करेंगे। इसी का नाम इनका त्याग है। पूर्व में भी विकल्प ही करते थे और इस भूमिका में उनका ही त्याग है।

इस मुनि भूमिका में भी यदि कोई स्त्री—पुत्रा, मकान—जायदाद की चिंता करते हैं तो वे सच्चे मुनि नहीं हैं। जिनकी चिंता करना गृहस्थावस्था में कर्तव्य था; उनकी चिन्ता इस भूमिका में भी हो तो वह उचित नहीं है। जिनकी चिंता हम गृहस्थावस्था में भी नहीं करते थे; ऐसे देश, समाज, जगत की चिंता करना इस भूमिका में सर्वथा अनुचित है।

पर में कर्तृत्व सम्भव ही नहीं है — इसप्रकार स्त्री—पुत्र, मकान—जायदाद, गाँव, नगर, देश मेरे नहीं हैं, ये मैं नहीं हूँ, इसमें मेरा कर्तृत्व—भोक्तृत्व नहीं है, इसी मान्यता का नाम श्रद्धा संबंधी त्याग है। यही प्रथम प्रकार का भेदविज्ञान है।

दूसरे प्रकार का भेदविज्ञान शरीर से कराया गया है। निम्नांकित छन्द इसे अधिक सरलता से स्पष्ट करता है —

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।

घर सम्पत्ति पर प्रगट ये पर हैं परिजन लोय।।

जब यह शरीर ही अपना नहीं है, तब शरीर के संबंधी जो स्त्री—पुत्रा, मकान—जायदाद, माता—पिता हैं; वे अपने कैसे हो सकते हैं ?

मरने के बाद जब यह व्यंतर बनकर घर में आता है; तब परिवारवाले

उसे किलवाते हैं। यद्यपि व्यंतर किलते नहीं हैं; लेकिन परिवारवालों ने तो उसे कीलने का विकल्प तो किया ही है। जिनके लिए सबकुछ छोड़कर गये हैं, मकान देकर गये हैं; वे ही उसे किलवाने का अधम काम करते हैं — इसप्रकार स्पष्ट भिन्नता भासित होती है। देह का विनाश होते ही उससे जुड़ा हुआ परिवारवालों का राग भी विनाश को प्राप्त हो जाता है; अतः स्त्री—पुत्रा इत्यादि शरीर के ही संबंधी हैं। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है।

एक सत्य घटना है कि एक सेठ मरकर सामने के ही मकान में एक हरिजन के घर में पैदा हो गया। दो—तीन वर्ष का होने पर उसे जातिस्मरण हो गया और वह कहने लगा कि मेरा घर तो वह सामनेवाला है। वह मेरी पत्नी है, उसके तीनों बेटे मेरे ही बेटे हैं। वह ऐसी—ऐसी गुप्त बातें बताने लगा कि जो उक्त सेठ के अलावा किसी को भी ज्ञात न थीं।

सेठ के परिवारवालों को भी पक्का विश्वास हो गया कि यह बालक वही है; फिर उन्होंने उसके वर्तमान परिवारवालों को लाख—दो लाख रुपये देकर उसे यह नहीं कहने को मनाया। उसका ऐसा इलाज कराया कि वह यह सब भूल जावे।

अरे भाई ! यह जगत ऐसा ही है। यह शरीर का ही साथी है, आत्मा का नहीं।

इसप्रकार सम्पूर्ण जगत स्त्री—पुत्रादिक, देह में ही अपनापन करते हैं, ये देह के ही साथी हैं। इन्होंने हमारी आत्मा से संबंध स्थापित किया ही नहीं है। इनका यदि हमारे आत्मा से संबंध होता तो वे अगले भव में भी हमारे साथ रहते। यदि देह में मेरा अपनापन होता तो ये सारे नाते चलते रहने चाहिए।

इसप्रकार सारे संबंध देह से ही हैं, देह ही सभी संबंधों का मुख्य स्रोत है। इससे ही सभी नाते—रिश्ते जुड़े हुए हैं। यदि यह मुख्य स्रोत ही बंद हो जाय तो सम्पूर्ण नाते—रिश्ते भी व्यर्थ हो जाएँगे।

इस भेदविज्ञान के दूसरे प्रकार में कहते हैं कि जिस भगवान आत्मा को तू जानता है, पहिचानता है; जो तू स्वयं है; वह भगवान आत्मा देहरूपी मंदिर में रहता है। जिसप्रकार मूर्तियाँ मंदिर में रहती हैं; उसीप्रकार यह तेरा भगवान आत्मा भी देहरूपी देवालय में रहता है। देवस्तुति में देह को कारागृह कहा गया है और यहाँ उसे मन्दिर कहा जा रहा है।

तन कारागृह वनिता बेड़ी, परिजन जिन रखवाले।

तन जेल है, पत्नी बेड़ियाँ हैं और कुटुम्बीजन रक्षा करनेवाले अर्थात् पुलिसवाले हैं; जो इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि तू जेल से भाग न जावें।

यहाँ इस तन कारागृह को मन्दिर कहा गया है। कारागृह में रहनेवाला कैदी होता है और मन्दिर में रहनेवाला भगवान होता है। यहाँ आचार्यदेव आत्मा को भगवान कहना चाहते हैं; इस कारण तन को मन्दिर कह रहे हैं।

राम के छोटे भाई लक्ष्मण एवं उनकी पत्नी उर्मिला एक बार साथ में बैठे-बैठे वार्तालाप कर रहे थे। लक्ष्मण बात करते समय पुनः-पुनः उर्मिला को महारानी-महारानी कहकर सम्बोधित करते थे।

तब उर्मिला ने लक्ष्मण से कहा — 'आप मुझे बार-बार महारानी-महारानी क्यों कह रहे हैं ? यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ; क्योंकि आप स्वयं को महाराजा कहलवाना चाहते हैं, यदि दासी कहेंगे तो खुद दास बन जाएँगे; क्योंकि दासी का पति तो दास ही होता है। आप मुझे महारानी मेरी महिमा बढ़ाने के लिए नहीं कह रहे हैं; अपितु ये बता रहे हैं कि मैं महाराजा हूँ।'

ऐसे ही यहाँ जो देह को देवल कहा गया है, वह देह की महिमा बढ़ाने के लिए नहीं कहा है; अपितु देहरूपी देवल में जो विराजमान है, वह आत्मा भगवान है — यह बताने के लिए देह को देवल कहा गया है।

111

जिसप्रकार महल में राजा रहता है, हवेली में रईस रहता है, झोंपड़ी में गरीब रहता है, बंगले में साहब रहते हैं। महल, हवेली, झोंपड़ी, बंगला यह सब मकान के ही नाम हैं; लेकिन इन विविध नामों से इनमें रहनेवालों की महत्ता-लघुता का पता चलता है, ऐसे ही मंदिर भी मकान का ही नाम है; परन्तु उसमें रहनेवाले भगवान होते हैं।

हवेली कहते ही रईस का ध्यान आ जाता है, वैसे ही मंदिर कहते ही भगवान का ध्यान आ जाता है; इसीप्रकार देहरूपी मंदिर कहते ही भगवान आत्मा का ध्यान आता है।

मंदिर में भगवान रहते हैं; लेकिन भगवान मंदिर नहीं है। इन दोनों में बहुत अंतर है। नौ देवताओं में जिनमंदिर और जिनप्रतिमा नामक भी दो देवता हैं; जिनमंदिर और जिनप्रतिमा में बहुत अंतर है। जिनमंदिर में जब प्रवेश करते हैं तो उसपर पैर रखकर ही जाना पड़ता है, जिनमंदिर में पैर रखने पड़ते हैं; लेकिन जिन प्रतिमा पर पैर रखना घोर अविनय माना जाता है।

यद्यपि दोनों देवता हैं; तब भी एक देवता की छाती पर पैर रखा जाता है एवं दूसरे के चरणों में माथा। ऐसे ही देह तो मंदिर है — अर्थात् चरण रखने योग्य और उसमें रहनेवाला भगवान आत्मा के चरणों में माथा रखने योग्य है। इसप्रकार देह को मंदिर कहने से उसकी महिमा नहीं बढ़ गई है; अपितु आत्मा की ही महिमा बढ़ी है।

कथन में तो ऐसा ही आता है कि मुझे मंदिर के दर्शन करने हैं; लेकिन मंदिर के दर्शन नहीं करना है; अपितु मंदिर के अंदर जो भगवान की मूर्ति विराजमान है, उसके दर्शन करना है। ऐसे ही देह की महिमा में कुछ भी बोला जाय; लेकिन बोला तो तभी जाता है जब उसके अंतर में आत्मा विद्यमान हो। प्रधानमंत्री और चपरासी के मुर्द में क्या अन्तर है ? दोनों एक से ही हैं; लेकिन प्रधानमंत्री और चपरासी में फर्क है। शरीर के अंदर जो आत्मा है, उसी का फर्क है। जो अंतर खाली मंदिर और मूर्ति से विराजमान मंदिर में है, वही अंतर आत्मा

सहित देह में और आत्माविहीन देह में है।

आत्मा को शरीर से भिन्न मानने में इस जीव को थोड़ी समस्या आती है; क्योंकि यह जन्म से मरण तक हमारे साथ रहता है। जन्म से पहले भी हम थे और मरण के पश्चात् भी हम रहेंगे — यह विश्वास बहुत कम व्यक्तियों को होता है। किसने देखा है ? — ऐसा कहकर लोग इसे व्यक्त भी करते हैं। इस भव में आत्मा को देह से भिन्न होते हुए देखा नहीं है और अगले भव पर हमें विश्वास नहीं है; इसलिए देह से भेदविज्ञान होना थोड़ा कठिन है।

इतना कठिन भी नहीं है; क्योंकि यद्यपि हम स्वयं की आत्मा को शरीर से भिन्न होते हुए नहीं देखते हैं; तथापि दूसरों को तो शरीर से भिन्न होते हुए देखते ही हैं। माता—पिता को और कई व्यक्तियों को मरते हुए देखते ही हैं, अतः सरल ही है। क्या हम स्वयं के अनुभव से ही सीखेंगे ?

अरे भाई ! समझदार लोग दूसरों का मरण देखकर ही अपने मरण का निश्चय कर लेते हैं। यह दूसरे नम्बर का देह से भेदविज्ञान का प्रकरण हुआ।

आत्मार्थी को इस भेदविज्ञान में भी अधिक समय लगाने की आवश्यकता नहीं है। अब जो वास्तविक भेदविज्ञान का प्रकरण प्रारम्भ होता है, वह आत्मा में ही पर के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले जो मोह—राग—द्वेष के परिणाम हैं; वे आत्मा नहीं है, यहाँ से प्रारम्भ होता है।

यद्यपि द्रव्य—गुण—पर्याय सहित आत्मा वर्तमान में राग सहित है; किन्तु वह राग से भी भिन्न है।

मंदिर में भगवान है और देह में आत्मा है — यह कथनमात्र ही है। वस्तुतः तो देह देह में है और आत्मा आत्मा में है। देह और आत्मा का एक क्षेत्रावगाहसंबंध है। आत्मा में न देह का प्रवेश है और न ही देह में आत्मा का प्रवेश है; लेकिन राग तो आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होता है। देह के

साथ आत्मा का संयोग संबंध है एवं आत्मा का राग के साथ क्षणिक तादात्म्य संबंध है।

तादात्म्य दो प्रकार का होता है, एक नित्यतादात्म्य एवं दूसरा क्षणिकतादात्म्य। द्रव्य और गुण का नित्यतादात्म्य संबंध है एवं द्रव्य और पर्याय का क्षणिकतादात्म्य संबंध है; संबंध एक ही है मात्र काल का अंतर है।

जिसप्रकार कोई मिठाई 100 ग्राम खाई या 1 ग्राम खाई; दोनों का स्वाद एक—सा ही है, मात्रा मात्रा में अंतर है। स्वाद में कोई अंतर नहीं है। क्षणिकतादात्म्य भी तो तादात्म्य ही है।

‘देह में आत्मा है’ पर देह आत्मा नहीं है। आत्मा में राग है, पर आत्मा रागरूप नहीं। इन शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है। पूर्व में तो यह कहा कि देह आत्मा नहीं है; परन्तु यहाँ ऐसा नहीं कहा कि राग आत्मा नहीं, यहाँ यह कहा है कि आत्मा रागरूप नहीं है, राग का स्वरूप भिन्न है और आत्मा का स्वरूप भिन्न है।

इसप्रकार दोनों में भावभेद है, परिभाषा का भेद है; अतः लक्षणभेद है। द्रव्यभेद भी है। वस्तु में द्रव्य, क्षेत्रा, काल, भाव चारों ही आ जाते हैं। देह और आत्मा दोनों के द्रव्य पृथक्, क्षेत्रा पृथक्, काल पृथक् एवं भाव पृथक् हैं। यही कारण है कि आत्मा रागरूप नहीं है। यद्यपि राग आत्मा में ही उत्पन्न हुआ है; फिर भी आत्मा राग नहीं है, रागरूप नहीं है। इसके लिए आचार्य ने कई उदाहरण दिए हैं।

समयसार परमागम के 72वीं व 74वीं गाथा में कहा है कि यद्यपि काई जल में उत्पन्न हुई है; लेकिन वह जल नहीं है। ऐसे ही राग आत्मा में उत्पन्न हुआ है; लेकिन वह आत्मा नहीं है। पीपल में लाख पैदा हुई है; लेकिन लाख पीपल नहीं है; क्योंकि लाख पीपल की घातक है। ऐसे ही राग आत्मा में उत्पन्न होता है; लेकिन राग आत्मा नहीं है।

जाननेरूप ज्ञानपर्याय भी आत्मा में ही उत्पन्न होती है। जिस—

प्रकार रागपर्याय का आत्मा के साथ क्षणिकतादात्म्य संबंध है, वैसे ही आत्मा के साथ ज्ञानपर्याय का भी क्षणिकतादात्म्य संबंध ही है, तथा सम्यग्ज्ञानरूप ज्ञानपर्याय जो आत्मा को जानती है; उसका भी आत्मा के साथ क्षणिकतादात्म्य संबंध ही है।

जब राग और ज्ञान दोनों का आत्मा के साथ एकसा ही संबंध है, तब दोनों को ही हेय या दोनों को ही उपादेय कहना था। राग मेरा नहीं है और ज्ञान मेरा है — ऐसे कथन का क्या आशय है ?

इसपर आचार्य कहते हैं कि राग से भेदविज्ञान के इस प्रकरण में ज्ञान हेय है — यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि राग को अपना कहना उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का कथन है और ज्ञान पर्याय को अपना कहना अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का कथन होगा। यहाँ यह कथन उपयुक्त नहीं है; यद्यपि दोनों के साथ एक ही क्षणिकतादात्म्य संबंध है; लेकिन तब भी राग और ज्ञान दोनों में महान अन्तर है। इसे हम इस उदाहरण से समझते हैं।

जैसे किसी स्त्री के शादी के पूर्व एक संतान हुई एवं एक संतान शादी के पश्चात् हुई। अब दोनों संतानों का उस स्त्री के साथ क्या संबंध है ? दोनों के साथ मातापन का ही संबंध हुआ न ! जो शादी के पूर्व पुत्रा उत्पन्न हुआ वह भी उस माता का पुत्रा है एवं जो शादी के पश्चात् पुत्रा उत्पन्न होता है वह भी उसी का पुत्रा है। इसप्रकार उन दोनों पुत्राओं का माता के साथ एक ही संबंध है।

इसे हम एक ऐतिहासिक उदाहरण से और अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं। कर्ण और कुंती में तथा अर्जुन और कुंती में क्या संबंध है ? कर्ण भी कुंती का ही बेटा है एवं अर्जुन भी कुंती का ही बेटा है। इसप्रकार दोनों में कुंती के साथ माता-पुत्रा का ही संबंध है। फिर भी अर्जुन की रक्षा के लिए कुंती जान देने के लिए तैयार है और कर्ण को मारने के लिए कुंती जान देने के लिए तैयार है। अर्जुन और कर्ण की जब लड़ाई हो रही है, तब कुंती कर्ण से कवच-कुंडल मांगकर उसे

मारने के लिए तैयार है एवं वह अर्जुन को अपनी जान की कीमत पर भी बचाना चाहती है। एक ही माता का दोनों पुत्राओं के साथ व्यवहार में यह अंतर क्यों है ? यही न कि एक विवाह के पूर्व की अवैध संतान है और दूसरी विवाह पश्चात् की वैध संतान है।

113

परपति के संयोग से जो उत्पन्न हो, वह अवैध संतान होती है, वह कर्ण जैसी होती है। जो स्वपति के संयोग से हो, वह वैध संतान होती है, वह अर्जुन जैसी संतान होती है। राग कर्ण जैसा है एवं ज्ञान अर्जुन जैसा है।

जब किसी माँ-बहिन के गर्भ रहता है तब उसका मनमयूर नाचने लगता है। पति इस समाचार को सुनता है तो वह भी आनंदित होता है। सास, मोहल्लेवाले, पीहरवाले सभी जो भी इस समाचार को सुनता है, आनंदित होता है। फिर जब पुत्रा उत्पन्न होता है, तब बड़े-बड़े कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, हजारों लोगों को भोजन दिया जाता है। इन कार्यक्रमों में माँ बड़े ही गौरव के साथ अपने पुत्रा को आगत अतिथियों की गोद में रखती है।

लेकिन यदि वही पुत्रा शादी के पूर्व जन्मता है, तब क्या इस समाचार से सभी खुश होते हैं ? जिसके संयोग से गर्भ रहा है, क्या वह लड्डू बाँटता है ? वह कहता है कि अस्पताल में चलो, गर्भ गिरवाते हैं। माता-पिता दोनों ही उस पुत्रा को मारने की योजना बनाते हैं। यह ऐसा महापाप है जिसकी कल्पना भी हृदय को कँपा देती है। जब भी यह बात मेरे मस्तिष्क में आती है तो मेरा खून खौलने लगता है; क्योंकि इन जैसा महापापी, महाहत्यारा मुझे और कोई भी नहीं दिखता है।

दुनिया में शत्रु हमारे ऊपर आक्रमण करते हैं तो माँ-बाप, भाई-बहिन, परिवारजन ही हमारी सुरक्षा करते हैं। एक बालक जब दो वर्ष का होता है, उसे यदि हाथ दिखाते हैं तो वह 'माँ !' कहकर चिल्लाता है; क्योंकि वह समझता है कि मेरी रक्षा करनेवाली माँ है। जिसपर उसका

इतना अटूट विश्वास हो, जो रक्षक हो; अब वे माता-पिता ही यदि उसकी हत्या कराने के लिए जाएँ, हत्या कराने के लिए पैसा दें तो वे कितने पापी हैं? — क्या इसकी कल्पना की जा सकती है? जिस डॉक्टर ने सम्पूर्ण विश्व को बचाने के लिए प्रमाण-पत्रा लिया है, जिसने सभी का जीवन बचाने की प्रतिज्ञा की है; वह यदि हत्या का ऐसा महापाप करे तो उससे बड़ा पापी कोई नहीं है।

युद्ध का अवसर होता है तो जब दो लोग लड़ते हैं; तब एक यदि निहत्था हो तो उसे हथियार देकर उसके साथ क्षत्रिय लड़ता है और यहाँ सामनेवाला निहत्था है, हाथ-पैर नहीं चला सकता है; उसकी बाहर आने की ताकत भी नहीं है। तब भी डॉक्टर और माता-पिता सभी मिलकर एक निहत्थे की हत्या कर देते हैं; इसप्रकार निहत्थे की हत्या करनेवाले कितने पापी होंगे?

शादी के पूर्व अवैध संतान होती थी, तब उसे मारने का भाव माता-पिता का होता था; यह पंचमकाल की ही बलिहारी है कि आज तो लोग स्वपति के संयोग से हुई संतान को भी मारने की सोच रहे हैं। अब वैध संतान का भी गर्भपात हो रहा है। गर्भ में लड़की हो तो उसका गर्भ गिराना आज सामान्य-सा हो गया है।

ऐसी कोई मजबूत दृढसंकल्पी माता ही होती है कि जो अपनी अवैध संतान को भी बचा लेती है; लेकिन क्या इस संतान के उत्पन्न होने पर कोई उत्सव मनाता है? क्या वैसे ही कार्यक्रम होते हैं; जैसे वैध सन्तान के उत्पन्न होने पर होते हैं?

ऐसे ही राग पर के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाली आत्मा की अवैध संतान है और ज्ञान आत्मा की स्वलक्ष्य से होनेवाली वैध संतान है; इसलिए राग और ज्ञान को एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता है।

यह भेदविज्ञान का तीसरा स्तर है, जिसमें आत्मा को राग से भिन्न बताया गया है। ●

पंद्रहवाँ प्रवचन

114

समयसार परमागम में संवराधिकार का प्रकरण चल रहा है। अभी तक यह कहा गया है कि जितने भी जीव आजतक सिद्ध हुए हैं, वे सब भेद-विज्ञान के बल से ही सिद्ध हुए हैं एवं जितने भी जीव संसार में रखड़ रहे हैं, वे सभी भेद-विज्ञान के अभाव से ही रखड़ रहे हैं।

मूल बात यह है कि हमें भेद-विज्ञान किससे करना है? कई स्तरों से इसका विश्लेषण हुआ है।

पहला — स्त्री-पुरुष, मकान-जायदाद इत्यादि जितने प्रगट बाह्य परपदार्थ हैं, जो हमारे पुण्य-पाप के उदय से संयोगरूप में हमें प्राप्त होते हैं। 'ये मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ' — इसप्रकार सबसे पहले इनसे भेद-विज्ञान कराया।

दूसरा — जिस देहरूपी देवल में यह भगवान आत्मा रहता है, यह आत्मा उस देह से भी भिन्न है। यद्यपि यह देह में रहता है, पर यह देह नहीं है।

तीसरा — राग-द्वेष-मोह के विकारी परिणाम; यद्यपि इस भगवान आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, उनका इस आत्मा के साथ क्षणिक-तादात्म्य संबंध भी है; फिर भी वे पर के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं; अतः पर ही हैं। इसप्रकार तीसरे स्तर पर मोह-राग-द्वेष भावों से भेद-विज्ञान कराया है।

जो जिसके लक्ष्य से हो, अध्यात्म उसे उसका ही कहता है। अध्यात्म में ही क्यों, लोकव्यवहार में भी ऐसा ही कहा जाता है।

जब हम दर्जी के यहाँ जाते हैं; तब हम उससे पूछते हैं कि हमारा काम हुआ या नहीं?

अरे भाई! कुर्ते को सिलना दर्जी का काम है या तुम्हारा?

कुर्ता सिलना दर्जी का काम है, तब भी हम कहते हैं कि हमारा काम हो गया क्या?

जिसके लिए काम किया जाता है, उस काम को उसका काम कह दिया जाता है; जबकि काम तो करनेवाले का होता है।

ऐसे ही अध्यात्म में भी जिसके लक्ष्य से जो भाव उत्पन्न हो, उस भाव को उसका ही कह दिया जाता है।

कन्या की उत्पत्ति हमारे घर में होती है; लेकिन क्या वह हमारी मानी जाती है? जिसे वह वरे; ऐसे वर की ही वह मानी जाती है।

जिसके यहाँ वह जन्मी है, वह उसकी नहीं; अपितु उसने जिसका वरण किया, वह उसकी ही हो जाती है। लोक में, जिस पर उसका लक्ष्य हो, जिस पर वह रीझी; उसे उसका ही कह दिया जाता है।

ऐसे ही अंतर में उत्पन्न होनेवाला मोह-राग-द्वेष का परिणाम; जिसपर रीझने से हुआ है, वह उसका है; इस न्याय से ये मोह-राग-द्वेष के परिणाम आत्मा में उत्पन्न होकर भी वे पर हैं; आत्मा के नहीं हैं।

पूर्व प्रकरण में —

देहदेवल में रहे पर देह से जो भिन्न है।

है राग जिसमें किन्तु जो उस राग से भी अन्य है।।

इसकी चर्चा की थी। अब —

गुणभेद से भी भिन्न है पर्याय से भी पार है।

जो साधकों की साधना का एक ही आधार है।।

इस छन्द के आधार पर भेद-विज्ञान का विश्लेषण होगा।

अभी तक यह कहा था कि भगवान आत्मा विकारी पर्याय से भी भिन्न है, अब आगे कहते हैं कि उत्पाद-व्यय से भी निरपेक्ष है, निर्मल पर्याय से भी पार है। पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुए विकारी भाव से तो भिन्न है ही; लेकिन स्व के लक्ष्य से उत्पन्न हुई निर्मल पर्यायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से भी यह भगवान आत्मा पार है।

पूर्व में 'भिन्न' इस शब्द का प्रयोग किया था, अब यहाँ 'पार' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। इसमें थोड़ा अंतर है, हमें वास्तविक भगवान

आत्मा के दर्शन करने हैं; यदि इस पर्याय पर भी जीव की दृष्टि अटक जाएगी तो भगवान आत्मा के दर्शन नहीं होंगे; क्योंकि भगवान आत्मा इस पर्याय से भी पार है।

115

इसका अर्थ 'पर्याय नहीं है' — ऐसा नहीं है; परंतु पर्याय होते हुए भी पर्याय पर दृष्टि नहीं रखना चाहिए — यह आशय है। अन्दर में उस पर्याय के पार जो द्रव्य है, उस पर दृष्टि रखना; तभी इस भगवान आत्मा के दर्शन होंगे।

यद्यपि हम पर्याय को वस्तु में से नहीं हटा सकते हैं; लेकिन फिर भी दृष्टि में से तो हटा ही सकते हैं। इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं।

पुत्रा की शादी करनी है। पिता अपने पुत्रा के लिए बहू खोजता है। पिता और पुत्रा दोनों लड़की देखने गए। लड़कीवालों ने लड़की दिखाई; वह लड़की सज-धजकर, अच्छी तरह से कपड़े पहनकर आयी। बोलो ! इन कपड़ों में वह लड़की दिखेगी या कपड़े दिखेंगे? यदि पिता कहे कि भाईसाहब ! हम लड़की देखने आए हैं; कपड़े देखने नहीं आए हैं। तब लड़कीवाले कहते हैं कि हम कब कह रहे हैं कि कपड़ों को देखो; लड़की को मत देखो। लड़की ही तो देख रहे हैं आप !

तब पिता कहे कि — क्या करें ! लड़की तो कपड़ों के पार है, कपड़ों के भीतर लिपटी हुई है; इसलिए लड़की तो हमें दिखाई देती ही नहीं है, कपड़े ही कपड़े दिखाई देते हैं।

तब लड़कीवाले कहेंगे — भाईसाहब ! क्या आप जिंदगी में पहली बार लड़की देख रहे हैं? जितनी भी लड़कियाँ देखी जाती हैं, वे सब कपड़ों में ही देखी जाती हैं; क्योंकि जो भी लड़की देखता है, उसे यह प्रश्न कभी उपस्थित नहीं होता है कि ये गोरी है या काली है? थोड़े से हाथ का भाग एवं चेहरा देखते ही वह यह निर्णय कर लेता है कि यह गोरी है या काली; क्योंकि जो अंग हमेशा खुला रहता है, उसकी अपेक्षा ढके हुए अंग अधिक सुंदर होते हैं, अधिक साफ होते हैं; — यह

वह अच्छी तरह जानता है। उन अंगों को खोलने की आवश्यकता नहीं है।

आजतक किसी व्यक्ति को ऐसा प्रश्न उपस्थित नहीं हुआ कि कपड़ों में लिपटी हुई लड़की को कपड़ों से भिन्न कैसे देखें ? सभी ने उसे कपड़ों से भिन्न ही देखा है ! जिन्होंने उसे कपड़ों से भिन्न देखा, उन्हें वधू प्राप्त हुई और जिन्होंने उसमें मीन-मेख निकाली कि मैं कपड़ों में नहीं देखूँगा, कपड़े अलग करो तो मैं देखूँगा तो उन्हें लड़की देखने को भी नहीं मिली; फिर लड़की मिलने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

ऐसे ही पर्याय को पृथक् करो, मैं तो त्रिकाली ध्रुव को देखूँगा। अरे भाई ! पर्याय तो कभी तीन काल में भी पृथक् होनेवाली नहीं है। पर्याय के रहते हुए पर्याय से रहित द्रव्य देखा जा सकता है। आजतक अनंत ज्ञानियों ने पर्याय के साथ में पर्याय से रहित द्रव्य देखा है। आत्मा की प्राप्ति का यही उपाय है। यही 'पर्याय से पार' का आशय है।

वस्त्रों में लिपटी हुई लड़की के वस्त्र नहीं देखे जाते हैं; अपितु लड़की ही देखी जाती है। ऐसे ही पर्याय में लिपटे हुए आत्मा में पर्याय न देखे, केवल आत्मा को देखे — ऐसा कमाल दृष्टि में होता है। ऐसा कमाल लोक में नहीं होता, वस्तु में नहीं होता, इस जीव की दृष्टि में ऐसा कमाल होता है।

नाट्यशास्त्रा का एक नियम है कि नाटक में कुछ वस्तुएँ तो मंच पर दिखाई जाती हैं और कुछ लोगों की कल्पना के लिए छोड़ दी जाती हैं।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्रा में लिखा है कि हाथी-घोड़े मंच पर कैसे दिखाए जाएँगे ? यद्यपि युद्ध तो हाथी-घोड़ों और रथों के माध्यम से होता है, तथापि वे परदे पर कैसे दिखाये जा सकते हैं ?

तब दो पात्रा परस्पर वार्तालाप करते हुए उस युद्ध का वर्णन करते हैं एवं वह युद्ध कितना भयंकर हुआ था, इसका आभास कराते हैं। इससे

सभी दर्शक यह मान लेते हैं कि भयंकर युद्ध हुआ था और उसके माध्यम से वास्तविक युद्ध की कल्पना भी कर लेते हैं।

116

फिल्मों में शादी का एक फेरा दिखाते हैं, उसके पश्चात् विदाई का दृश्य दिखा देते हैं, तब सभी दर्शक यह समझ लेते हैं कि सात फेरे हो गए हैं एवं बारात जा रही है। आवश्यक नहीं है कि सात फेरे दिखाएँ ही जाएँ। विदाई के दृश्य के पश्चात् ससुराल का दृश्य दिखा देते हैं; तब सभी समझ लेते हैं कि शादी होकर अब वह लड़की ससुराल में आ गई है। कार में बैठते दिखाएँगे और एक सैकेण्ड में उतार देंगे; तब सभी समझ जाते हैं कि रास्ते में कार 1000 मील चली है। इसप्रकार समय-समय पर सभी आवश्यक कल्पना कर लेते हैं।

आत्मा के दर्शन करने के लिए ऐसी ही भेदक दृष्टि चाहिए। नाटक देखते समय जैसी भेदक दृष्टि होती है; आत्मा के दर्शन करते समय वैसी ही भेदकदृष्टि चाहिए। आत्मा को देह से पृथक् नहीं किया जा सकता है। जब सम्यग्दर्शन होता है, तब यह आत्मा देह देवल में ही रहता है। सम्यग्दृष्टि देह में रहते हुए आत्मा को देह से भिन्न देखते हैं।

जैसे देह में रहते हुए आत्मा को देह से भी भिन्न देखा जाता है; वैसे ही पर्याय में रहते हुए भगवान आत्मा को पर्याय से पार भी देखा जा सकता है।

प्रश्न — आखिर भगवान आत्मा को निर्मल पर्याय से पार देखने की आवश्यकता ही क्या है ? पर्याय निर्मल है, ज्ञानस्वभाव के अनुरूप है, अनुकूल है, सुखमय है, आनंदस्वरूप है; इसे पृथक् करने की आवश्यकता ही क्या है ? आत्मा में केवलज्ञान की, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रा और अतीन्द्रिय आनंद की पर्याय है; इसे पृथक् करने की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर — अतीन्द्रिय आनंद अनंतकाल तक कायम रहे; इसके लिए निर्मल पर्याय से भी भिन्न भगवान आत्मा को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

यदि आत्मा को पर्याय से भिन्न नहीं जानेंगे तो अनंतकाल तक आनंद नहीं रहेगा। आनंद उत्पन्न ही नहीं होगा तो उसके अनंतकाल तक रहने का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है।

यदि एक समयवर्ती पर्याय में इस जीव ने अपनापन किया अर्थात् 'ये मैं हूँ' — ऐसा माना तो इस जीव को निगोद जैसा अनंत दुःख इसी समय प्राप्त होगा।

निगोद में अधिक दुःख क्यों है ? नरकगति में तो भूख—प्यास, गर्मी—सर्दी के दुःख हैं। आलू में अनंत निगोदिया जीव रहते हैं; लेकिन उस आलू को तो ए.सी. (कोल्डरूम) में रखा जाता है। उसे कैसा दुःख ? लेकिन निगोद में नरक से भी अधिक दुःख है; क्योंकि निगोद में प्रतिसमय मरण का दुःख है।

'एक श्वास में अठ—दस बार, जन्मो—मर्यो—भर्यो दुःख भार।'

उनका एक श्वास में 18 बार जन्म—मरण होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जन्मना और मरना — यही सबसे बड़ा दुःख है।

अब इस जीव ने यदि पर्याय में एकता की तो वह पर्याय तो एक समयवर्ती है; अतः एक समय में ही नष्ट होगी; तब इस जीव को स्वयं के मरण जैसा ही दुःख होगा; क्योंकि उसमें उसने 'यह मैं हूँ' — ऐसा माना था; तब मैं ही नष्ट हुआ; ऐसा मानकर अनंत दुःखी होगा।

इस अनंत दुःख को मेटने का उपाय क्या है ?

एक तो यह उपाय है कि वह पर्याय अनंतकाल तक कायम रहे; कभी नष्ट ही न हो; पर यह उपाय तो कभी संभव नहीं है।

अतः वास्तविक उपाय इस पर्याय को अपना नहीं मानना ही है। इसलिए ज्ञानीजन पर्याय में एकत्वबुद्धि नहीं करते हैं।

चाहे वह निर्मल पर्याय हो, चाहे वह विकारी पर्याय हो; आखिर वह एक समय में नष्ट होनेवाली है, अनित्य है, परिवर्तनशील है। वह अच्छी है या बुरी है — इससे क्या फर्क पड़ता है।

कोई व्यक्ति एक सैकेन्ड को आये और उसी समय वह जानेवाला हो; तब वह सुंदर है या कुरूप है, उसके बाल सफेद हैं या काले हैं —

इससे हमें क्या लेना—देना है। इस बात का विचार क्या करना कि वह अच्छा है या बुरा है; क्योंकि वह एक समय में जानेवाला है। जिसने उस व्यक्ति से प्रीति की, उसके भाग्य में जीवनभर दुःखी होना ही है। जीवनभर रोने के अलावा उसके पास कुछ शेष रहनेवाला नहीं है।

ऐसे ही जो पर्याय नष्ट होनेवाली है, उसमें यदि इस जीव ने अपनापन किया तो यह अनंत दुःखी ही होगा। अतः जो नष्ट होनेवाली है, अनादि—अनंत नहीं है; वह पर्याय चाहे निर्मल हो अथवा विकारी हो; परंतु उससे भी भगवान आत्मा पार है।

पूर्व प्रकरण में तो यह कहा था कि वह निर्मल पर्याय राग जैसी नहीं है; क्योंकि राग तो परपुरुष के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्रा जैसा है एवं निर्मल पर्याय स्वपति के संयोग से हुए पुत्रा जैसी है। यह तो सम्मान दिलानेवाली है, गौरव बढ़ानेवाली है।

क्या परपुरुष से उत्पन्न होनेवाली संतान की अपेक्षा स्वपति से होनेवाली संतान अच्छी नहीं है ?

अरे भाई ! ब्रह्मचारी के लिए ये दोनों ही हेय हैं। यदि दीक्षा लेना है या ब्रह्मचारी रहना है; तब तो स्वस्त्री एवं परस्त्री दोनों को समान कहा जाएगा न ? दूसरी दृष्टि से देखें तो दोनों में बहुत अंतर है। जो परस्त्री को स्वस्त्री के समान मानेगा, वह मानव नहीं रहेगा, पशु बन जाएगा और जो स्वस्त्री को परस्त्री के समान मानेगा, वह ब्रह्मचारी हो जाएगा।

पहले निर्मल और विकारी पर्याय में भेद डाला था, इस प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि निर्मल पर्याय भी विकारी पर्याय के समान क्षणभंगुर होने से स्व की सीमा में नहीं आती; वह भी पर ही है। यह तीसरे प्रकार का भेदविज्ञान है।

उक्त छन्दानुसार 3 प्रकार के भेदविज्ञान निम्नानुसार हैं —

1. देहदेवल में रहे, पर देह से जो भिन्न है।
2. है राग जिसमें, किन्तु जो उस राग से भी अन्य है।
3. गुणभेद से भी भिन्न है, पर्याय से भी पार है।

इन तीन प्रकार के भेदविज्ञान में स्त्री-पुत्रा, मकान-सम्पत्ति इत्यादि से आत्मा भिन्न है — यह भेदविज्ञान प्रथम भेद-विज्ञान के रूप में समाहित किया जाय तो प्रकरण अनुसार चार प्रकार के भेदविज्ञान स्पष्ट होते हैं।

1. स्त्री-पुत्रादि से 2. देह से 3. राग से और 4. गुण भेद तथा निर्मल पर्याय से — इसप्रकार भेदविज्ञान के चार स्तर हो गये।

यह भगवान आत्मा 'पर्याय से भी पार है' — इसकी व्याख्या हुई। अब यह भगवान आत्मा 'गुणभेद से भी भिन्न है' — इसकी व्याख्या करते हैं।

सर्वप्रथम स्त्री-पुत्रादि एवं शरीररूप पर से; फिर विकारी पर्याय से, पश्चात् निर्मल पर्याय से; इस भगवान आत्मा का भेदविज्ञान कराया।

अब आचार्य कहते हैं कि यद्यपि यह भगवान आत्मा अनंत गुण सहित है, असंख्यात प्रदेशी है; तथापि भगवान आत्मा में अनंतगुण और असंख्य प्रदेश का भेद नहीं है। गुण पृथक्-पृथक् हैं — यह मात्रा जानने के लिए प्रयोजनभूत है; परन्तु गुण अभेद, अखण्ड हैं और कभी अलग-अलग नहीं होंगे। देह और आत्मा अलग-अलग हैं; अतः वे एक दिन अलग-अलग हो जाएँगे।

यद्यपि ये गुण भाव की अपेक्षा, परिभाषा की अपेक्षा, कार्य की अपेक्षा पृथक्-पृथक् हैं; तथापि वे कभी पृथक्-पृथक् नहीं होंगे; क्योंकि इन दोनों में प्रदेशभेद नहीं है। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य में प्रदेशभेद नहीं है; अतः वे भिन्न-भिन्न होते हुए भी कभी पृथक् नहीं हो सकते हैं, अभेद हैं।

इस आत्मा में गुणों का भेद होने पर भी यह आत्मा गुणभेद से भिन्न है। प्रदेशों का भेद होने पर भी प्रदेशभेद से भगवान आत्मा भिन्न है। भेदाभेद वस्तु का स्वरूप है; अतः दोनों कथंचित् परस्पर भिन्न हैं एवं कथंचित् अभिन्न हैं।

प्रश्न — अभिन्न पक्ष को तो रखा जा रहा है एवं भिन्नतावाले पक्ष

को हटाया जा रहा है — ऐसा क्यों? जबकि दोनों वस्तु के स्वरूप हैं।

उत्तर — अरे भाई! आचार्य बिना प्रयोजन कोई कार्य नहीं करते हैं। अकलंकदेव लिखते हैं — प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

118

राजवार्तिक का यह उद्धरण बताता है कि प्रयोजन के बिना तो मंद से मंदबुद्धिवाला भी प्रवृत्ति नहीं करता है। बनिया यदि नीचे झुका है तो कुछ न कुछ लेकर ही उठेगा। गाय का गोबर यदि जमीन पर गिरा है तो कुछ न कुछ लेकर ही उठेगा।

इस कथन का आशय यह है कि जब भेद पर दृष्टि डालते हैं, तब विकल्प उत्पन्न होते हैं — ऐसी विकल्पात्मक स्थिति में आत्मा का अनुभव नहीं होता है; अतः भेद का निषेध है और अभेद का समर्थन है। इसप्रकार यह भगवान आत्मा गुणभेद से भी भिन्न है।

यह तीसरे या चौथे क्रम के भेदविज्ञान का दूसरा भाग है।

प्रश्न — इस भेदविज्ञान के दो अलग-अलग भाग क्यों किए? इन दोनों भागों को स्वतंत्रा क्रम दिया जा सकता था।

उत्तर — 'गुण भेद से भिन्न' एवं 'पर्याय से पार' — ये दोनों एक नय के विषय हैं। अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय में गुणभेद भी आता है और निर्मलपर्याय भी आती है। यदि इन्हें अलग से पृथक् क्रम दे देते तो जिनवाणी में नय भी पृथक् से बनाने पड़ते। यदि इनके दो टुकड़े करेंगे तो इनके पृथक् से दो नय बनाने पड़ेंगे। चार व्यवहारनय से पाँच व्यवहारनय बनाने पड़ेंगे; इसलिए इन दोनों को एक कहा। पर्याय से पार और गुणभेद से भिन्न, प्रदेशभेद से भिन्न एक ही नय का विषय होने से इन्हें एक ही भेद में लिया है।

गुणभेद से भिन्न और पर्याय से पार — ऐसा भगवान आत्मा ही साधकों की साधना का एकमात्र आधार है। आत्मा के साधक जितने भी जीव हैं, उनकी साधना का एकमात्र आधार यही भगवान आत्मा है।

स्त्री-पुत्रा, मकान-जायदाद सहित आत्मा, देहसहित आत्मा, राग-

सहित आत्मा, पर्यायसहित आत्मा, गुणभेदसहित आत्मा साधकों की साधना का आधार नहीं हो सकता।

चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती तक के जीव साधक कहलाते हैं। एक पैर पर खड़े हो जाना, क्रियाकाण्ड करना — इसका नाम साधना नहीं है। ज्ञानगुण द्वारा अपनी आत्मा को 'ये ही मैं हूँ' — ऐसा जानना ही ज्ञानगुण द्वारा आत्मा की साधना है।

'यही मैं हूँ' — इसप्रकार आत्मा को देखना ही श्रद्धागुण के द्वारा आत्मा की साधना है। ज्ञान ने आत्मा को जाना था, दर्शन ने आत्मा को देखा था; अब उस आत्मा को ही निरन्तर देखता रहे, जानता रहे — ऐसा देखे-जाने कि तृप्ति ही न मिले; इसे ही चारित्रगुण द्वारा आत्मा की साधना कहते हैं।

सौधर्म इन्द्र ने भगवान को देखा; तब सहस्र नेत्रा बनाकर देखा; लेकिन तब भी उनका मन तृप्त नहीं हुआ; ऐसे ही भगवान आत्मा को देखते रहें और तृप्ति ही न हो। यही चारित्रगुण के द्वारा आत्मा की आराधना करना है। यही साधकों की साधना है। और इस साधना का 'एक ही आधार है' अर्थात् आत्मा को देखते-जानते रहना यही साधकों की साधना का आधार है और कोई आधार नहीं है।

यहाँ आधार का अर्थ सहारा नहीं है, आधार का अर्थ सहयोग नहीं है। आत्मा किसी को सहारा नहीं देता और न ही उसे किसी के सहयोग की आवश्यकता होती है। यहाँ सहारे या सहयोग का अर्थ मात्र इतना ही है कि वह भगवान आत्मा ध्येय है, श्रद्धेय है और ज्ञेय भी है।

प्रश्न — जिस शुद्धात्मा की आप इतनी प्रशंसा कर रहे हैं, जिस शुद्धात्मा के इतने गीत गाए जा रहे हैं; वह शुद्धात्मा है कहाँ ?

उत्तर — अरे भाई ! वह शुद्धात्मा मैं ही हूँ, तू ही है; मेरे लिये मैं हूँ और तेरे लिये तू है।

मेरे अंदर आत्मा है — ऐसा कहकर हम गौरव का अनुभव करते हैं, इस पक्ष के प्ररूपक भजन भी मिलते हैं, उनमें यह कहा जाता है कि

मेरा नाथ तो मेरे ही अंदर बैठा है।

नाथ अंदर बैठा है तो फिर तू कौन है ? अरे भाई ! मैं ही नाथ हूँ। मैं ही शुद्धात्मा हूँ — ऐसा स्वीकार अंतर से आना चाहिए, जैसाकि मेरे द्वारा लिखित 'बारहभावना : एक अनुशीलन' नामक पुस्तक में संवर-भावना में काव्यरूप में कहा है —

मैं हूँ वही शुद्धात्मा चैतन्य का मार्तण्ड हूँ।

आनंद का रसकन्द हूँ मैं ज्ञान का घनपिण्ड हूँ।

मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ।

बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं, मैं स्वयं भगवान हूँ।

मैं ध्येय हूँ अर्थात् ध्यान योग्य पदार्थ यदि कोई है तो वह मैं ही हूँ; मैं श्रद्धेय हूँ अर्थात् यदि श्रद्धान करनेयोग्य कोई पदार्थ जगत में है तो वह मैं ही हूँ; मैं ज्ञेय हूँ अर्थात् यदि जाननेयोग्य कोई पदार्थ है तो वह मैं ही हूँ।

जाननेयोग्य और जानना इसमें बहुत अंतर है। जैसे हम लोक-व्यवहार में कहते हैं कि खाद्यपदार्थ तो बहुत हैं; लेकिन यह पदार्थ खानेयोग्य हैं, यहाँ खानेयोग्य का अर्थ यह है कि यह ऐसा पदार्थ है कि जिसके खाने में आनंद आएगा।

ऐसे ही यहाँ ध्यान करनेयोग्य का अर्थ यह है कि इसके ध्यान करने से अतीन्द्रिय आनंद की कणिका जग जायेगी।

मैं श्रद्धान हूँ मैं ध्यान हूँ — इसप्रकार नहीं कह सकते हैं; क्योंकि श्रद्धान पर्याय का नाम है, ध्यान पर्याय का नाम है और मैं तो पर्याय से पार ध्येय तत्त्व हूँ।

श्री निहालचंद सौगानी ने लिखा है कि मैं किसका ध्यान करूँ ? पर्याय को मेरा ध्यान करना हो तो करे, नहीं करना हो तो नहीं करे; जो पर्याय मेरा ध्यान करेगी, वह महान बनेगी; जो ध्यान नहीं करेगी, वह महान नहीं बनेगी। इससे मुझमें कुछ अंतर आनेवाला नहीं है। मैं ध्येय हूँ, श्रद्धेय हूँ; पर मैं श्रद्धान अथवा ध्यान नहीं हूँ। परन्तु मैं ज्ञान भी हूँ और ज्ञेय भी हूँ। ज्ञान अर्थात् ज्ञायक हूँ। ज्ञानगुण स्वपरप्रकाशक

है; अतः ज्ञाता भी मैं हूँ और ज्ञेय भी मैं ही हूँ। अधिक क्या कहें —

बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं, मैं स्वयं भगवान हूँ।

मैं ही मेरा भगवान हूँ। दूसरे भगवान नहीं हैं — ऐसी बात नहीं है; अपितु वे मेरे भगवान नहीं हैं, वे स्वयं के भगवान हैं। मैं ही भगवान हूँ — यह जानना—पहिचानना ही ज्ञान है, श्रद्धान है। इसे जानना ही सम्यग्ज्ञान है। मुझे जगत जाने तो ठीक ! नहीं जाने तो ठीक; परंतु इससे मुझमें कोई अंतर आनेवाला नहीं है।

जगत के संदर्भ में न जानने का निषेध है और न नहीं जानने का निषेध है। जगत के संदर्भ में जो होना है, वह हो; पर्याय की योग्यता के अनुसार जिस पर्याय में जिसको ज्ञेय बनाने की योग्यता होगी, वह यथासमय ज्ञेय बन जाएगा।

देखो भाई ! क्षपकश्रेणी में जब भगवान आत्मा का ध्यान होता है; तब अनिवार्यरूप से अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। आठवें गुणस्थान में भी कभी—कभी परपदार्थ ज्ञान के ज्ञेय बन जाते हैं; लेकिन उससे उसको कोई फर्क नहीं पड़ता है; क्योंकि पर में अपनापन नहीं होता है। वह पर को अपना नहीं जानता है, पर के लक्ष्य से उत्पन्न राग—द्वेष को अपना नहीं मानता है। पर को जानने के कारण उसका ज्ञान, श्रद्धान तो भंग होता ही नहीं है, ध्यान भी भंग नहीं होता है।

समयसार के मोक्षाधिकार में आचार्य जयसेन लिखते हैं कि आत्मानुभूति कथंचित् सविकल्प है, कथंचित् निर्विकल्प है।

बौद्ध ऐसा मानते हैं कि ज्ञान निर्विकल्प है; किन्तु वह विकल्प का जनक है और जैनदर्शन यह मानता है कि ज्ञान विकल्प का जनक नहीं; अपितु वह विकल्पात्मक ही है, विकल्प उसका स्वरूप है।

ज्ञान को सर्वथा निर्विकल्प माननेवाले जैन होते हुए भी प्रच्छन्न बौद्ध हैं; क्योंकि ज्ञान का स्वरूप ही विकल्पात्मक है, यह स्वभाव से ही विकल्पात्मक है, स्व—परप्रकाशक है।

पर को जानना आत्मा का विकार नहीं है, यह आत्मा का

स्वभाव है। फिर आचार्य यह कहते हैं कि — अनुभूति के काल में सूक्ष्म परज्ञेय आत्मा के ज्ञान में आते हैं एवं अनुभूति के काल में सूक्ष्म विकल्प भी चलते रहते हैं; अतः शुद्धोपयोग के काल में आत्मा दो कारण से सविकल्प है। एक स्वभाव से सविकल्प है एवं दूसरा सूक्ष्म विकल्प चलते रहते हैं; इसलिए सविकल्प है।

फिर ज्ञान को कथंचित् निर्विकल्प क्यों कहते हैं ? उसका उत्तर आचार्य देते हैं कि स्थूल विकल्प नहीं होते हैं, सूक्ष्म विकल्पों को गौण करके स्थूल विकल्प नहीं होते हैं; इसकी मुख्यता से उसे निर्विकल्प कहा जाता है, इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं।

जैसे सातवीं प्रतिमाधारी को ब्रह्मचारी कहा जाता है, वह पंचम—गुणस्थानवर्ती है और मैथुन संज्ञा तो नोवें गुणस्थान तक रहती है; फिर भी उसे ब्रह्मचारी कहा जाता है; इसका कारण यह है कि स्थूल ब्रह्मचर्य का जिससे घात होता है, उसका उसमें अभाव है अर्थात् स्त्री सेवन का त्याग है; अतः उसे ब्रह्मचारी कहा जाता है।

इसीतरह ज्ञान भी दो कारणों से सविकल्प है, एक स्वभाव से सविकल्प है एवं दूसरा सूक्ष्म विकल्प विद्यमान है; अतः सविकल्प है। अनुभूति के काल में स्थूल विकल्प नहीं होने से उसी ज्ञान को निर्विकल्प भी कहा जाता है।

कोई कहे कि ज्ञान है तो 'निर्विकल्प' और कहा जाता है 'सविकल्प'; पर ऐसा नहीं है। विकल्पात्मक उसका स्वरूप है; अतः यह निश्चय है एवं उनके होते हुए भी स्थूल विकल्प नहीं होते हैं; इसलिए निर्विकल्प कहा — यह उपचार है। यही भेदविज्ञान की मूलदृष्टि है।

पर जानने में आ रहा है; लेकिन उसे जानने का रस नहीं है और न उसे नहीं जानने का रस है। न उसे जानने का विरोध है और न ही उसे नहीं जानने का विरोध है; तो फिर क्या होगा ?

जो होगा सो होगा !

कोई यह पूछे कि उसकी लड़की की शादी है, उसमें आप जाओगे?

तब हम कहेंगे हमें न वहाँ जाने का विकल्प है और न नहीं जाने का विकल्प है। न जाने का तीव्र रस है और न नहीं जाने का तीव्र रस है। ऐसी कषाय भी नहीं है कि मैं जाऊँ या नहीं जाऊँ ? सौ-सौ लोग मनाएं और नहीं जाऊँ — ऐसा भी विकल्प नहीं है। ऐसी स्थिति में यही कहना होगा कि उस वक्त जो होगा उसे देख लेंगे, जान लेंगे।

लोकव्यवहार में यदि किसी से पूछा जाय की भाईसाहब ! आप उनकी शादी में जाओगे या नहीं ?

तब हम बोलते हैं कि — 'देखेंगे'।

इसका अर्थ यह होता है न पक्ष में कुछ निर्णय की स्थिति है और न ही विपक्ष में कोई विकल्प है। न ऐसा द्वेष है कि नहीं जाएं और न ऐसा तीव्र राग है कि जाएं; इसप्रकार का जो भाव होता है — इसे ही सहज उदासीनभाव कहते हैं।

ऐसे ही पर के प्रति मेरा सहज उदासीनभाव है। न जानने का विकल्प है और न नहीं जानने का विकल्प है। जानने में आ न जाएं — ऐसा भय भी नहीं है। जब आत्मा का ध्यान करने बैठे हैं; तब परद्रव्य जानने में न आ जाएं — ऐसी चिंता नहीं है। जानने में आ जाए तो उसे भी जान लेंगे। नेत्रों में कोई परद्रव्य घुस नहीं रहा है, जिसे हमें हटाना हो। आत्मा की तीव्र रुचि जहाँ हो; उपयोग स्वयमेव वहाँ चला जाता है।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि यह तो सहज का धंधा है। उपयोग को किसी से हटाना नहीं है। उपयोग को सहज छोड़ दो। इसे जहाँ जाना है, वहाँ जाने दीजिए, चिन्ता मत कीजिए। वह जहाँ भी जाएगा वापिस लौटकर आत्मा में ही आनेवाला है। यदि आत्मा में वीतरागभाव विद्यमान है तो इसे पर को जानने से भी कुछ हानि होनेवाली नहीं है। जबरन उपयोग को हटाने या लगाने से कोई प्रयोजन सधनेवाला नहीं है।

मुझे स्वयं को जानने का रस है। पर को जानने का विकल्प हो तो हो एवं न हो तो न हो। 'पर जानने में न आ जाय' — ऐसे

विकल्प में यदि हम रहेंगे तो पर ही वहाँ मुख्य रहा; वहाँ निज कहाँ मुख्य रहा। जब यह निज को जानेगा, तब स्वयमेव ही पर जानने में नहीं आएगा।

121

पुनः—पुनः यदि वह इसी बात पर वजन डालेगा कि मुझे पर को नहीं जानना है तो इसे पर ही मुख्य रहेगा। जितना यह पर को नहीं जानने का विकल्प करेगा; उतना वह पर में ही उलझेगा। अतः न पर को जानने का विकल्प करो; न ही नहीं जानने का। जो हो रहा है, उसे सहजभाव से हो जाने दो।

यह जानना पहिचानना ही ज्ञान है श्रद्धान है।

केवल स्वयं की साधना आराधना ही ध्यान है।।

यह ज्ञान यह श्रद्धान बस यह साधना आराधना।

बस यही संवरतत्त्व है, बस यही संवरभावना।।

इस सत्य को पहिचानते वे ही विवेकी धन्य हैं।

ध्रुवधाम के आराधकों की बात ही कुछ अन्य है।।

वस्तुस्वरूप की दृष्टि से यह संवरतत्त्व है और यही चिंतन का विषय बने तो संवरभावना है।

भेदविज्ञान के इस संवराधिकार की यह चरम सीमा है।

ऐसा भेदविज्ञान पहले गुरु के मुख से सुनकर और जिनवाणी को पढ़कर होता है।

इससे आगे बढ़कर जब ऐसा निर्णय होता है कि 'यह आत्मा मैं ही हूँ' तब और अधिक रुचि के जोर से उपयोग पर से हटकर त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में चला जाता है। यह रुचि का जोर ही प्रायोग्य-लब्धि है।

जब उपयोग तेजी से अन्तर्मुख हो जाता है; तब करणलब्धि प्रगट होती है एवं इसके पश्चात् आत्मा का अनुभव हो जाता है। तब संवर की उत्पत्ति हो जाती है।

क्या यहीं पर भेदविज्ञान का प्रकरण पूर्ण हो जाता है ?

नहीं, यहाँ से तो भेदविज्ञान का वास्तविक प्रकरण प्रारम्भ होता है। यह भेदविज्ञान मिथ्यात्व के नाश के लिए था; अब चारित्रामोह के उदय से जो कषाय विद्यमान है, उसके नाश के लिए भेदविज्ञान का प्रारम्भ होता है। पर तो पर है ही, द्रव्यकर्म भी भिन्न ही है; अब यह आत्मा भावकर्म के नाश के लिए बारम्बार स्वशक्ति को स्पर्श करता है।

इस अर्थ को प्रगट करनेवाले कलश का पद्यानुवाद कुण्डलिया के रूप में इसप्रकार है —

स्वयं सहज परिणाम से कर दीना परित्याग।

सम्यग्ज्ञानी जीव ने बुद्धिपूर्वक राग॥

बुद्धिपूर्वक राग त्याग दीना है जिसने।

और अबुद्धिक राग त्याग करने को जिसने॥

निजशक्तिस्पर्श प्राप्त कर पूर्णभाव को।

रहे निरास्रव सदा उखाड़े परपरिणति को॥

अबुद्धिपूर्वक राग के नाश के लिए पुनः—पुनः निजशक्ति का स्पर्श करता है। स्पर्श करता है अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय बनाता है। यह आत्मा श्रद्धा का श्रद्धेय तो बना हुआ ही है, पुनः—पुनः ध्यान का ध्येय बनता है। निरन्तर होनेवाली इसप्रकार की प्रक्रिया से अबुद्धिपूर्वक राग भी नष्ट होता है, इससे अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्याना-वरण कषायें जड़मूल से नष्ट होती हैं।

भेदविज्ञान की प्रबल भावना से ही यह संभव होता है। जैसे—जैसे भेदविज्ञान की भावना प्रबल से प्रबलतम होती जाती है; वैसे—वैसे प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण और संज्वलन का नाश होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

भेदविज्ञान की भावना अंत तक मुख्य रहती है। निरन्तर एक ही भावना भानी है कि पर से भिन्न, पर्यायों से पार, गुणभेद से भिन्न — ऐसा जो भगवान आत्मा है — वह ही मैं हूँ, मेरा सर्वस्व वही है, अन्य कुछ मेरा नहीं है, यही श्रद्धान करने योग्य है — ऐसा मानना—जानना ही संवरतत्त्व है। ●

सोलहवाँ प्रवचन

122

संवराधिकार में भेदविज्ञान का स्वरूप एवं उसकी महिमा विस्तार से बताई गई है। अब निर्जरा अधिकार आरम्भ करते हैं। निर्जरा किसप्रकार होती है एवं निर्जरा का क्या स्वरूप है ? यह बात सभी ने जिनागम से अच्छी तरह समझ रखी है — ऐसा मानकर यहाँ आचार्यदेव निर्जरा अधिकार आरम्भ करते हैं। इसलिए समयसार के निर्जरा-धिकार को समझने के पूर्व निर्जरा का सामान्य स्वरूप समझना अत्यंत आवश्यक है।

निर्जरा दो प्रकार की होती है — द्रव्यनिर्जरा एवं भावनिर्जरा। स्वयं के रागभाव के कारण पूर्व में बंधे हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का उदय में आकर खिरना अथवा उदीरणा होकर खिरना अर्थात् उनका आत्मा से संबंध का अभाव होना, बंधन का अभाव होना ही द्रव्यनिर्जरा है। जिन शुद्धोपयोगरूप परिणामों से, निर्मल परिणति से द्रव्यनिर्जरा होती है; उसे ही भावनिर्जरा कहते हैं।

इस भावनिर्जरा का प्रतिपादन भी दो प्रकार से होता है, एक अस्ति से एवं दूसरा नास्ति से। शुद्धभावों का निरन्तर वृद्धिगत होना यह अस्ति से भावनिर्जरा है एवं अशुद्ध भावों का क्रमशः कम होते जाना; यह नास्ति से भावनिर्जरा है।

संवरपूर्वक निर्जरा होती है। नये कर्मों के आने का रुकना द्रव्यसंवर है एवं अशुद्धभावों का रुकना एवं शुद्धभावों का होना भावसंवर है। भावसंवर में जो शुद्धि प्रगट हुई, उसी शुद्धि की निरन्तर वृद्धि होना ही निर्जरा है। ज्यों—ज्यों शुद्धि बढ़ती जाएगी और अशुद्धि की हानि होती जाएगी तो एक समय ऐसा आएगा जब पूर्ण शुद्धता प्राप्त होगी एवं अशुद्धि की हानि पूर्ण हो जाएगी। बस यही मोक्ष है।

पूर्ण शुद्धता अर्थात् सर्व कर्मों से मुक्त होना ही मोक्ष है। सर्व कर्मों से मुक्त हो जाना; द्रव्यमोक्ष है एवं शुद्धता का पूर्णतः प्रगट हो जाना

भावमोक्ष है। निर्जरा भावमोक्ष एवं संवर के मध्य की स्थिति है। इसतरह यह निर्जरा का सामान्य स्वरूप हुआ।

कौन से कर्म की, किन भावों से, किस गुणस्थान में कितनी—क्या निर्जरा होती है; इसका विस्तार से वर्णन करणानुयोग के शास्त्रों में मिलेगा।

समयसार के निर्जराधिकार का तो आरम्भ ही यहाँ से होता है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के भोगों के संयोग होने पर भी निर्जरा होती है।

यहाँ सम्पूर्ण कथन चतुर्थ—पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टियों की दृष्टि से है। चतुर्थ—पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की कैसी परिणति होती है; इसी का विस्तार इस अधिकार में है।

यद्यपि सिद्ध भगवान भी सम्यग्दृष्टि हैं; लेकिन यहाँ उनकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि उनके निर्जरा है ही नहीं, उनको तो मोक्ष ही हो गया है।

निर्जरा अर्थात् खिरना; खिरने के लिए उनके पास कुछ कर्म हैं ही नहीं; अतः उनको निर्जरा भी नहीं है। उनके कुछ अशुद्धता रही ही नहीं, उनके तो पूर्ण शुद्धता प्रगट हो गई है; अतः उनके भावनिर्जरा भी नहीं है। वे सम्यग्दृष्टि हैं, ज्ञानवंत हैं; तथापि उन्हें यहाँ नहीं लेना है।

निर्जराधिकार का मुख्य प्रतिपाद्य बिन्दु सम्यग्दृष्टि के भोगों के विद्यमान होने पर भी निर्जरा होती है — यह समझाना है।

ग्यानवंत कौ भोग निरजरा हेतु है।

अज्ञानी कौ भोग बंध फल देतु है॥

यह अचरज की बात हिए नहि आवही।

पूछै कोऊ सिष्य गुरु समझावही॥

नाटक समयसार में समागत उक्त छन्द में शिष्य के प्रश्न के माध्यम से निर्जराधिकार की विषयवस्तु की ओर संकेत किया गया है।

शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव ! आप कहते हैं ज्ञानवंत के भोग निर्जरा के हेतु हैं; किन्तु ज्ञानवंत तो केवली, सिद्ध भगवान भी हैं;

उनके भोग निर्जरा के कारण हैं — यह कैसे हो सकता है; क्योंकि उनके तो भोग विद्यमान ही नहीं है। मुनिराज के भी भोग नहीं है; उनके आहार, विहारादिक की जो क्रियाएँ पाई जाती है; उन्हें भी जगत में भोग नहीं कहा जाता है; अतः छठवें—सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के भी भोग विद्यमान नहीं है। अब चतुर्थ—पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक ही शेष हैं और उनके भोग भी विद्यमान हैं। अतः जहाँ जितने भोग हैं, वहाँ उतना कर्मबंध होना चाहिए।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती ज्ञानवंत के भोग निर्जरा हेतु हैं एवं अज्ञानी के वही भोग कर्मबंध के हेतु हैं — यह आश्चर्य की बात है।

यद्यपि शिष्य यहाँ कहना तो यह चाहता है कि ऐसे पक्षपात की बात हमारे समझ में नहीं आती है; तथापि मात्रा आश्चर्य की बात कहकर ही अपने मन को संतोष कर लेता है। आगम का कथन है; इसलिए 'असत्य है' — ऐसा तो कह नहीं सकते; फिर भी आश्चर्य होता है — ऐसा कहकर शिष्य अपना भाव प्रगट कर देता है।

शिष्य कहता है कि आप तो आचार्य हैं, महान हैं; अतः आप जो कहो सो कहो; लेकिन मेरे हृदय में यह बात नहीं बैठ रही है; आश्चर्य व्यक्त करने के अतिरिक्त मैं कर भी क्या सकता हूँ? इसप्रकार आश्चर्य शब्द के माध्यम से शिष्य अपने अंतर का तीव्र असंतोष प्रगट करता है।

इस शंका के समाधान में ही निर्जराधिकार लिखा गया है।

यद्यपि पहली गाथा के शीर्षक में आचार्यदेव 'अब द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं' ऐसा लिखते हैं; तथापि गाथा में जो बात आई है; वह एकदम अलग है, अद्भुत है।

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।

जं कृणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥१९३॥

(हरिगीत)

चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग सम्यग्दृष्टि जन।

जो इन्द्रियों से करें वह सब निर्जरा का हेतु है॥१९३॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा चेतन-अचेतन द्रव्यों का जो भी उपभोग करता है, वह सभी निर्जरा का निमित्त है।

इसमें चेतन द्रव्यों में स्त्री आदि और अचेतन द्रव्यों में मकान आदि का भोग-उपभोग समाहित करना। इसप्रकार जो सम्यग्दृष्टि भोग भोगते हैं; वे सब भोग उसके द्रव्यकर्म खिरने में निमित्त होते हैं; यही द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप है।

‘अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते’ इस शीर्षक पूर्वक आचार्य अगली गाथा लिखते हैं –

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि।।194।।
(हरिगीत)

सुख-दुख नियम से हों सदा परद्रव्य के उपभोग से।
अर भोगने के बाद सुख-दुख निर्जरा को प्राप्त हों।।१९४।।

परद्रव्य के उपभोग होने पर सुख अथवा दुःख नियम से उत्पन्न होता है। उदय को प्राप्त उन सुख-दुःखों का अनुभव होने के बाद वे सुख-दुःख निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

द्रव्यकर्म के उदय से ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को नियम से लौकिक सुख-दुःख होता है। साता वेदनीय का उदय हो तो अनुकूलता का वेदन होता है और असाता वेदनीय का उदय हो तो प्रतिकूलता का वेदन होता है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को एक जैसा ही वेदन होता है; पाप के उदय में प्रतिकूलता का वेदन मिथ्यादृष्टि को भी होगा एवं सम्यग्दृष्टि को भी होगा। पुण्य के उदय में अनुकूलता का वेदन सम्यग्दृष्टि को और मिथ्यादृष्टि को समान होगा। यदि अपशब्द कहेंगे तो सम्यग्दृष्टि को भी बुरा लगेगा एवं मिथ्यादृष्टि को भी; यदि प्रशंसा करेंगे तो दोनों को अच्छा लगेगा। दोनों को निंदा में दुःख एवं प्रशंसा में सुख होगा।

दोनों को सुख-दुःख होगा एवं उदय के अनुसार संयोग आएंगे एवं अपने समय पर चले जाएंगे। हमें पुत्रावियोग या पत्नीवियोग हो जाता है तो क्या हम जीवनभर दुःख मनाते हैं? हमारा दुःख धीरे-धीरे कुछ काल पश्चात् कम हो जाता है। जो सुख-दुःख होता, वह अनिवार्य रूप से समय पर समाप्त भी हो जाता है; उसकी अपनी कालमर्यादा है। आचार्य कहते हैं कि वे सुख-दुःख अपनी कालमर्यादा खत्म होते ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

हम कहते भी हैं कि इसे अच्छी तरह से रो लेने दो, हृदय हल्का हो जाएगा; क्योंकि वह दुःख निकल जाएगा, यदि दुःख नहीं निकला तो परेशान करेगा।

ऐसे ही यहाँ आचार्य कहते हैं कि सुख-दुःख वेदन के बाद स्वयमेव ही झर जाएगा – यही भावनिर्जरा है।

भोगने के पश्चात् सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के कर्म खिर जाएंगे। इस अर्थ में सम्यग्दृष्टि के द्रव्यनिर्जरा भी होती है।

यदि ऐसा है तो, मिथ्यादृष्टि को भी निर्जरा होती है – ऐसा कहना चाहिए। मात्रा सम्यग्दृष्टि को ही निर्जरा होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं – ऐसा क्यों है ?

इसका समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टि के जितने कर्म खिरते हैं, कम से कम उतने ही कर्म पुनः बंध जाते हैं; लेकिन सम्यग्दृष्टि को कर्म नहीं बंधते हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि को निर्जरा है एवं मिथ्यादृष्टि को निर्जरा नहीं है।

ऐसे ही आस्रव के संबंध में आस्रवाधिकार में कहा गया है। वहाँ यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता, आस्रव नहीं होता; परंतु मिथ्यादृष्टि के आस्रव-बंध होता है। निर्जराधिकार में भी यही कह रहे हैं।

आस्रवाधिकार जैसी ही विषवस्तु निर्जराधिकार में है; लेकिन यहाँ सबसे बड़ा अंतर यह है कि आस्रवाधिकार में विषवस्तु की

नकारात्मक प्रस्तुति थी; जबकि निर्जराधिकार में विषयवस्तु की सकारात्मक प्रस्तुति है। वहाँ कर्म का आस्रव नहीं होता, बंध नहीं होता; इसके संदर्भ में कथन था। जबकि यहाँ कर्म के खिरने की बात है।

मिथ्यादृष्टि के जितने कर्म खिरते हैं। उतने ही पुनः बंधते हैं; अतः मिथ्यादृष्टि के उन कर्मों का खिरना व्यर्थ ही रहा।

किसी चीज को आपने एक हजार रुपये में खरीदी और पन्द्रह सौ रुपये में बेच दी। अब जो 500 रु. लाभ हुआ, वह मजदूरी एवं ब्याज में ही खर्च हो गये तो क्या इसे कोई लाभ मानेगा। कथन में तो 500 रु. लाभ हुआ; लेकिन वस्तुतः कुछ भी लाभ नहीं हुआ है।

ऐसे ही मिथ्यादृष्टि के जितने कर्म खिरे, उतने ही कर्म बंध गए। अतः उन कर्मों का खिरना वस्तुतः कुछ लाभप्रद रहा ही नहीं।

सम्यग्दृष्टि के जितने कर्म खिरे, उतने बंधे नहीं। ये जितने और उतने का हिसाब प्रदेशबंध से नहीं जोड़ना चाहिए; क्योंकि प्रदेशबंध का यह नियम है कि एक समयप्रबद्ध प्रमाण कर्म प्रति समय खिरते हैं और एक समयप्रबद्ध प्रमाण ही बंधते हैं। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के ही ऐसा होता है।

प्रदेशों की संख्या कम बंधे या अधिक बंधे — इससे कोई अंतर आनेवाला नहीं है। आचार्य तो उन मिथ्यात्वादि अत्यन्त खतरनाक कर्मों के बंध का निषेध कर रहे हैं। अनन्त संसार की कारणभूत मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि प्रकृतियाँ नहीं बंधी और सत्ता में हों तो खिर गईं। वह भोगने का भाव एवं कर्म का उदय जो भोगने के भाव में निमित्त था — दोनों ही खिर गये; इसतरह द्रव्यनिर्जरा एवं भावनिर्जरा दोनों हुईं। इसे ही आचार्य द्रव्यनिर्जरा एवं भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं।

भोगों को भोगते हुए भी ज्ञानी को कर्मबंध नहीं होता — इसका कारण बताते हुए आचार्य कहते हैं —

125

(अनुष्टुप)

तज्ज्ञानस्यैवसामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।

यत्कोऽपिकर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥134 ॥

(हरिगीत)

ज्ञानी बंधे ना कर्म से सब कर्म करते भोगते।

यह ज्ञान की सामर्थ्य अर वैराग्य का बल जानिये ॥134 ॥

यह एकमात्रा ज्ञान और वैराग्य का ही सामर्थ्य है कि ज्ञानी कर्मों को करते हुए और उनके फल को भोगते हुए भी कर्मों से बंधता नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य के कारण ही उन्हें भोग भोगते हुए भी कर्मों का बंध नहीं होता, निर्जरा होती है।

ज्ञान की सामर्थ्य और वैराग्य के बल को सोदाहरण समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं ही लिखते हैं —

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।

पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥195 ॥

जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।

दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥196 ॥

(हरिगीत)

ज्यों वैद्यजन मरते नहीं है जहर के उपभोग से।

त्यों ज्ञानिजन बंधते नहीं है कर्म के उपभोग से ॥195 ॥

ज्यों अरुचिपूर्वक मद्य पीकर मत्तजन होते नहीं।

त्यों अरुचि से उपभोग करते ज्ञानिजन बंधते नहीं ॥196 ॥

आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार वैद्य पुरुष विष को खाते हुए भी मरता नहीं है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा भोगों को भोगते हुए भी बंधता नहीं है एवं जिसप्रकार अरतिभाव से शराब पीनेवाले को नशा नहीं चढ़ता है; उसीप्रकार वैराग्यभाव से भोग भोगनेवाले को बंध नहीं होता है, निर्जरा होती है।

यदि मैं अपनी तरफ से यह कहूँ कि वैद्य जहर खाए और मरे नहीं तथा कोई शराब पिये और नशा चढ़े नहीं, तब क्या इसे कोई स्वीकार करेगा ? इसीप्रकार 'वैद्य जहर खाने से मरते नहीं हैं' — ऐसा समयसार में लिखा है, इस आधार पर क्या कोई जहर खाने के लिए तैयार होगा ?

यद्यपि वैद्य के जहर खाने और अरतिभाव से शराब पीने के ये दोनों उदाहरण असंगत प्रतीत होते हैं; तथापि वे असंगत नहीं हैं; क्योंकि जहर खाने का आशय जहर से बनी हुई दवाईयाँ लेने से है और दवा के रूप में ही शराब पीने की बात है।

बच्चों के पेट में कीड़े हो जाते हैं; तो माताएँ बाजार से कीड़े मारने की दवा लाती हैं। कीड़े मारने की दवा भी तो जहर ही है। बहुत-सी दवाईयाँ संखिया से, साँप के जहर से बनती है; लेकिन उनसे बीमारियाँ ठीक होती हैं, कोई मरता नहीं है।

संस्कृत व्याकरण में विद् धातु का ज्ञान अर्थ में प्रयोग होता है अर्थात् जो वैद्य अर्थात् जानकार है, वह बहुत समझदारी पूर्वक शरीर को नुकसान नहीं हो और कीटाणुओं से उत्पन्न बीमारियाँ नष्ट हो जायें— ऐसी दवाईयाँ देता है। इसलिए वैद्य खाये तो वैद्य नहीं मरे और वैद्य जिसको दे वह भी नहीं मरे, 'वैद्य जहर खाए और मरे नहीं' इस पंक्ति का यही आशय है।

आत्मख्याति टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने 'अमोघ विद्या' शब्द का प्रयोग किया है। अमोघ विद्या के सामर्थ्य से वैद्य के पास ऐसी विद्या है कि जहर आपको मार नहीं पाये और बीमारी को मार दे। इसका अर्थ यह है कि उसे जहर दिया तो जाता है; लेकिन वह बहुत ही उचित मात्रा में, समय पर एवं विधिपूर्वक दिया जाता है। ऐसे ही ज्ञानी यदि उपभोग भी करते हैं तो वे समझपूर्वक भूमिका अनुसार ही करते हैं।

यहाँ यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि यहाँ किन भोगों को समाविष्ट किया गया है ?

पहले तो, जिस गुणस्थान में वह ज्ञानी है, उस गुणस्थान की

126

भूमिका में जो भोग सम्भव है; वे ही यहाँ समाविष्ट हैं। दूसरे, वे भी सीमित मर्यादा में हैं। तीसरे, जैसे वैद्य बीमारी को रोकने के लिए विधिपूर्वक जहर खाता है; लेकिन वह जहर अरुचिपूर्वक खाता है; उसीप्रकार बनारसीदासजी ने ज्ञानी के संदर्भ में लिखा है कि ज्ञानी उदयवश भोग भोग रहा है।

इसप्रकार अमृतचन्द्राचार्य ने 'अमोघ विद्या के बल से वैद्य जहर खाता है' — इस बात को समझाया है।

दूसरा असंगत प्रतीत होनेवाला उदाहरण है शराब पीने का। लोगों को ऐसा कहते हुए सुना गया है कि 'मुझे नशा चढ़े' इस भावना से जो शराब पीते हैं, उन्हें नशा अधिक चढ़ता है; लेकिन 'मुझे नशा नहीं चढ़े, डॉक्टर ने दवाई के रूप में दिया है, इसलिए पीना है।' इसप्रकार जो व्यक्ति नशा नहीं चाहते हैं, उन्हें नशा कम चढ़ता है। फिर भी ऐसा कदापि नहीं माना जा सकता कि कोई अरतिभाव से शराब पिए और उसे नशा चढ़े ही नहीं, उसपर शराब का असर हो ही नहीं। इसप्रकार का विकल्प लोगों को बना ही रहता है।

अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति टीका में मात्रा 'अरुचिभाव से' यही तर्क दिया; परन्तु जयसेनाचार्य को यह तर्क पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं कर सका। तब उन्होंने अपनी लिखी टीका में इसे और अधिक विस्तार से विश्लेषित किया।

जयसेनाचार्य ने लिखा कि उस शराब में ऐसी दवाई मिलाकर पीते हैं कि जिससे नशा चढ़े नहीं। नशा निरोधक दवाई मिलाकर शराब पीते हैं तो उन्हें नशा नहीं चढ़ता है।

कर्मोदय के वश भोग भोगनेवाले वैरागियों को उनका वैराग्य बंध निरोधक दवा के स्थान पर है।

इसप्रकार स्वयं आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'ज्ञान की सामर्थ्य और वैराग्य के बल से' इस बात को समझाने के लिए पृथक्-पृथक् उदाहरण दिए हैं। इन उदाहरणों के माध्यम से यह सहज ही स्पष्ट हो गया है

कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को भोग भोगते हुए भी ज्ञान की सामर्थ्य और वैराग्य के बल के कारण बंध नहीं होता है; अपितु निर्जरा ही होती है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने करणानुयोग की दृष्टि से इस विषय का विस्तार से विश्लेषण नहीं किया है; तथापि करणानुयोग के शास्त्रों के अनुसार इस विषय का संक्षिप्त स्पष्टीकरण इसप्रकार है।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के मिथ्यात्वादि 41 प्रकृतियाँ नहीं बंधतीं। यदि क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है तो सत्ता में पड़ी हुई मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी आदि सर्वघाति प्रकृतियाँ देशघाति होकर उदय में आ-आ कर चल, मल, अगाढ दोष उत्पन्न कर खिर जायेंगी और उक्त प्रकृतियों का नया बंध नहीं होगा।

वस्तुतः बात यह है कि जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की बंधव्युच्छृति हो जाती है; वे आगे के गुणस्थानों में नहीं बंधतीं हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वादि अत्यन्त खतरनाक 41 प्रकृतियाँ तो बंधती ही नहीं हैं; शेष जो प्रकृतियाँ बंधती हैं; वे उनकी तुलना में नगण्य ही हैं। अतः उनकी उपेक्षा करके, उन्हें गौण करके ही यह कथन किया गया है।

फिर कोई पूछता है कि हम यह कैसे मान सकते हैं कि ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी असेवक है ? इसका समाधान आचार्य इस गाथा के माध्यम से व्यक्त करते हैं —

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई।

पगरणचेट्टा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि ॥१९७॥

(हरिगीत)

ज्यों प्रकरणगत चेष्टा करें पर प्राकरणिक नहीं बनें।

त्यों ज्ञानिजन सेवन करें पर विषय के सेवक नहीं ॥१९७॥

जिसप्रकार किसी व्यक्ति के किसी प्रकरण की चेष्टा होने पर भी वह प्राकरणिक नहीं होता और चेष्टा से रहित व्यक्ति प्राकरणिक होता

है; उसीप्रकार कोई व्यक्ति विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवक नहीं होता है और कोई व्यक्ति सेवन नहीं करता हुआ भी सेवक होता है।

यद्यपि खान-पान आदिक की क्रियाएँ करते हुए दिखता है; फिर भी उन क्रियाओं का सेवन नहीं कर रहा है — यह समझ में नहीं आता है।

माता बालक को पीट रही है; लेकिन फिर भी वह नहीं पीट रही है — यह कैसे समझ में आये ? इसकी विडियो फिल्म भी बनाकर दिखा सकते हैं। वह भोग का सेवन कर रहा है, उसकी फिल्म बनाकर भी दिखा सकते हैं; फिर भी तुम कहते हो कि वह भोगों का सेवन नहीं कर रहा है।

अरे भाई ! आचार्य यहाँ यह कह रहे हैं कि द्रव्यलिंगी मुनि पाँच इन्द्रियों के भोगों का सेवन नहीं कर रहे हैं; फिर भी वे पाँच इन्द्रियों के भोगों के सेवनकर्ता हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पाँच इन्द्रियों के भोगों का सेवन कर रहा है, फिर भी वह उनका सेवनकर्ता नहीं है। वह प्रकरण की चेष्टा में लगा हुआ है, फिर भी वह प्राकरणिक नहीं होता है।

‘प्रकरण की चेष्टा में लगा हुआ है फिर भी प्राकरणिक नहीं होता है’ — इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं —

लड़की का पिता आराम से गद्दी पर बैठता है। उसके मित्रा उससे कहते हैं कि भाईसाहब ! आप तो यहीं विराजो; क्योंकि बार-बार लोग आपसे मिलने आयेंगे तो वे आपको कहाँ-कहाँ ढूँढ़ेंगे और यदि हमें आपसे कोई काम हो तो भी हम आपको कहाँ ढूँढ़ेंगे ? आपने हमें जो काम सौंपा है, उसके बारे में आप नहीं हों तो हम पूछेंगे किससे ? आप तो यहाँ टेलीफोन के पास गद्दी पर बैठिए। आप मात्रा आदेश दीजिए, हम सब काम करनेवाले हैं।

अब उसके मित्रा काम कर रहे हैं; परन्तु शादी के काम करने का कर्त्ता कौन है ? उसके लाभ-हानि का जिम्मेदार कौन है ? उसके बंध, निर्जरा का जिम्मेदार कौन है ?

उक्त प्रकरण में जो कुछ नहीं कर रहा है, वह उसका कर्ता है, वह उसे अपना कार्य मानता है। वह कहता है कि मेरी बेटी की शादी है, यह मेरा कार्य है — इसे ही प्राकराणिक कहते हैं। जो प्रकरण से संबंधित व्यक्ति है, वही इसका प्राकराणिक है। उसे ही बंध होगा; उसे ही लाभ—हानि होगी। जो इस प्रकरण की चेष्टा में लगे हुए हैं; उन्हें कोई बंध होनेवाला नहीं है, लाभ—हानि होनेवाली नहीं है।

ऐसे ही वे भोग का सेवन करनेवाले सम्यग्दृष्टि कर्म के उदय से प्रकरण की चेष्टा में लग रहे हैं; परन्तु वह प्राकराणिक नहीं है; अपितु वह द्रव्यलिंगी प्राकराणिक है, जो भोगों से कोसो दूर हैं। वे द्रव्यलिंगी कुछ नहीं करते हैं; लेकिन उनकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है, अतः वे प्राकराणिक हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भोग का सेवन करते हुए भी असेवक ही हैं अर्थात् वे उसमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व नहीं रखते हैं; अतः असेवक ही हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञानी सेवन करता ही नहीं है। वह सेवन करता दिखाई देता है; लेकिन वह सेवन नहीं करता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि में नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है; लेकिन वह हमें दिखाई नहीं देती है।

जब मैं अशोकनगर में था; तब वहाँ एक मेरे मित्रा मेरे प्रवचन के प्रतिदिन के श्रोता थे। जब भी प्रवचन में कोई नई बात आती थी तो उनका बंधा हुआ एक स्थायी प्रश्न रहता था कि — 'हमने तो ये शास्त्रा में कहीं देखा ही नहीं है।' तब मैं भी सदा एक ही उत्तर देता था कि आपने अभी तक शास्त्रा देखे ही कितने हैं? आपने शास्त्राओं में यह बात नहीं देखी तो इसमें शास्त्राओं का क्या दोष है? लो, अब हम तुम्हें शास्त्रा दिखा रहे हैं न!

जिनवाणी में है; लेकिन हमने देखा नहीं, हमने सुना नहीं है; यह गलती किसकी है? हमारी; लेकिन हमारा 'स्वर' ऐसा होता है कि

128

हमारी तो कोई गलती नहीं है और सारी गलती या तो शास्त्रा लिखनेवालों की है या शास्त्रा सुनानेवालों की।

अरे भाई ! तुमने नहीं सुना, यह तो तुम्हारे दिमाग या कानों का दोष है, तुमने नहीं पढ़ा यह भी तुम्हारा ही दोष है, वस्तु के स्वरूप में तो कोई दोष है नहीं।

तब यदि कोई प्रश्न करे कि हमने तो बहुत से सम्यग्दृष्टि देखे हैं, जिनमें वैराग्य और ज्ञान था ही नहीं। तब आचार्य कहते हैं कि या तो वे सम्यग्दृष्टि नहीं होंगे या तुम्हें सम्यग्दर्शन की पहचान नहीं है। जो सम्यग्दृष्टि होंगे, उनमें अनिवार्यरूप से ज्ञान और वैराग्य होता ही है और फिर भी यदि तुम्हें दिखाई नहीं देता है तो यह तुम्हारा ही दोष है।

अब सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवों की स्थिति कैसी होती है — इसकी चर्चा अगले प्रकरण में होगी। ●

एकनाम आत्मानुभूति है

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यान रूप चारित्रा के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्रा निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्रा है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसी समय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है, सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलकर एकनाम आत्मानुभूति है।

— आत्मा ही है शरण, पृष्ठ—221

सत्रहवाँ प्रवचन

समयसार परमागम में निर्जराधिकार का प्रकरण चल रहा है। पूर्व में यह कहा था कि जो द्रव्यकर्म बंधे थे, उनका उदय में आकर या उदीरणा होकर खिर जाना द्रव्यनिर्जरा है एवं आत्मा के अंतर में जो अशुद्धि है, उसका कम होना एवं शुद्धि की वृद्धि होना भावनिर्जरा है।

इसके सामान्य विश्लेषण के पश्चात् यह कहा गया था कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को भोगों के संयोग में भी निर्जरा होती है एवं अज्ञानी जीव कितने ही व्रत-तप करे, पर उसके निर्जरा नहीं होती।

इससे यह सिद्ध होता है कि बाह्य क्रियाकाण्ड जिसे हम तप-त्याग का नाम देते हैं, उससे निर्जरा नहीं होती है; क्योंकि वह तो स्पष्टरूप से परद्रव्य की क्रिया है। इसके साथ जो भी भाव होंगे, वे परद्रव्य के लक्ष्य से ही होंगे एवं परद्रव्य के लक्ष्य से जो भी भाव होंगे वे या तो शुभ होंगे या अशुभ।

यह तो सभी जानते हैं कि अशुभभाव से पापबंध होता है; अतः निर्जरा नहीं होती है। शुभभाव से पुण्यबंध होता है; अतः उससे भी निर्जरा संभव नहीं है।

ज्ञानी के निज भगवान आत्मा का आश्रय है; अतः जितनी कर्म प्रकृतियों का आस्रव और बंध रुक गया है; यदि वे प्रकृतियाँ, सत्ता में हों तो भी किसी न किसी प्रकार से काल पाकर उदय में आकर खिर जानेवाली हैं। अतः ज्ञानी के नवीन बंध नहीं होता है; इसलिए उसे निर्जरा होती है।

कर्म के झरने की क्रिया का नाम निर्जरा है और वह ज्ञानी-अज्ञानी सभी के होती है; उक्त संदर्भ में छहढाला की यह पंक्ति उल्लेखनीय है—

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।

अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्म खिर जाते हैं, यह निर्जरा तो है; लेकिन इससे जीव का कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता है — ऐसा तो अनादिकाल से हो रहा है।

129

यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी के पूर्व में बंधे हुए कर्म प्रतिसमय उदय में आ रहे हैं, खिर रहे हैं एवं नए बंधते नहीं हैं; इसलिए उसे निर्जरा कहते हैं, ऐसी निर्जरा चतुर्थगुणस्थान से ही विद्यमान है। तत्त्वार्थसूत्रा के नौवें अध्याय में कहा है कि —

‘सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशम कोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।

सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत मुनी, अनन्तानु-बन्धी का विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोह का क्षय करनेवाला, उपशम-श्रेणी माँडनेवाला, उपशांतमोह, क्षपकश्रेणी माँडनेवाला, क्षीणमोह और जिन — इन सबके (अंतर्मुहूर्तपर्यन्त परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयुकर्म को छोड़कर) प्रतिसमय क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।’

यहाँ ऐसा तो नहीं लिखा है कि जब शुद्धोपयोग होगा, तब निर्जरा होगी; इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के निर्जरा प्रतिसमय है, निरंतर विद्यमान है।

ज्ञानी के ज्ञान का सामर्थ्य और वैराग्य का बल ही है कि जिसके कारण ज्ञानी के निरन्तर निर्जरा विद्यमान है।

बंधे न ज्ञानी कर्म से बल विराग अर ज्ञान।

यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान ॥135॥

दो उदाहरणों के माध्यम से आचार्य ने ‘ज्ञान की सामर्थ्य और वैराग्य के बल’ को समझाया है। जिसप्रकार वैद्य जहर खाकर भी मरता नहीं है; उसीप्रकार ज्ञानी भी ज्ञान के सामर्थ्य के कारण भोग भोगते हुए भी बंध को प्राप्त नहीं होता है।

जिसप्रकार शराब पीनेवाला यदि अरुचि भाव से शराब पीता है तो उसे शराब नहीं चढ़ती है; ऐसे ही वैराग्य का बल जिनके है — ऐसे ज्ञानी के पूर्व कर्मोदयानुसार भोगादिक की क्रिया देखी जाती है, तो भी वह वैराग्य के बल से बंध को प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकरण का तीसरा उदाहरण यह था कि भले ही काम

करनेवाले अनेक लोग हों; लेकिन जो उसे करानेवाला है, आज्ञा देनेवाला है, जो उसका मालिक है, जिसके लिए काम किया जा रहा है; वही प्राकराणिक उसका कर्त्ता-भोक्ता है, अन्य उसके कर्त्ता-भोक्ता नहीं हैं। यहाँ तक तो बात हो चुकी है।

अब आगे कहते हैं कि इस प्रकरण को पढ़कर कोई व्यक्ति यह माने कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ और सम्यग्दृष्टि को भोग भोगते हुए भी आस्रव नहीं होता और निर्जरा होती है; अतः मैं भोगों से क्यों डरूँ, जमकर भोग क्यों न भोगूँ ?

उससे आचार्य कहते हैं कि ऐसी जिनकी बुद्धि है, वे सम्यग्दृष्टि ही नहीं हैं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि के तो भोगों में से सुखबुद्धि निकल गई है; परन्तु कर्म के उदय से उसके जीवन में भोग देखे जाते हैं। 'मैं खूब भोगूँ' – ऐसी भावना त्रिकाल में भी सम्यग्दृष्टि की नहीं हो सकती। सम्यग्दृष्टि के तो 'इन भोगों से मैं कब छूटूँ' – ऐसी भावना बनी रहती है।

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ और सम्यग्दृष्टि को कोई बंध नहीं होता है; इसलिए मुझे भी बंध नहीं होगा। जो ऐसा मानकर स्वच्छन्द हो गये हैं, उनके संदर्भ में आचार्य लिखते हैं –

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या—,
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलंबंता समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥137॥

(हरिगीत)

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, हूँ बंध से विरहित सदा।
यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा।।
जो समिति आलंबे महाव्रत आचरें पर पापमय।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय ॥137॥

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता – ऐसा मानकर

ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलंबन करें, तथापि वे पापी ही हैं; क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं।

130

मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और मुझे बंध नहीं होगा – ऐसा मानकर उठाया है मुख जिसने और फुलाए हैं गाल जिसने – ऐसा कहकर आचार्य इसके अभिमान की मुद्रा की ओर संकेत कर रहे हैं। ऐसी मुद्रा में वह मन ही मन में स्वयं को बहुत महान मानता है। फुलाए हैं गाल अर्थात् 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बंध नहीं होगा; मैं महाव्रती हूँ, मैं जो कहूँगा, वही होगा; ऐसे गाल फुलाकर एकदम जोश में बोलता है।

ऐसा स्वयं को मानता हुआ वह राग का आचरण करता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यहाँ प्रकरण सम्यग्दृष्टियों का चल रहा है; यहाँ मुनिराजों को मध्य में क्यों लाते हो ?

अरे भाई ! समिति को तो मुनि ही पालते हैं, गृहस्थ नहीं पालते हैं।

जो समिति को पालते हैं, जो अहिंसा, सत्य, अचौर्यादि महाव्रतों को पालते हैं, जो स्वस्त्री के भी त्यागी हैं, जिनके पास लेशमात्रा भी परिग्रह नहीं है – ऐसे मुनियों को आचार्य कह रहे हैं कि वे आज भी साक्षात् पापस्वरूप हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनमें से कोई भी पाप इनके नहीं हैं; लेकिन तब भी वे पापी क्यों हैं ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि ये पाप इनके नहीं हैं; लेकिन जो पाप का बाप है – ऐसा मिथ्यात्व तो इनके विद्यमान है ही। पर मैं एकत्व, ममत्व, कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्वबुद्धि, जिनके विद्यमान हैं – यहाँ ऐसे मिथ्यादृष्टियों का प्रकरण चल रहा है। यहाँ उन मिथ्यादृष्टियों का प्रकरण नहीं है, जो स्वयं को मिथ्यादृष्टि स्वीकार करते हैं। यहाँ उनका प्रकरण चल रहा है जो मिथ्यादृष्टि हैं एवं स्वयं को सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती मानते हैं।

व्रतादिक का आलम्बन लेते हैं, समिति का पालन करते हैं; परन्तु

तब भी वे पापस्वरूप हैं; क्योंकि वे आत्मा के अवगाहन से विरहित हैं। उन्होंने आत्मा को नहीं जाना है, आत्मा को नहीं देखा है। ऐसे जीव सम्यग्दर्शन से रहित हैं; फिर भी वे दिग्मूढ़ स्वयं को आध्यात्मिक मानते हैं।

दिग्मूढ़ अर्थात् जिन्हें कहाँ जाना है, इसका ज्ञान नहीं है। पूर्व दिशा की तरफ जाना है और जा रहे हैं पश्चिम दिशा की तरफ। आत्मा की ओर जाना है और जा रहे हैं पर की तरफ। शुद्धोपयोग की ओर जाना है; परंतु जा रहे हैं शुभोपयोग की ओर — इसप्रकार इन्हें अपनी दिशा का सत्यार्थ ज्ञान नहीं है; इसलिए आचार्य इन्हें दिग्मूढ़ कहते हैं।

प्रश्न :— पहले तो सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा हेतु हैं — ऐसा कहा और अब यहाँ समिति पालनेवाले को, महाव्रतधारियों को दिग्मूढ़ कह रहे हैं, पापी कह रहे हैं; हमें तो कुछ भी समझ में नहीं आता !

उत्तर :— यह हम थोड़े ही कह रहे हैं, यह महाव्रतधारी अमृतचन्द्रा-चार्य स्वयं कह रहे हैं। हम तो मात्रा उनके द्वारा लिखित छन्द का अर्थ कर रहे हैं।

जो स्वयं समिति को पालते हैं एवं पंचमहाव्रतधारी — ऐसे अमृतचंद्राचार्य स्वयं यह कथन कर रहे हैं कि यदि आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट है तो भोगों के मध्य रहते हुए भी उसे बंध नहीं होता; वह पापी नहीं है; परंतु यदि आत्मा सम्यग्दर्शन से रिक्त है और समिति पाले, महाव्रत आचरे तो भी वह पापी है — ऐसे जीव को रंचमात्रा भी निर्जरा नहीं है।

यदि बाह्यक्रिया व शुभभाव के आधार पर रंचमात्रा भी निर्जरा होती तो सम्यग्दर्शन से रिक्त महाव्रतधारियों के निर्जरा अवश्य होती; अतः यह सिद्ध है कि शुभभाव और बाह्य क्रिया निर्जरा के कारण नहीं हैं।

अंत में इसी निर्जराधिकार में आचार्यदेव ने सम्यग्दृष्टि के आठ अंगों का वर्णन किया है।

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥201॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥202॥
(हरिगीत)

131

अणुमात्र भी रागादि का सद्भाव है जिस जीव के।
वह भले ही हो सर्व आगमधर न जाने जीव को ॥२०१॥
जो न जाने जीव को वे अजीव भी जाने नहीं।
कैसे कहें सद्दृष्टि जीवाजीव जब जाने नहीं? ॥२०२॥

जिन जीवों के परमाणु मात्रा (लेशमात्रा) भी रागादि वर्तते हैं, वे जीव समस्त आगम के पाठी होकर भी आत्मा को नहीं जानते। आत्मा को नहीं जाननेवाले वे लोग अनात्मा को भी नहीं जानते। इसप्रकार जो जीव और अजीव (आत्मा और अनात्मा) दोनों को ही नहीं जानते; वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?

यदि इन दो गाथाओं का सही अर्थ नहीं समझा जाय तो बहुत अनर्थ हो सकता है; अतः इन्हें सही रूप में समझना अत्यंत आवश्यक है।

करणानुयोग के शास्त्रों में यह कहा गया है कि राग दसवें गुण-स्थान तक रहता है; जबकि सम्यग्दर्शन तो चतुर्थ गुणस्थान में ही प्रगट हो जाता है; अतः यहाँ उक्त कथनों में परस्पर विरोध प्रतिभासित होता है; परन्तु वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि यहाँ 'परमाणु मात्रा राग' का अर्थ राग की सत्ता ही नहीं है — ऐसा नहीं है; अपितु 'राग धर्म है, राग मैं हूँ, राग मेरा है, राग की क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता मैं हूँ, राग सुखस्वरूप है, राग करने से मुझे सुख की प्राप्ति होगी' — ऐसी मान्यता का नाम 'परमाणुमात्र राग' है।

यह अपने मन से निकाला हुआ अर्थ नहीं है; अपितु इसी गाथा में लिखा है कि 'सव्वागमधरोवि' अर्थात् जो सर्व आगम को जानता है; परंतु फिर भी वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। शास्त्रों में यह आता है कि

मिथ्यादृष्टि सर्व आगम को जान ही नहीं सकता है, वह द्वादशांग का पाठी नहीं हो सकता है, श्रुतकेवली भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में 'सर्व आगम को जानने का अधिक से अधिक ग्यारह अंग और नौ पूर्व को जाने' — ऐसा अर्थ है। यही अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने एवं आचार्य जयसेन ने किया है।

ऐसा जीव आत्मा को नहीं जानता है अर्थात् उसे आत्मा का अनुभव नहीं है। शास्त्रों से पढ़कर, गुरु के मुख से सुनकर, भले ही उसने आत्मा को जाना होगा; लेकिन उसे आत्मा का अनुभव नहीं है।

जिसे आत्मा का अनुभव नहीं है, वह अनात्मा को भी नहीं जानता है। अनात्मा को नहीं जानता है अर्थात् 'यह आत्मा नहीं है' — ऐसा ज्ञान उसे नहीं है; क्योंकि जब आत्मा का ही ज्ञान नहीं है, तब यह आत्मा नहीं है — यह ज्ञान कैसे हो सकता है।

जिसे नींबू की पहचान नहीं है, उसे संतरा दिखाया जाय तो वह ऐसा नहीं कह सकता है कि यह 'नींबू नहीं है' क्योंकि न उसे सही प्रकार से नींबू की पहचान है और न ही संतरे की।

ऐसे ही जो आत्मा को नहीं जानता है, वह किसी वस्तु को देखकर 'यह आत्मा नहीं है' — ऐसा भी नहीं कह सकता; इसप्रकार जो आत्मा को नहीं जानता है, वह अनात्मा को भी नहीं जानता है।

जो ऐसा कहते हैं कि अनादिकाल से इस आत्मा ने पर को ही जाना है, स्वयं को नहीं जाना है; इसमें कुछ दम नहीं है; क्योंकि इस जीव को न आत्मा का ही सही ज्ञान है और न ही पर का। इसका अर्थ यह नहीं है कि पर जानने में ही नहीं आता है; अपितु उसका सच्चा स्वरूप जानने में नहीं आता — यह है।

यहाँ मात्रा जानने का नाम जानना नहीं है; अपितु वस्तु का सत्यार्थ स्वरूप जानने का नाम वास्तविक जानना है। जब अज्ञानी जीव स्व-पर को जानता नहीं; ऐसा कथन हो; तब वहाँ वह उन्हें वस्तुस्वरूप के अनुरूप नहीं जानता है — ऐसा समझना।

एक व्यक्ति अशिक्षित था; किन्तु उसने मात्रा हस्ताक्षर करना सीख लिया। पहले तो उसे अंगूठा लगाना पड़ता था। अंगूठा लगाने से सभी यह जान जाते थे कि इसे पढ़ना—लिखना नहीं आता है। अब हस्ताक्षर कर देता है और ऐसा मानता है कि सभी ने मुझे 'मैं पढ़ा—लिखा हूँ' — ऐसा जान लिया है। वह पढ़ा—लिखा तो है नहीं; परंतु सभी ने उसे 'यह पढ़ा—लिखा है' — ऐसा जान लिया।

किसी ने उससे पूछा कि 'तुम किस कक्षा तक पढ़े—लिखे हो?' तब वह उत्तर देता है कि 'हम मौत पढ़े हैं।' इसका अर्थ यह है कि वह बिना पढ़े ही हस्ताक्षर कर देता है। बिना पढ़े किसी भी कागज पर हस्ताक्षर कर देना खतरे से खाली नहीं है; इसलिए वह कहता है कि हम अपनी मौत पढ़े हैं।

ऐसे ही अज्ञानी जीव भी अपनी मौत पढ़े हैं। वे शास्त्रा भी पढ़े हैं तो अपनी मौत पढ़े हैं; क्योंकि शास्त्रा का सच्चा मर्म तो उनके ख्याल में आता नहीं है और हमने बहुत शास्त्रा पढ़ लिए, हमने सब जान लिया — ऐसा अभिमान हो गया है।

मैंने एक पण्डितजी से पूछा — 'पण्डितजी आपने मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ा है।'।

वे कहते हैं — 'हमने सब पढ़ लिया है।'।

तब मैंने कहा — 'आपने सब पढ़ लिया है — ये तो ठीक है; लेकिन क्या आपने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ भी पढ़ा है?'

उनका एक ही उत्तर है कि 'हमने सैकड़ों ग्रंथ पढ़े हैं।'।

'मैंने मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ा या नहीं पढ़ा है' — वे साफ—साफ नहीं कहना चाहते हैं; क्योंकि नहीं पढ़ा कहने पर अपमान हो जाएगा और पढ़ा कहने पर पूछा जा सकता है कि आठवें अध्याय में क्या कहा गया है? इनसे बचने के लिए वे कहते हैं कि 'मैंने बहुत ग्रंथ पढ़े हैं, सैकड़ों ग्रंथ पढ़े हैं, मेरी जिंदगी पढ़ने—पढ़ने में ही बीती है, मैंने पढ़ने के अतिरिक्त कुछ किया ही नहीं है।'।

सीधा सरल जवाब दे तो वह पण्डित कैसा ? आज सबसे बड़ा पण्डित तो वही माना जाता है; जिसका कथन किसी के समझ में ही नहीं आए।

समयसार पढ़ने का अर्थ समयसार की गाथा पढ़ने से नहीं है; जबतक समयसार का मर्म ख्याल में नहीं आया है, तबतक उसका पढ़ना वास्तविक पढ़ना नहीं है।

ऐसे ही परमाणुमात्रा भी राग जिसके विद्यमान है, वह आत्मा को नहीं जानता है, भले ही उसने सभी शास्त्रों को पढ़ा हो। इसका अर्थ यह है कि जो राग में उपादेयबुद्धि रखता है, जिसने 11 अंग और 9 पूर्व पढ़े हैं; ऐसा व्यक्ति शास्त्रों में आत्मा को पढ़कर भी उस आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है। जो आत्मा के स्वरूप को नहीं जानता है, वह अनात्मा के स्वरूप को भी नहीं जानता है। जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता है; वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

इसी प्रकरण में आचार्य कह रहे हैं कि अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर फुलाये हैं गाल जिसने एवं उठाई है गर्दन जिसने — ऐसा अभिमानी मुद्रा वाला कोई मानता है कि सम्यग्दृष्टि को तो बंध नहीं होता है अतः, खूब भोग भोगे; जितने अधिक भोग भोगेंगे, उतनी ही अधिक निर्जरा होगी।

ऐसा व्यक्ति कहता है कि हम क्या करें ? आप ही कहते हो कि सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु हैं। यदि हम ऐसा मानते हैं तो आप इसे गलत कहते हो; आप वही बात कहो तो सत्य है और हम वही बात कहें तो झूठ है — ऐसा क्यों ?

एक करोड़पति सेठ है, वह यदि कहे कि मैंने एक लाख रुपए दान में दिए; लिख लो मेरा एक लाख। दूसरी ओर जिसे कल के खाने की चिंता है, 500 रु. प्रतिमाह पर नौकरी करता है; वह कहे कि मेरा सवा लाख लिख लो !

क्या यह सुनकर दान लेनेवाला लिख लेगा ? क्या लिखना

चाहिए ? तब वह व्यक्ति कहता है कि जब उन्होंने एक लाख लिखाए हैं, वैसे ही मैं भी सवा लाख लिखा रहा हूँ; यदि उससे पूछा जाय कि आप सवा लाख रुपए कब देंगे ?

133

तब वह कहता है कि यहाँ देने की बात ही कहाँ है, लिखाने की बात है ? आपने कहा लिखाना हो तो लिखा दें, इसलिए मैंने लिखाया है।

अब यदि उससे पूछते हैं कि आप देंगे कब ?

तब वह उत्तर देता है कि जब होंगे तब !

कब देंगे, इस भव में या अगले भव में ?

वह कहता है जब होंगे तब ! दोनों एक ही बात कह रहे हैं; लेकिन संपूर्ण जगत एक की बात को मानता और दूसरे की बात को नहीं मानता है।

ऐसे ही जो आत्मा का स्वरूप जानते हैं, राग का स्वरूप जानते हैं, राग में जिनकी सुखबुद्धि नहीं है, भोगों में जिनकी सुखबुद्धि नहीं है — ऐसा जीव भोग भोगे तो भी निर्जरा है एवं जिनके भोगों में सुख—बुद्धि है, वे भोग नहीं भोगे तो भी उनके आस्रव है, निर्जरा नहीं है।

हे भाई ! सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा हेतु हैं, इस महान सिद्धान्त से तुमने भोगों की पुष्टि की। यह तो समयसार का दुरुपयोग है।

यह तो ऐसा ही हुआ कि जैसे दो भाई लड़ रहे थे, उनसे पूछा गया कि भाई आप क्यों लड़ रहे हो ? तब वे कहते हैं कि भरत और बाहुबली भी तो आपस में लड़े थे ! इसमें नया क्या है ? यह तो अनादि की परम्परा है। देखो, इसने आदिपुराण से लड़ाई का पोषण किया।

परंतु उनसे हम पूछते हैं कि इसके बाद क्या हुआ था; यह पढ़ा कि नहीं पढ़ा ? फिर बाहुबली ने दीक्षा ली थी। आप में से ऐसा कौन भाई है जो दीक्षा लेनेवाला है। तब वे कहते हैं कि हमने तो यहीं तक पढ़ा था कि वे लड़े थे, बस !

अरे भाई ! ऐसी अधूरी पढ़ाई से काम चलनेवाला नहीं है।

एक सभागार में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित 'सत्य हरिश्चन्द्र'

नाटक खेला जा रहा था। जब सभी लोग वहाँ से नाटक देखकर बाहर निकले तो पत्राकार जनता से राय लेने के लिए पहुँचे।

जनता को नाटक कैसा लगा ? यह जानने के लिए एक पत्राकार एक व्यक्ति के पास पहुँचा। वह पगड़ीधारी व्यापारी अभी-अभी नाटक देखकर बाहर निकला था।

उससे पत्राकार ने पूछा कि आपको नाटक कैसा लगा ?

तब उसने उत्तर दिया कि 'बहुत अच्छा !'

पत्राकार ने उस व्यक्ति से दूसरा प्रश्न किया — 'आपने इस नाटक से क्या शिक्षा ग्रहण की।'

तब उस व्यक्ति ने तुरंत उत्तर दिया — 'भाया ! सत्य बोलवां में काई माल नथी।' हरिश्चन्द्र के समान राजा से रंक बनना हो तो सत्य बोले; पत्नी बेचना हो, बेटा बेचना हो, भंगी के यहाँ नौकरी करना हो तो सत्य बोले। यही मैंने इस नाटक से सीखा।

क्या इसी भावना से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक लिखा होगा। उन्होंने तो ऐसी कल्पना भी नहीं की होगी कि कोई व्यक्ति इस नाटक से ऐसी भी शिक्षा ग्रहण कर सकता है। ऐसे ही भगवान महावीर से लेकर चौथे गुणस्थानवर्ती ज्ञानी धर्मात्मा जीवों ने जब यह कहा होगा कि ज्ञानवंत के भोग निर्जरा हेतु हैं; तब उन्होंने ऐसी कल्पना भी नहीं की होगी कि कुछ लोग ऐसा भी सोच सकते हैं कि यदि भोग निर्जरा के हेतु हैं, तो खूब डटकर भोगें; जितना भोगेंगे उतनी ही निर्जरा होगी।

भाई ! जिन्हें भोग भोगने का रस है, वे मिथ्यादृष्टि हैं एवं उन्हें बंध होता ही है; लेकिन उन्हें बंध भोगने की क्रिया से नहीं; अपितु भोगने के भाव से बंध होता है।

जैसाकि इस समयसार कलश पद्यानुवाद में कहा है —

(हरिगीत)

कर्म करना ज्ञानियों को उचित हो सकता नहीं।

फिर भी भोगासक्त जो दुर्भुक्त ही वे जानिये।।

हो भोगने से बंध ना पर भोगने के भाव से।

तो बंध है बस इसलिए निज आत्मा में रत रहो।।151।।

134

यद्यपि भोगने से बंध नहीं होता है, पर भोगने के भाव से तो बंध होता ही है। इसलिए हे जीव ! तू भोगने की भावना क्यों करता है, अपने आत्मा में रमण क्यों नहीं करता है ? यह तो निश्चित है कि भोगने की क्रिया से बंध नहीं होता है; लेकिन भोगने का जो भाव हुआ, उससे तो बंध होता ही है।

महात्मा गांधी ने स्वराज्य प्राप्ति हेतु असहयोग आंदोलन चलाया। असहयोग आंदोलन के समय जब भी कोई विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न होतीं, तब वे उपवास कर लेते थे। उन्हें जेल में डाल देते थे तो वे जेल में भी उपवास करते थे। अंग्रेज जानते थे कि यदि गांधीजी जेल में ही मर गए तो हिन्दुस्तान में जितने भी अंग्रेज हैं, उनमें से एक भी जिन्दा नहीं बचेगा। वे गांधीजी की लोकप्रियता के बारे में भली-भाँति परिचित थे। इसलिए अंग्रेज उन्हें हर हालत में सुरक्षित रखना चाहते थे। वे जानते थे कि यदि गांधीजी भोजन नहीं करेंगे तो गड़बड़ होगी; तब अंग्रेज उन्हें जबर्दस्ती दूध पिलाते थे; यदि वे पीते नहीं थे तो उनके मुँह में ऐसी नली डालते थे जिससे वह दूध अंदर चला ही जाता था।

यह देखकर अन्य कैदी भी ऐसा ही करने लगे। जब उन्हें बलात् दूध पिलाया जाता तो गटागट पी जाते।

गांधीजी और उन लोगों में बड़ा अंतर है ? गांधीजी को दूध जबर्दस्ती पिला दिया तो उनका उपवास भंग नहीं हुआ; लेकिन जिन्होंने दूध के लिए ही उपवास किया था, उनके और गांधीजी के उद्देश्य में कितना महद् अंतर है।

ज्ञानीजनों को तो भोग की रुचि नहीं है और अज्ञानी को भोग में रुचि है। अज्ञानी 'भोगने से बंध नहीं होता है' — ऐसा कहकर भोगने के भाव कर रहा है, भोगने की मान्यता कर रहा है; इसलिए वह तो बंध को प्राप्त होगा ही होगा।

भोग से बंध नहीं होता; इसलिए तू भोग ! यह उपदेश की भाषा नहीं; अपितु यह वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन है कि ज्ञानी जीव जब भोग के काल में होता है, तब भी उसे बंध नहीं होता है।

आगे आचार्य कहते हैं कि ज्ञानीजन भोगते हैं कि नहीं भोगते हैं — यह हम नहीं जानते। इसका अर्थ यह है कि वे भोगों को भोगते नहीं हैं, वे तो भोगों को भुगतते हैं। इसे हम इस कलश पद्यानुवाद से और अधिक स्पष्ट समझ सकते हैं —

(हरिगीत)

जिसे फल की चाह ना वह करे — यह जंचता नहीं।

यदि विवशता वश आ पड़े तो बात ही कुछ और है।।

अकंप ज्ञानस्वभाव में थिर रहे जो वे ज्ञानिजन।

सब कर्म करते या नहीं — यह कौन जाने विज्ञजन।।153।।

जिसने कर्म का फल छोड़ दिया, वह कर्म करता है — ऐसी प्रतीति तो हमें नहीं होती; किन्तु यदि ज्ञानी को ऐसा कर्म अवशता से आ पड़ता है तो भी जो ज्ञानी अपने अकंप परमज्ञानस्वभाव में स्थित हैं, वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं; — यह कौन जानता है ?

इस कलश का भावानुवाद करते हुए पण्डित बनारसीदासजी ने तो ऐसा लिखा है कि —

(सवैया तेईसा)

जे निज पूरब कर्म उदै, सुख भुंजत भोग उदास रहेंगे।

जे दुखमें न विलाप करें, निरबैर हियें तन ताप सहेंगे।।

है जिन्हकै दिढ़ आत्मज्ञान, क्रिया करकैं फल कौ न चहेंगे।

ते सु विचच्छन ग्यायक हैं, तिन्हकौ करता हम तौ न कहेंगे।।

ज्ञानी भोगों को भोगते हुए भी उदास रहेंगे; अतः हम उन्हें कर्ता नहीं कहेंगे अर्थात् वस्तुतः ज्ञानी भोगों के अकर्ता हैं। यही कारण है कि ज्ञानी भोगों को नहीं भोगते हैं — ऐसा कहा जाता है; इसलिए उन्हें बंध भी नहीं होता है।

यदि इसका वास्तविक भाव नहीं समझें तो इन बातों को सुनकर अज्ञानी जीव का अनर्थ भी हो सकता है।

समयसार कच्चा पारा है, पच जाय तो भयंकर से भयंकर बीमारी दूर हो जाय और न पचे तो मर जाय।

135

आयुर्वेद में एक ब्राह्मी बूटी होती है, जो बहुत ही ठण्डी तासीर की होती है। जब शरीर में गर्मी चढ़ जावे, गर्मी चढ़ने से पागलपन हो जावे, हजारों दवाईयाँ खिलायें तो भी उनसे ठीक नहीं हो; तब अन्त में ब्राह्मी बूटी पिलायी जाती है। ब्राह्मी बूटी का प्रभाव ऐसा है कि उससे पागलपन दूर होता ही है। लेकिन इसमें समस्या यह है कि वह आसानी से पचती नहीं है। जो इसे पीता है, उसे उल्टी हो जाती है और उसके शरीर पर जहाँ भी उल्टी के छींटें पड़ जाय, वहीं कुष्ठ रोग हो जाता है। इसलिए ऐसे रोगी को ब्राह्मी बूटी पिलाने की विधि ही अलग है।

बीमार व्यक्ति को नदी की धार में बिठाकर ब्राह्मी बूटी पिलायी जाती है। जिस तरफ पानी की धार हो, उस दिशा में उस रोगी की मुखमुद्रा रखी जाती है। उस व्यक्ति को पानी में गले तक डुबो दिया जाता है। फिर उस व्यक्ति को ब्राह्मी बूटी पिलाई जाती है। यदि पच गई तो बीमारी ठीक हो जाएगी और यदि नहीं पची तो उस पानी के बहाव के साथ उल्टी भी बह जायेगी, उस व्यक्ति के शरीर पर छींटें नहीं पड़ेंगे, वह व्यक्ति बच जाएगा।

यदि उल्टी भी हो गई; तब भी दवाई पेट में जाएगी तो थोड़ी बहुत पेट में रह ही जाएगी; गले में रह जाएगी, आँत में लगी रह जाएगी, आमाशय में लगी रह जाएगी; जितनी भी वह रह जाएगी, उतना ही वह लाभकारी सिद्ध होगी। यह इतनी खतरनाक औषधि है; फिर भी जब दूसरा कोई इलाज न हो, तब इसे पिलाना ही पड़ता है।

ऐसे ही समयसार ब्राह्मी बूटी है। जब मिथ्यात्व का भयंकर पागलपन हो गया हो तो समयसार की ब्राह्मी बूटी घूँट-घूँटकर पिलाई जाती है; लेकिन यह भी जगत को आसानी से नहीं पचती है।

सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा हेतु हैं; परोपकार का भाव बंध का

कारण है, वह धर्म नहीं है; एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है; आज तक किसी ने पर में कुछ किया ही नहीं है; पाप के समान पुण्य भी हेय है; क्या समयसार में प्रतिपादित ये परमसत्य बातें सामान्य लोगों को पचने जैसी हैं। ऐसे ही सैंकड़ों तथ्य हैं, जो जगत के जीवों के गले नहीं उतरते, जैनियों के गले नहीं उतरते, यहाँ तक कि अनेक संतों के गले भी नहीं उतरते।

यहाँ कलश में लिखा है कि महाव्रत पालनेवालों, समिति पालने-वालों के गले नहीं उतरते — ऐसा यह अद्भुत सत्य है।

एक तो यह तथ्य गले में उतरता ही नहीं है। अंदर चला भी जाय तो पचता नहीं है।

कोई माता अपने बच्चे को दूध पिलाये और पचे नहीं, तब वह डॉक्टर के पास जाती है। डॉक्टर उससे पूछते हैं कि जब इसे दूध पिलाया जाता है, तब होता क्या है? तब वह इन तीन में से ही एक उत्तर देती है कि दस्त लग जाते हैं, कब्जियत हो जाती है या उल्टी हो जाती है।

जब दस्त लगते हैं, तब वह कम से कम पेट में से तो गुजरती ही है; अतः वह अधिक खतरनाक नहीं है। जब कब्जियत हो जाती है; तब वह पेट में ही ठहर जाती है, निकलती नहीं है — यह भी उतनी अधिक खतरनाक नहीं है। सबसे अधिक घातक उल्टी है; क्योंकि शरीर इसे स्वीकार ही नहीं करता। उसे तुरंत बाहर फेंक देता है।

इसप्रकार अपचन की तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं — कब्ज हो जाना, दस्त लग जाना एवं उल्टी हो जाना।

ऐसे ही समयसार नहीं पचता है — इसका अर्थ भी इसप्रकार समझ सकते हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु हैं, पाप के समान पुण्य भी हेय है — इन परमसत्य बातों को सुनते ही कोई व्यक्ति खड़ा हो जाय और कहे कि क्या बकते हो? तुम देश को बरबाद करोगे। तुम जैसे आदमी हमने नहीं देखे हैं। सबको नपुंसक बनाओगे क्या? कोई किसी का कर्त्ता नहीं है, धर्त्ता नहीं है — ऐसी

बातें करते हो। वैसे ही लोग कुछ काम नहीं करते हैं, आलसी हैं। उसमें भी तुम और आग लगाओगे।

136

इसप्रकार सभा में ही उठकर यदि अनाप—शनाप बकने लगे तो समझ लेना चाहिए की इन्हें उल्टी हो गई है।

कोई व्यक्ति सभा में तो नहीं बोले; लेकिन यह सत्य सुनते ही उस व्यक्ति का जी मिचलाये; उस दिन तो किसीप्रकार अरुचिपूर्वक सुन ले; पर दूसरे दिन उससे कहे कि 'चलो भैया ! प्रवचन सुनने चलें।' तब वह व्यक्ति कहता है कि — 'हमें नहीं जाना है, तुम्ही जाओ, मरो ! क्या ऐसी बातें सुनने के लिए हम वहाँ जाएंगे।' उक्त तथ्य 24 घंटे तो उसके अंतर में रहा; लेकिन आत्मा ने उसे ग्रहण नहीं किया और पतले दस्तों की तरह वह बह गया।

यदि कोई व्यक्ति कहे कि 'भैया ! ये तो बहुत ऊँची बातें हैं।' तो समझ लेना चाहिए की अब इसे कब्जियत हो गई है। इसप्रकार समयसार के अपचन की भी यही तीन अवस्थाएँ होती है।

जिस व्यक्ति के ब्राह्मी बूटी शरीर में जाय एवं शरीर उसे स्वीकार कर ले; न दस्त लगे, न कब्जियत हो, न ही उल्टी हो तो अनिवार्यरूप से उस व्यक्ति का पागलपन दूर होगा ही होगा।

इसीप्रकार जो समयसार के इस परमसत्य को स्वीकार करे, जिसे यह सुनकर महिमा आवे और अंतर में ऐसा भाव आये कि कितना अद्भुत, अपूर्व सत्य है; इसे सुनकर वह इसका चिंतन—मनन करना शुरू कर दे। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता—भोक्ता नहीं है और मैं आजतक व्यर्थ में ही विपरीत मान रहा था। आज मुझे सत्य समझ में आया।

यदि ऐसी स्थिति है तो समझ लेना चाहिए कि इस व्यक्ति को समयसार पच गया है। समयसार की ब्राह्मी बूटी पच गई है तो अनादि—कालीन अज्ञान भी अनिवार्यरूप से नष्ट होगा ही होगा।

ई. सन् 1967 में मैं इन्दौर से पर्यूषण पर्व में प्रवचनार्थ मैं जयपुर

आया था। उस वक्त भी मैंने इसी उदाहरण के साथ इस प्रकरण की चर्चा की थी। बड़े दीवानजी के मन्दिर में व्याख्यान कर रहा था और पण्डित चैनसुखदासजी उस सभा के अध्यक्ष थे। मेरे व्याख्यान के संदर्भ में उस दिन तो पंडितजी ने सभा में कुछ नहीं कहा; लेकिन अगले दिन उन्होंने सभा में कहा कि 'कल जो भारिल्ल साहब ने व्याख्यान में कहा था, वह शत-प्रतिशत सत्य है। मैंने ब्राह्मी बूटी के बारे में वैद्य से पूछा तो उन्होंने भी इस बात की पुष्टि की।'

पण्डित चैनसुखदासजी महान विद्वान थे। समाज में उनकी बहुत प्रतिष्ठा थी। मैं तो उनके सामने बच्चा ही था। वे मेरे दादाजी के उम्र के थे, तब मेरी उम्र 30-32 वर्ष होगी और उनकी 60-65 वर्ष।

सब समझ रहे थे कि पंडितजी की यह बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न होऊँगा; लेकिन मैंने वहाँ एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य उजागर किया कि — 'यदि वह वैद्य मना कर देता और कहता कि आयुर्वेद में ऐसा नहीं है। तब क्या होता? तब पंडितजी साहब दूसरे दिन आकर कहते कि मैंने वैद्य से पूछा और वैद्य ने कहा कि ऐसी कोई जड़ी-बूटी नहीं होती है। तब मेरा क्या होता?'

यदि यह उदाहरण गलत भी निकल जाता तो मैं अच्छा वैद्य नहीं हूँ — यह सिद्ध होता; इस उदाहरण से मैंने जो सिद्धान्त प्रतिपादन किया है; क्या वह भी गलत हो जाता? अरे भाई! उदाहरण गलत होने पर भले ही अच्छा वैद्य सिद्ध नहीं होता; परन्तु मेरे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सही होने से पंडित तो अच्छा ही हूँ, सच्चा ही हूँ।

उदाहरण तो हम कहीं से भी चुनते हैं, हम कोई आयुर्वेद के विद्वान थोड़े ही हैं। जो सुनते हैं, वह उदाहरण में ले लेते हैं। उदाहरण की सत्यता और झूठेपन से सिद्धान्त की असत्यता और सत्यता का नाप नहीं हो सकता है।'

सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा हेतु हैं — यह न पचे ऐसा सिद्धान्त है; परन्तु यदि इसका वास्तविक अर्थ गम्भीरता से समझें तो इसका रहस्य ख्याल में आए बिना न रहेगा। ●

अठारहवाँ प्रवचन

137

सम्यग्दृष्टि का स्वरूप एवं उसकी परिणति कैसी होती है — यह बताने के लिए समयसार के निर्जरा अधिकार के अंत में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन किया गया है। वे आठ अंग इसप्रकार हैं — निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन या उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

निःशंकित अंग का प्रायः ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्वों में संशय/शंका नहीं करना निःशंकित अंग है। छहढाला की तीसरी ढाल में कहा है —

जिनवच में शंका न धार

परन्तु इस अंग के संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने एक नया दृष्टि-कोण प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है —

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।

सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।228।।

(हरिगीत)

निःशंक हों सदृष्टि बस इसलिए ही निर्भय रहें।

वे सप्त भय से मुक्त हैं इसलिए ही निःशंक हैं।।२२८।।

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसकारण निर्भय भी होते हैं। चूँकि वे सप्तभयों से रहित होते हैं, इसलिए निःशंक होते हैं।

शंका का अर्थ यहाँ भय किया गया है। भय सात प्रकार के होते हैं। सम्यग्दृष्टि सात प्रकार के भयों से रहित होते हैं, इसलिए वे निःशंकित अंग के धारी हैं।

यदि गहराई से विचार किया जाय तो इन दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है; क्योंकि जिन सप्तभयों की चर्चा हम आगे करेंगे, उन सप्तभयों से रहित सम्यग्दृष्टि क्यों होते हैं, किसप्रकार होते हैं? इसी का उत्तर छहढाला की उक्त परिभाषा में दिया गया है।

इस जीव ने जिनवाणी में पढ़ा कि आत्मा अनादि-अनंत है, अजर-अमर है; यह देह मैं नहीं हूँ, यह देह मेरी नहीं है; मैं इससे भिन्न भगवान आत्मा हूँ। सम्यग्दृष्टि की निर्भयता का आधार जिनवाणी के उक्त वचन ही हैं। जिनवाणी के वचनों से तत्त्वों को समझकर अनुभूति से प्रमाणित करने के कारण उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया है। जिनवाणी में उन्हें कोई शंका नहीं रही है; इसी आधार पर उनके निर्भयता आई है।

अतः निःशंकता का अर्थ निर्भयता करना एवं निर्भयता का अर्थ निःशंकता करना अनुचित नहीं है; इसमें आचार्यों में मतभेद जैसी कोई बात नहीं है।

एक तो सामान्यजन ऐसा अर्थ निकाल नहीं सकते, कदाचित् निकाल भी लें तो उनकी वाणी में इतनी क्षमता नहीं होती कि वे उसे जगत के गले उतार दें। कदाचित् किसी में ऐसी क्षमता भी हो तो उसका ऐसा प्रभाव नहीं होता कि जिसके कारण जगत उस अर्थ को स्वीकार कर ले। यह कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्यों का ही कार्य था कि न केवल उन्होंने इस मर्म को जाना, अपितु जगत के सामने प्रस्तुत भी किया और उनके पवित्रा प्रभावना के योग से अधिकांश जगत ने इसे सहज स्वीकार भी किया।

आश्चर्य की बात तो यह है कि इस रहस्य के उजागर हो जाने के बाद भी आज निःशंकित अंग का अर्थ शंका नहीं करना — अनेक विद्वान यही तक सीमित हैं। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिपादन किया — बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती, अपितु हमारा भी कर्तव्य है कि इस सिद्धान्त को उंके की चोट जन-जन तक पहुँचायें।

इस बात को आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने मूल गाथाओं में ही स्पष्ट किया है; अतः हमारी बात कोई स्वीकार नहीं करेगा — ऐसा विकल्प भी नहीं होना चाहिए।

मेरा यह अनुभव है कि जिनवाणी में प्रतिपादित कठोर से कठोर सत्य यदि आचार्यों के आधार से सप्रमाण प्रस्तुत किया जाय तो कोई

विरोध नहीं करता। मन में कितना ही विरोध क्यों न रहें; परन्तु वे उसे व्यक्त तो करते ही नहीं, आगम प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत तथ्य को कोई अस्वीकार भी नहीं कर सकता।

138

इस प्रकरण के प्रारंभ में उत्थानिकारूप एक कलश काव्य आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं, जो इसप्रकार है —

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं।

यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।।

सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं।

जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि।।154।।

जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक अपना मार्ग छोड़ देते हैं — ऐसा वज्रपात होने पर भी ये सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव से ही निर्भय होने से समस्त शंकाओं-आशंकाओं को छोड़कर ज्ञानशरीरी अपने आत्मा को अवध्य जानकर ज्ञान से च्युत नहीं होते। — ऐसा परम साहस करने में मात्रा सम्यग्दृष्टि ही समर्थ होते हैं।

त्रिलोक चलायमान हो ऐसा वज्रपात हो तो भी सम्यग्दृष्टि निसर्गतः ही निर्भय रहते हैं। भगवान अच्छा ही करेंगे — ऐसा परावलम्बी चिंतन सम्यग्दृष्टि की निर्भयता का आधार नहीं है, बल्कि वे स्वभाव से ही निर्भय रहते हैं।

सम्यग्दृष्टि को ऐसी आशंका नहीं है कि मेरा नाश हो जायेगा; क्योंकि वे मानते हैं कि मैं तो ज्ञानशरीरी हूँ; मेरा कोई नाश कर ही नहीं सकता है। ऐसा जानते हुए वे अपने उस ज्ञान से च्युत नहीं होते हैं, वस्तुस्वरूप में उन्हें कोई शंका नहीं होती। उन्हें वस्तुस्वरूप एकदम स्पष्ट रहता है; अतः वे निसर्गतः ही शांत रहते हैं।

इसी को हम इस कलश पद्यानुवाद के माध्यम से सरल भाषा में समझते हैं —

वज्र का हो पात जो त्रैलोक्य को विह्वल करे।

फिर भी अरे अतिसाहसी सदृष्टिजन निश्चल रहें।।

निश्चल रहें निर्भय रहें निशंक निज में ही रहें।

निसर्ग ही निजबोधवपु निज बोध से अच्युत रहें।।154।।

जिनके भय से जगत में लोग व्याकुल होते हैं; उन सप्त भयों की चर्चा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने आत्मख्याति नामक टीका में छह छन्दों के माध्यम से की है। इहलोकभय और परलोकभय – इन दोनों भयों की चर्चा एक ही छन्द में होने से सप्तभयों की चर्चा सात छन्दों में न होकर छह छन्दों में ही समाहित हो गई है।

इस भव में मेरे पुण्य के उदय से, मेरे प्रयत्नों से जो अनुकूल संयोग बने हैं; वे कहीं बिखर न जाये – यह इहलोकभय है। मैं मरकर नरकादि गति में न चला जाऊँ, कूकरी-सूकरी के पेट में न पैदा हो जाऊँ, मेरी गति अच्छी ही हो – इसप्रकार जो भय व्याप्त रहता है; वह परलोकभय है।

सम्यग्दृष्टि इन दोनों भयों से रहित होता है।

मैं तो महापुण्यशाली हूँ, मेरे संयोग तो बिखर ही नहीं सकते हैं, मैं मरकर स्वर्ग में ही जानेवाला हूँ – ऐसे चिंतन के आधार पर सम्यग्दृष्टि निर्भय नहीं होता। राजा श्रेणिक जैसे सम्यग्दृष्टि भी नरक गए हैं। ज्ञानियों के चिंतन का आधार क्या होता है? इसे अमृतचन्द्राचार्य ने छह कलशों के माध्यम से व्यक्त किया है। इन कलशों के भाव को हम अधिक सरलता से कलश पद्यानुवाद के आधार से समझेंगे।

इहलोकभय एवं परलोकभय सम्यग्दृष्टि के क्यों नहीं हैं एवं उसके चिंतन का आधार क्या है? इसे इस छन्द में कहा है –

इहलोक अर परलोक से मेरा न कुछ सम्बन्ध है।

अर भिन्न पर से एक यह चिल्लोक ही मम लोक है।।

जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे।

वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।155।।

आचार्य यहाँ यह कह रहे हैं कि इस इहलोक और परलोक से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जिन संयोगों को हम इहलोक कहते हैं;

वे बिखरेंगे या नहीं बिखरेंगे – ऐसा आचार्यदेव नहीं कह रहे हैं। वे तो यह कह रहे हैं कि हमारा उनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वे रहें तो रहें और बिखरें तो बिखरें – इससे हमें क्या लेना-देना है?

139

लोक व्यवहार में हम संयोगों को ही इहलोक कहते हैं। हम कहते हैं कि हमारी दुनिया तो बस हमारा परिवार ही है। सभी ने अपने-अपने संयोगों में ही दुनिया मान रखी है। कई व्यक्ति कहते हैं कि घर से दुकान और दुकान से घर; बस, यही हमारी दुनिया है। हमारे जो निकट के संयोग हैं; उन्हें ही हम दुनिया कहते हैं, मानते हैं।

इसके सन्दर्भ में सम्यग्दृष्टि का यह चिंतन होता है कि मेरी कोई दुनियाँ नहीं है; क्योंकि इस दुनियाँ में मेरा कोई है ही नहीं। मैंने तो यह निश्चित कर लिया है कि यह शरीर मेरा नहीं है, स्त्री-पुत्र, मकान-संपत्ति मेरी नहीं है; जो भी पुण्य के उदय से संयोग प्राप्त हैं, वे सभी मेरे नहीं हैं। इहलोकभय के सन्दर्भ में सम्यग्दृष्टि का चिंतन इसप्रकार का ही रहता है।

पूर्व में जो 29 बोलों की चर्चा की थी, जिनसे यह आत्मा सदैव भिन्न है; उनमें गुणस्थान और मार्गणास्थान भी आते हैं। सम्यग्दृष्टि का परलोकभय के सन्दर्भ में यह चिन्तन रहता है कि मैं गुणस्थान और मार्गणास्थान से भिन्न हूँ, नरक-तिर्यच-मनुष्य-देवगति इन चारों गतियों का मुझमें रंचमात्रा भी प्रवेश नहीं है। इसकारण इहलोक और परलोक रहें तो रहें, बिखरे तो बिखरे; मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

इसप्रकार यहाँ एकप्रकार से आचार्यों ने एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व – इन चारों संबंधों का सम्यग्दृष्टि के निषेध किया है।

सम्यग्दृष्टि मानता है कि न ये मैं हूँ, न मैं इनका स्वामी हूँ, न मैं इनका कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ; इनसे भिन्न जो चैतन्यलोक है अर्थात् आत्मा के अनंतगुण और उन अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा है – वही मैं हूँ। यही मेरा समाज, देश, परिवार है; जो कुछ भी है, वह यही आत्मा है। यहाँ तक ही मेरी सीमा है। मेरा लोक तो चिल्लोक है, न इहलोक मेरा है न परलोक मेरा है।

सम्यग्दृष्टि की ऐसी दृढ़ श्रद्धा है कि हमारे विकल्पों से कुछ भी होनेवाला नहीं है। अनादिकाल से यह आत्मा है और अनंतकाल तक यह रहनेवाला है।

निगोद में रहा तब भी इस चैतन्यलोक आत्मा का एक प्रदेश भी कम नहीं हुआ, इसलिए कैसा ही वज्रपात क्यों न हो, ज्ञानशरीर में कोई विघ्न उपस्थित होनेवाला नहीं है; क्योंकि मैं विघ्नरहित ही हूँ।

जिस पर्याय में विघ्न होता है, मैंने उस पर्याय से ही नाता तोड़ लिया है। वह, मैं हूँ ही नहीं — यही सम्यग्दृष्टि के चिंतन का आधार है। इसलिए वे निश्चित हो गए हैं।

हम भी एक अणुशक्ति हो गए हैं। अब दुनिया को हमने बता दिया है कि अब हमारे पास भी अणुबम है। अब हम डरनेवाले नहीं हैं। जो लोग ऐसा सोचते हैं, उनसे हम कहते हैं कि भाई ! जब हमारे पास अणुबम नहीं था, तब क्या हम डरनेवाले थे ? जिन लोगों के पास अणुबम है, क्या वे निडर हैं?

ज्ञानी की निर्भयता का आधार कोई हथियार नहीं है, बन्दूक नहीं है, पिस्तौल नहीं है, पुण्य का उदय नहीं है। सुरक्षागार्ड भी ज्ञानी की निर्भयता के आधार नहीं है; क्योंकि उन्होंने तो जो नष्ट हो सकता है; उसमें से अपनापन ही तोड़ दिया है।

जब ज्ञानीजन ऐसा जानते हैं कि चैतन्यलोक ही मेरा लोक है तो फिर वे डरे ही क्यों ? अरे वे तो निरन्तर निशंक हो निजज्ञान का ही अनुभव करते हैं, अविनाशी निजभगवान आत्मा का ही अनुभव करते हैं; उसमें ही अपनापन रखते हैं।

प्रश्न — शास्त्रों में तो लिखा है कि आत्मानुभव कभी-कभी होता है और आप कह रहे हैं कि ज्ञानीजन तो निरन्तर अपने आत्मा का अनुभव करते हैं ?

उत्तर — अरे भाई ! यहाँ शुद्धोपयोगरूप या आत्मानुभूतिरूप अनुभव की बात नहीं है; यहाँ तो अपने त्रिकालीध्रुव अविनाशी आत्मा में अपनापन स्थापित करनेरूप अनुभव की बात है।

सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर अपने में ही अपनेपने का अनुभव करते हैं और किसी में अपनापन करते ही नहीं; इसलिए उन्हें न इहलोकभय होता है और न परलोकभय होता है।

140

अब वेदनाभय की बात करते हैं —

चूँकि एक-अभेद में ही वेद्य-वेदक भाव हों।

अतएव ज्ञानी नित्य ही निजज्ञान का अनुभव करें।।

अन वेदना कोइ है नहीं तब होय क्यों भयभीत वे।

वे तो सतत् निशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।156।।

वेदना की आशंका से भयभीत होना वेदनाभय है। कभी-कभी हमें मरणभय से भी अधिक भय वेदना का लगता है। यही कारण है कि जब अधिक वेदना होती है तो यह प्राणी मरण की भावना करने लगता है। कहता है कि अब तो भगवान जल्दी उठा ले तो अच्छा है।

यहीं की कोई सन् 1970-71 की बात है कि जब हम अपने पिताजी के साथ घूमने जाते थे, साथ में बच्चे भी होते थे; तब यदि दो-चार किलोमीटर दूर से भी किसी गाड़ी की रोशनी दिखाई देती थी तो पिताजी सड़क पार नहीं करने देते थे। कहते थे कि गाड़ी को निकल जाने दो।

मैं कहता गाड़ी तो बहुत दूर है। चलो, मैं हूँ न आपके साथ; पर वे नहीं मानते।

कहते थे देखो, मुझे मरने से डर नहीं लगता; लेकिन हाथ-पैर टूट जाये तो बुढ़ापे में विस्तर में पड़ा-पड़ा सड़ूंगा; अपना दैनिक काम भी स्वयं नहीं कर पाऊँगा। तुम लोगों को तकलीफ दूँ और मैं भी दुख भोगूँ। यह मेरे चित्त को स्वीकार नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ कि जिसे मरण का भी भय नहीं लगता, उसे भी वेदना का भय लगता है।

जब पिताजी का स्वर्गवास हो गया और बच्चे बड़े हो गये। एक दिन हम उनके साथ घूमने गये और लाईट का उजाला दिखा तो मैंने कहा — खड़े रहो, गाड़ी को निकल जाने दो तब बच्चे बोले — हम

समझ गये। अब आपको भी वही भय लगने लगा है जो बब्बा को लगता था कि बुढ़ापा खराब न हो जाय।

यह उदाहरण तो मैंने सिर्फ इसलिए दिया की मौत से भी नहीं डरने वाले वेदना से डरते हैं।

सम्यग्दृष्टियों को भी वेदना होती है। बीमारी हो सकती है, कैंसर हो सकता है, हार्टअटैक हो सकता है, कुछ भी हो सकता है। किसी भी ज्ञानी को कुछ भी हो सकता है।

अरे ! सनतकुमार चक्रवर्ती को मुनि अवस्था में सात सौ वर्ष तक कोड़ रहा था। वादिराज मुनिराज को कोड़ था। लेकिन ज्ञानियों का चिन्तन तो यह है कि वेद्य-वेदक भाव तो एक द्रव्य के भीतर ही होता है; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है। जब आत्मा पर का भोक्ता नहीं है तो वह पर का वेदक कैसे हो सकता है ?

तुम्हें तकलीफ हुई और उसे मैंने जाना, तो मुझे वेदन मेरे ज्ञान का हुआ, तुम्हारी तकलीफ का नहीं। मैं तो निरन्तर अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का वेदन करता हूँ। यानि मैं यह मानता हूँ कि मैं तो यही हूँ; इसलिए अन्य तो कोई वेदना मुझे है नहीं; होगी तो देह में होगी, संयोग में होगी, सिर में होगी, लेकिन यह सिर मैं नहीं हूँ न !

इस पर वह कहता है कि मैं सिर तो नहीं हूँ, पर सिर तो मेरा ही है न? अरे भाई ! गजब हो गया ! मैं तो पहले दिन से ही रट लगा रहा हूँ, यह शरीर न मैं हूँ, न शरीर मेरा है, न मैं इस शरीर का कर्ता हूँ, न मैं भोक्ता हूँ।

फिर वह कहता है कि सिर मेरा नहीं है, सिर मैं नहीं हूँ लेकिन मेरा नहीं होने पर भी इसमें दर्द होगा तो भोगना तो मुझे ही पड़ेगा न !

इस पर आचार्य कहते हैं कि वेद्य-वेदक भाव दो द्रव्यों के बीच होता ही नहीं। मैं तो अपनी आत्मा का ही वेदन करता हूँ, और मेरे में कोई अन्य वेदना है ही नहीं।

ऐसा सोचकर वे भयभीत नहीं होते; वे तो निशंक हो सतत् निज ज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

अब अरक्षाभय की बात करते हैं —

141

निज आत्मा सत् और सत् का नाश हो सकता नहीं।

है सदा रक्षित सत् अरक्षाभाव हो सकता नहीं।।

जब जानते यह ज्ञानिजन तब होय क्यों भयभीत वें।।

वे तो सतत निशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।157।।

स्वयं को असुरक्षित समझकर डरते रहना ही असुरक्षाभय है। ज्ञानी जीवों को यह असुरक्षाभय नहीं होता। उनका चिन्तन ऐसा नहीं है कि मैंने चार-चार बंदूकवाले चौकीदार रख लिये; अब मुझे किसका डर है? इन्दिरा गांधी को उनके चौकीदारों ने ही साफ कर दिया था।

सम्यग्दृष्टि सोचते हैं कि आत्मा सत् है, सत् का कभी नाश नहीं होता है और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता है — यह महासिद्धान्त है।

जब ज्ञानी जीव यह जानते हैं, तब वे क्यों डरे; इसलिए वे तो निशंक होकर निरन्तर निजज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

अन्तिम दो पंक्तियाँ छहों छन्दों में लगभग समान ही हैं; जिनमें यह कहा गया है कि जब ज्ञानीजन उक्त परमसत्य से परिचित हैं तो वे भयभीत क्यों होंगे ? वे सदा ही निशंक रहकर निज आत्मा में अपनेपने का अनुभव करते हैं।

इसप्रकार असुरक्षाभय की बात करके अब अगुप्तिभय की बात करते हैं —

कोई किसी का कुछ करे यह बात संभव है नहीं।

सब हैं सुरक्षित स्वयं में अगुप्ति का भय है नहीं।।

जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे।

वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।158।।

इस अगुप्तिभय का उल्लेख बनारसीदासजी चोरभय नाम से

करते हैं; क्योंकि हम अपनी वस्तुओं को चुराये जाने के भय से छुपाकर रखना चाहते हैं, गुप्त रखना चाहते हैं।

इसीलिए हम अपने कपड़ों में गुप्त जेबें बनवाते हैं, अलमारियों में गुप्त लॉकर लगवाते हैं, अपने सूटकेस के नम्बर गुप्त रखते हैं, अपने खाते का नंबर गुप्त रखते हैं। मेरी वस्तु का दुनिया को पता न चल जाय, यदि पता लग जायेगा तो गड़बड़ी हो जायेगी — ऐसा भय हमें सदा बना रहता है। इसी का नाम अगुप्तिभय है। अपना रहस्य प्रगट न हो जाय — ऐसी आशंका या भय ही अगुप्तिभय है।

उक्त कथन बहुत कुछ ठीक होने पर भी बात अकेली चोरी तक ही सीमित नहीं है; क्योंकि अब अकेले चोर थोड़े ही लूटते हैं, अब तो बहुत से लुटेरे हो गये हैं। गुप्तता का कारण भी मात्रा चोरी का भय नहीं है, अन्य कारण भी हो सकते हैं।

मेरी लड़की की सगाई की बात चल रही है, यदि किसी को पता चल गया तो वह गड़बड़ कर सकता है। इसका भी तो भय होता है न? इस कारण सभी लोग बात को गुप्त रखना चाहते हैं।

इसलिए अगुप्तिभय का नाम अगुप्तिभय ही बढ़िया है।

उक्त संदर्भ में सम्यग्दृष्टि सोचते हैं कि जब कोई किसी का भला-बुरा कर ही नहीं सकता है; तब बात गुप्त रहें या प्रकट हो जाय — इससे क्या अंतर पड़ता है ?

ज्ञान से क्या छिपा है? सारे ज्ञेयों का स्वभाव ज्ञान को अपना ज्ञान देना है और ज्ञान का स्वभाव ज्ञेयों को जानना है।

बात दोनों ही तरफ से पक्की हो तो क्या डर है ? कहा है न मिया-बीबी राजी तो क्या करेगा काजी। लड़की कहती है कि मर जाऊँगी लेकिन दूसरे के साथ शादी नहीं करूँगी। लड़का भी कहता है कि मैं उसके बिना नहीं रह सकता। अब कोई क्या कर सकता है ?

ज्ञान कहता है कि मैं सब जान लूँगा और ज्ञेय कहता है कि मैं जानने में आ जाऊँगा। इसप्रकार जब दोनों तैयार हैं तब तू गुप्त कैसे रह सकता है ?

हम डरते हैं कि बात खुल न जाय; किन्तु बात खुलने की बात तो वस्तु के स्वरूप में ही पड़ी है। बात भी खुलने के लिए तैयार बैठी है और खोलनेवाला ज्ञान भी उसे जानने के लिए तैयार बैठा है। दोनों तरफ से वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि दुनिया की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती।

ज्ञानी कहते हैं कि जब कोई किसी का कुछ अच्छा-बुरा कर ही नहीं सकता है तो फिर तेरे को गुप्त रखने का भाव क्यों है ?

कई लोग चिट्टियों में लिखते हैं कि पढ़कर फाड़ देना, यह मेरी बात किसी को कहना नहीं। उन लोगों को भय लगता है इसलिए वे ऐसा लिखते हैं। मैंने आज तक ऐसा नहीं लिखा। मेरा यह नियम है कि मैं एक पंक्ति लिखता हूँ तो यह जानकर ही लिखता हूँ कि सारी दुनिया इस बात को गारण्टी से जानेगी। मैं यह मानकर ही लिखता हूँ कि वह सबको अवश्य बतायेगा।

बात करने में भी मैं किसी से यह नहीं कहता हूँ कि यह बात सिर्फ तुमसे कहता हूँ, किसी से कहना नहीं। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि जब मेरे से ही यह बात कहे बिना नहीं रहा जा रहा है तो इससे क्या रहा जायेगा ?

सारे जगत तक यह बात पहुँचेगी — यह जानकर ही बात करो। जितना नियन्त्राण करना है, अपने में ही कर लो और यदि नहीं होता है तो मत होने दो; पर यह मत कहना कि किसी से कहना मत या तू किसी को बताना नहीं या पत्रा फाड़ के फेंक देना। तुमने जिस चिट्ठी में ऐसा लिखा, उस चिट्ठी की वह फटाफट दस फोटोकॉपी करायेगा; क्योंकि ये चिट्ठी उसके हाथ लग गई हैं, अब कहीं गड़बड़ न हो जाय। साधारण चिट्ठी को तो कोई संभालकर ही नहीं रखता है, संभालकर रखने का भाव भी नहीं आता। अरे भाई ! प्रगट होय तो होय, नहीं होय तो नहीं होय। दुनिया जाने तो जाने, नहीं जाने तो नहीं जाने।

जब कोई किसी का कुछ अच्छा-बुरा कर ही नहीं सकता है तो फिर अगुप्तिभय किसलिए ? जैसा कि स्पष्ट कहा है —

जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे।

वे तो सतत निःशंक हो, निजज्ञान का अनुभव करें।।

अब मरणभय के संबंध में सम्यग्दृष्टि का क्या चिंतन है ? — यह हम कलश पद्यानुवाद के माध्यम से समझते हैं —

मृत्यु कहे सारा जगत बस प्राण के उच्छेद को।

ज्ञान ही है प्राण मम उसका नहीं उच्छेद हो।।

तब मरणभय हो किसतरह हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों?

वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।59।।

सभी को मरण का भय रहता है। कोई मार न दे — इसके लिए हम हजारों गोलियाँ बनाते हैं और किसी के बिना मारे भी हम मर न जावें — इसके लिए भी हजारों गोलियाँ बनाते हैं। बस अंतर इतना है कि ये गोलियाँ दवाई की हैं और वे सब बंदूक की गोलियाँ हैं।

सारा जगत तो प्राणों के उच्छेद को ही मृत्यु मानता है और प्राण दस होते हैं — पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काय, आयु तथा श्वासोच्छ्वास। इन दस प्राणों के उच्छेद को सारा जगत मरण मानता है।

यद्यपि व्यवहार से प्राणी दस प्राणों से जीता है; किन्तु निश्चय से तो चेतना ही उसका प्राण है। उस चेतना का तो कभी उच्छेद होता ही नहीं है, तो मरणभय आया कहाँ से ?

इसलिए जब आत्मा का मरण हो ही नहीं सकता है, तब वे ज्ञानीजन मरणभय से भयभीत क्यों हों; वे तो सतत् निःशंक होकर निजज्ञान का अनुभव करते रहते हैं।

अब अंतिम अचानक भय के संबंध में सम्यग्दृष्टि क्या विचार करते हैं — यह इस कलश पद्यानुवाद के माध्यम से समझते हैं—

इसमें अचानक कुछ नहीं यह ज्ञान निश्चल एक है।

यह है सदा ही एकसा एवं अनादि अनंत है।।

जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे।

वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें।।160।।

यह अंतिम भय बड़ा विचित्रा है। मौत का, संपत्ति का, सभी का बढ़िया इंतजाम कर रखा है। वैद्य लोग कहते हैं कि बढ़िया-बढ़िया इलाज हमारे पास है। ज्योतिषी कहता है कि आपकी आयु की रेखा बहुत लंबी है, आपके ग्रह-नक्षत्रा भी अनुकूल हैं। हमारे प्रधानमंत्रीजी कहते हैं कि आप चिंता मत करो हमने अणुबम बना लिया है। सारा इंतजाम पक्का है; फिर भी कुछ अचानक न हो जाय। इसप्रकार की आशंका से भयभीत होना ही अचानक भय है।

डॉक्टर ने कल जाँच करके बता दिया कि अभी तो एक भी बीमारी नहीं है, फिर भी अचानक कुछ हो गया तो ?

अभी तो बादल साफ है, लेकिन अचानक पानी न बरस जाय। जब महीने भर पहले बादल उठते हैं, तब से वैज्ञानिक रोज देखते हैं और यह भी देखते हैं कि बादल किस दिशा में जा रहे हैं। जब उन्होंने देख लिया कि यहाँ से हजार-हजार मील तक बादल ही नहीं है; यदि हो भी तथा इसी दिशा में दौड़े भी, तब भी दस दिन पहले आ ही नहीं सकते। फिर किसलिए तू घबड़ा रहा है कि अचानक वर्षा नहीं हो जाय।

ऐसे ही एक फोगिया नाम की बीमारी होती है; वह भी अचानक भय है। कुछ भी नहीं है, फिर भी ऐसा लगता है कि मेरे भोजन में जहर तो नहीं मिला दिया है।

अरे भाई ! इस जगत में अचानक तो कुछ भी नहीं होता; सब कुछ सुनिश्चित है।

ज्ञान तो निश्चल स्वभाववाला है। उसमें अचानक कुछ होता ही नहीं है। यह सदा एक सा ही रहता है। अनादि-अनंत है, परिणमनशील है। ध्रुव अचानक परिणमनशील बन जाय या त्रिकाली ध्रुव परिणमित हो जाय — ऐसा कभी नहीं होता।

यह भी नहीं होता कि भव्य अभव्य हो जाय या अभव्य भव्य हो जाय। जब ज्ञानीजन यह सब जानते हैं, तब वे भयभीत क्यों होंगे? वे तो सतत् निःशंक होकर निजज्ञान का अनुभव करते हैं और निरन्तर निजज्ञान का अनुभव करनेवालों को कभी कोई भय नहीं होता।

इसप्रकार सप्तभयों की चर्चा के उपरान्त अब निशंकित अंगधारी सम्यग्दृष्टि को कर्मबंध नहीं होता, निरन्तर निर्जरा होती है — यह बताते हैं —

नित निःशंक सदृष्टि को कर्मबंध न होय।

पूर्वोदय को भोगते सतत निर्जरा होय ॥161॥

सम्पूर्ण निर्जरा अधिकार का भाव इन दो पंक्तियों में आ गया है। भोग के काल में भी सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है। यहाँ यह बात सिद्ध करनी है।

ऊपर कहे पद्य में भी यही कहा कि शंका से रहित, भय से रहित सम्यग्दृष्टि जीवों को 41 प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। वे सम्यग्दृष्टि पूर्वोदय को ही भोगते हैं; क्योंकि वे नया बंध तो करते ही नहीं हैं और उनको निर्जरा निरन्तर विद्यमान है। उनके कर्म ही नहीं, अपितु भोगने का भाव भी खिर जाता है।

निर्जरा अधिकार की पहली गाथा में द्रव्य निर्जरा का स्वरूप कहा था कि कर्म खिर जाते हैं, फिर दूसरी गाथा में कहा कि सुख—दुःख भोगने के बाद कायम नहीं रहते हैं, वे भी खिर जाते हैं। भोग भी खिर जाते हैं और भोगने का भाव भी खिर जाता है; इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा दोनों विद्यमान हैं, बंध नहीं है।

इसी बात को इस कलश पद्यानुवाद में भलीभाँति स्पष्ट किया है—

बंध न हो नव कर्म का पूर्व कर्म का नाश।

नृत्य करें अष्टांग में सम्यग्ज्ञान प्रकाश ॥162॥

नये कर्मों का तो बंध नहीं होता है तथा पूर्व कर्म नाश को प्राप्त हो

जाते हैं; अतः अब सम्यग्ज्ञान का प्रकाश ही शेष रहा। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश सर्वांग में प्रकाशित हो जाता है, ज्ञान ज्ञान, ज्ञान के अलावा कुछ शेष नहीं रहता है।

144

इसप्रकार विस्तार से निःशंकित अंग की चर्चा हुई; अब हम संक्षेप में बाकी के सात अंगों को समझेंगे।

दूसरे अंग का नाम है — निःकांक्षित अंग। इसका अर्थ है सांसारिक भोगों की कोई कांक्षा नहीं होना, इच्छा नहीं होना। इच्छा से तात्पर्य यहाँ चारित्र गुणवाली इच्छा नहीं, बल्कि श्रद्धा गुणवाली इच्छा है। सांसारिक भोगों में सुखबुद्धि नहीं होना, इसका नाम निःकांक्षित अंग है।

तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा अंग। विचिकित्सा का अर्थ है घृणा। सम्यग्दृष्टि को किसी भी पदार्थ में घृणा नहीं होती है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी लिखा है कि आत्मा के क्रोधादिक भावों में और पुरीषादिक द्रव्यों में अर्थात् मल—मूत्रादि में ग्लानि नहीं होना ही निर्विचिकित्सा अंग है।

छहढाला में ऐसा लिखा है —

“मुनितन मलिन न देख घिनावैं”

मुनियों के मलिन शरीर को देखकर घृणा नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। यहाँ पर विशेषरूप से मुनियों के मलिनतन की बात कही है; क्योंकि गृहस्थ तो प्रतिदिन नहाते हैं; अतः उनके मलिन होने की संभावना कम है; किन्तु वे मुनिराज जिन्होंने नहीं नहाने का व्रत लिया है, जिन्होंने अदंत—धोवन अर्थात् दातुन नहीं करने का नियम लिया है, उनका तो शरीर मैला ही रहनेवाला है — इसलिए ऐसा लिखा।

मिथ्यादृष्टि गृहस्थ के क्रोधादिक भावों में भी घृणा नहीं करना। जगत में जो वस्तु ग्लानि की है, उसमें उन सम्यग्दृष्टि जीवों को ग्लानि भाव नहीं रहता है। किसी के गाली देने पर ज्ञानीजन

तो यही देखते हैं कि यह तो कषाय में अपने आप ही जल रहा है, यह तो दया का पात्र है, क्रोध का पात्र नहीं।

तत्त्वज्ञान के संबंध में दृष्टि में मूढ़ता नहीं होना या सही बात समझ में आना ही अमूढ़दृष्टि अंग है।

उपगूहन अंग के दो अर्थ होते हैं पहला अपने गुणों की वृद्धि तथा दूसरे के दोषों को छिपाना। छिपाने का अर्थ उनकी तरफ ध्यान नहीं देना है। पर्याय में जो दोष होते हैं; वे ध्यान देने योग्य नहीं हैं। उन दोषों के संबंध में दुनिया को नहीं बताना। ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टि की होती है, उसका नाम उपगूहन अंग है।

यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से हम स्वयं डिग रहे हों तो स्वयं को और यदि हमारा कोई साधर्मी डिग रहा हो तो उसे समझा-बुझाकर जैसे भी संभव हो, उसी में स्थिर कर देना ही स्थितिकरण अंग है।

साधर्मियों से हार्दिक प्रीति होने का नाम वात्सल्य अंग है। भगवान की दिव्यध्वनि का जो सार है, वह जन-जन तक पहुँचे तथा मेरे गुणों में अर्थात् पर्याय में निरन्तर निर्मलता प्रकट हो — ऐसा भाव निरन्तर रहना प्रभावना अंग है।

ऐसे आठ अंग सम्यग्दृष्टि की परिणति में प्रगट हो जाते हैं। ऐसे आठ अंगों के धनी सम्यग्दृष्टि भोग के काल में भी निर्जरा करते हैं। यही निर्जरा अधिकार का सार है। यह करणानुयोग सम्मत बात है।

यदि एक बार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई तो कर्मों का नाश स्वयमेव निरन्तर होने लगेगा और अनंत संसार के कारणभूत कर्मों का बंध नहीं होगा।

कदाचित् पूर्वाभ्यास के कारण, पूर्वकर्म के उदय के कारण तेरे जीवन में जितनी पवित्रता होनी चाहिए, उतनी पवित्रता नहीं भी हो; तब भी तू निरन्तर मोक्षमार्ग की ओर दौड़ेगा, अनंत अतीन्द्रिय आनन्द की ओर दौड़ेगा। यही निर्जरा अधिकार का भाव है।●

उन्नीसवाँ प्रवचन

145

समयसार परमागम की चर्चा चल रही है, उसमें हमने यहाँ जीवा-जीवाधिकार से लेकर निर्जरा अधिकार तक की चर्चा की।

जीवाजीवाधिकार से संवर अधिकार तक भेदविज्ञान की चर्चा है; जिसमें स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद, रुपया, पैसा, शरीर और पर के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के परिणाम तथा निर्मल पर्यायों, गुणभेद और प्रदेशभेद — ये सब मैं नहीं हूँ, ये सब मेरे नहीं हैं, मैं इनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, इसप्रकार का भेदविज्ञान कराया।

जीवाजीवाधिकार में इन सबमें एकत्व और ममत्व छुड़ाया।

कर्त्ताकर्माधिकार में इन सबसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व के भाव को छुड़ाया। फिर पुण्य-पाप अधिकार में यह बताया है कि पाप के समान पुण्य भी मुक्ति के मार्ग में हेय है, बंध का कारण है; मुक्ति का कारण नहीं है।

आस्रवाधिकार में यह बताया है कि पुण्य और पाप दोनों आस्रव भाव हैं, आत्मा नहीं और ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के संयोग में भोग दिखाई भी दें तो भी उन्हें ऐसे कर्मों का आस्रव नहीं होता है, जो अनंत संसार के कारण हैं।

संवर अधिकार में इन भावों से भेदविज्ञान कराके उस भेदविज्ञान का अभिनन्दन किया। निर्जराधिकार में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि का पर पदार्थों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं होने से भोग भोगते हुए भी उसके निर्जरा होती है, उसके भोग निर्जरा के हेतु हैं, इस बात को युक्ति और आगम से विस्तार से समझाया।

अब बंधाधिकार आरंभ होता है। इसमें कर्मबंध के मूल कारण की मीमांसा होगी। इस अधिकार की आरंभिक गाथाओं में एक उदाहरण के माध्यम से इस बात को स्पष्ट किया गया है।

एक व्यक्ति अपने शरीर में तेलादि चिकने पदार्थ लगाकर बहुत

धूल वाले स्थान में तलवार आदि हथियारों से व्यायाम करता हुआ ताड़, तमाल, केला, बांस व अशोकादि वृक्षों को छेदता है, भेदता है, सचित्त-अचित्त पदार्थों का घात करता है और धूल धूसरित हो जाता है, धूल से लिप्त हो जाता है।

उक्त सन्दर्भ में विचार करने की बात यह है कि उक्त व्यक्ति को जो रजबंध (धूल का चिपटना) हुआ है; उसका मूल कारण क्या है ?

यदि हम गहराई में जाकर विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि रजबंध का एकमात्र कारण तैलादि पदार्थों की चिकनाहट ही है; धूलभरा स्थान और हथियारों से किया जानेवाला व्यायामादि नहीं; क्योंकि यदि उसके शरीर में तैलादि चिकने पदार्थ का लेप नहीं होता तो उसे रजबंध भी नहीं होता।

इसीप्रकार मिथ्यात्व और रागादि से युक्त अज्ञानी जीव कर्म पुद्गलों से भरे इस लोक में मन-वचन-काय संबंधी चेष्टायें करता हुआ अनेकप्रकार के सचित्त-अचित्त द्रव्यों का घात करता दिखाई देता है; तथापि उसको होनेवाले कर्मबंध का कारण मिथ्यात्व और रागादि भाव ही हैं, कार्माण-वर्गणायें, मन-वचन-काय की चेष्टा और चेतन-अचेतन का उपघात नहीं।

एक व्यक्ति ने गोली चलाई और उससे एक आदमी मर गया। इस घटना का गहराई में जाकर विश्लेषण करें तो इसमें तीन बिन्दु सामने आते हैं -

1. गोली चलने और उससे आदमी के मरनेरूप क्रिया।
2. गोली चलानेवाले के हृदय में उत्पन्न उक्त व्यक्ति को मारने का भाव।
3. 'मैं दूसरों को मार-जिला सकता हूँ' अज्ञानी की ऐसी मान्यता। मानलो गोली चलानेवाले उक्त अज्ञानी व्यक्ति को सबकुछ मिलाकर एक किलो पाप लगा।

उक्त पापबंध को उक्त तीनों बिन्दुओं में बाँटे और विचार करें कि किससे कितना पाप लगा होगा।

146

यदि इस दुनियाँ से पूँछो तो दुनियाँ तो यही उत्तर देगी कि पूरा एक किलो पाप व्यक्ति के मरने के कारण ही लगा; क्योंकि यदि व्यक्ति नहीं मरता तो फिर गोली चलानेवाले पर केस ही नहीं बनता, मुकदमा ही नहीं चलता; क्योंकि जगत की दृष्टि में तो अपराध हुआ ही नहीं है।

'मैं दूसरों को मार सकता हूँ' - इस मान्यता एवं दूसरों को मारने के भाव को तो यह जगत अपराध मानता ही नहीं है, पाप मानता ही नहीं है।

उक्त संदर्भ में जैनदर्शन का कहना यह है कि मरनेरूप क्रिया का एक ग्राम भी पाप नहीं; क्योंकि एक द्रव्य की क्रिया का कर्ता कोई दूसरा द्रव्य है ही नहीं, वह तो अपनी आयु की समाप्ति से ही मरा है।

यदि गोली चूक जाती और वह व्यक्ति नहीं मरता, तब भी उसे एक किलो ही पाप लगनेवाला था, 999 ग्राम नहीं; क्योंकि मारने का अभिप्राय व मारने का भाव दोनों ही हो गए थे।

जैनदर्शन में तो कृत-कारित-अनुमोदना का फल बराबर ही कहा है। देखो कितना अन्तर है जगत की मान्यता और जैनदर्शन की मान्यता में। जगत कहता है कि पूरा फल क्रिया का ही लगता है और जैनदर्शन कहता है कि क्रिया का रंचमात्र भी फल नहीं होता, पूरा फल मान्यता और भावों का ही लगता है।

देखो यह समयसार की अद्भुत बात। जिसप्रकार रजबंध का कारण चिकनाई ही है; उसीप्रकार बंध का कारण मूलतः मिथ्यात्व ही है, राग ही है; बाह्य पदार्थ बंध के कारण नहीं हैं।

अब मान्यता और भाव में बंटवारा करते हैं।

मारने के परिणाम के कारण मात्रा एक ग्राम बंध हुआ। 999 ग्राम बंध मिथ्या मान्यता के कारण हुआ। अब जगत कहता है कि ये तो अन्याय है, पर मैं कहता हूँ, मैंने तो मात्रा हजारवाँ भाग ही कहा है, शास्त्रों में तो अनन्तवाँ भाग लिखा है।

आगम में 'मैं किसी अन्य को मार सकता हूँ' – इस मिथ्या मान्यता का बंध अनन्तगुणा और मारने के भाव का बंध अनन्तवाँ भाग कहा है।

करणानुयोग के शास्त्रों में साफ-साफ लिखा है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रामोहनीय की अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ व नरकादि गतियाँ तो मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता के कारण ही बंधती हैं।

'तुम किसी को सुखी-दुखी नहीं कर सकते, मार-बचा नहीं सकते' – इस बात की चर्चा समयसार के बंधाधिकार में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में की है; जिसका सार इसप्रकार है –

निज आयु क्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही।

तुम मार कैसे सकोगे, जब आयु हर सकते नहीं।।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि तुम मार ही नहीं सकते; क्योंकि उसके आयुकर्म के क्षय से उसका मरण होता है और तुम आयुकर्म का क्षय कर नहीं सकते।

निज आयु से जीवित रहें, यह बात जिनवर ने कही।

तुम बचा कैसे सकोगे, जब आयु दे सकते नहीं।।

आज तक ऐसी कोई गोली नहीं बनी है, जिससे उसका आयुकर्म बढ़ जाये तो फिर तुम उसे किसप्रकार बचा सकते हो ?

इसप्रकार जब तुम किसी को मार नहीं सकते, बचा नहीं सकते तो फिर उस क्रिया का फल तुम्हें कैसे लगेगा ? लेकिन मारने का भाव तुमने किया है; इसलिए इसका फल तुम्हें लगेगा। 'मैं मार सकता हूँ' – ऐसी झूठी मान्यता तुमने की है, इसलिए इसका फल तुम्हें लगेगा।

बंध की प्रक्रिया को समझाते हुए बनारसीदासजी भी लिखते हैं—

कर्मजालवर्गना सौं जग मैं न बंधै जीव,

बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोग सौं।

चेतन अचेतन की हिंसा सौं न बंधै जीव,

बंधै न अलख पंच-विषै-विष रोग सौं।।

कर्म सौं अबंध सिद्ध जोग सौं अबंध जिन,

हिंसा सौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोग सौं।

इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव,

बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोग सौं।।

सारी दुनिया तो यही मानती है कि हम कर्मों से बंधे हैं; किन्तु समयसार की 14 वीं गाथा में लिखा है कि कर्मों ने आत्मा को छुआ तक नहीं है; बंधना तो बहुत दूर की बात है।

उक्त छन्द में चार उदाहरण दिये हैं –

1. कर्म सौं अबंध सिद्ध
2. जोग सौं अबंध जिन
3. हिंसा सौं अबंध साधु
4. ग्याता विषै भोग सौं

यदि कर्मों से आत्मा बंधता हो, तो सिद्धशिला में भी कार्माण वर्गणाएँ ठसाठस भरी हैं और वहाँ उसी क्षेत्रा में अनन्त सिद्ध भी हैं। जहाँ सिद्ध हैं, उसी अवगाहना में कार्माण वर्गणाएँ हैं। यदि उनसे कोई बंधता होता तो सिद्धों को भी बंधना चाहिए।

मन-वचन-काय की चंचलता से भी नहीं बंधते हैं; क्योंकि अरहंत भगवान का योग हमसे भी ज्यादा होता है; तथापि उनके बंध नहीं होता है।

अब कहते हैं कि चेतन-अचेतन की हिंसा से भी जीव नहीं बंधता है। मुनिराज ईयासमितिपूर्वक चल रहे हैं। वे चार हाथ जमीन देखकर चलते हैं; परन्तु जो जीव चार हाथ दूर से दिखाई ही नहीं देते, वे तो उनके पैरों के नीचे आकर मरते ही हैं।

मुनिराज स्नान नहीं करते, दातुन नहीं करते और वहाँ कीटाणु पैदा हो जायें तो वे मरते हैं; तब भी मुनिराज को बंध नहीं होता है।

यदि उससे बंध होता, तो उन्हें बंध होना चाहिए।

पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने से भी यह आत्मा बंध को प्राप्त नहीं होता और यदि बंधता होता तो भरतचक्रवर्ती जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि को भी बंधना चाहिए था; पर निर्जरा अधिकार में यह कहा है कि उनके तो असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, बंध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि विषयभोगों में रहता है, तो भी मिथ्यात्वादि का बंध नहीं होता।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए बनारसीदासजी लिखते हैं —

कर्मजाल—वर्गना कौ वास लोकाकास मांहि,

मन—वच—काय कौ निवास गति आउ मैं।

चेतन अचेतन की हिंसा बसै पुग्गल मैं,

विषै—भोग वरतै उदै के उरझाउ मैं॥

रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलख की,

यहै उपादान हेतु बंध के बढाउ मैं।

याही तैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूँ काल,

राग दोष मोह नाही सम्यक सुभाउ में॥

पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें तो लोकाकाश में रहती हैं, मन—वचन—काय, गति और आयु कर्म के उदय में होते हैं; चेतन—अचेतन संबंधी हिंसा पुद्गलरूप शरीर के वियोग का नाम है और पंचेन्द्रियों के विषय—भोग कर्मोदय की उलझन में होते हैं।

इसप्रकार इन सबका आवास आत्मा में नहीं है; किन्तु रागादिभावों रूप अशुद्धता और वीतरागतरूप शुद्धता आत्मा की अवस्थायें हैं; अतः रागादिरूप अशुद्धता ही आत्मा के बंध का उपादान कारण है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषों को तीनों काल अबंध कहा है; क्योंकि आत्मा के सम्यक्स्वभाव में मोह—राग—द्वेष भाव हैं ही नहीं।

निश्चय से तो प्रत्येक वस्तु स्वयं में ही रहती है; पर व्यवहार से यह कहा जाता है कि कार्माण वर्गणायें लोकाकाश में रहती हैं। यही

कारण है कि कार्माण वर्गणायें, मन—वचन—काय, चेतन—अचेतन की हिंसा और विषयभोग बंध के कारण नहीं है; बंध के कारण तो रागादिभाव ही हैं।

148

आगे कहा है कि राग दोष मोह नाही सम्यक् सुभाउ में — आत्मा का जो सम्यक् स्वभाव है, उसमें राग—द्वेष—मोह है ही नहीं। यहाँ सम्यक् रूप परिणमन स्वभाव की बात है। राग—द्वेष जुदे हैं और सम्यक् परिणमन जुदा है; इसलिए ज्ञानी के बंध नहीं हैं।

बंध के कारण मिथ्यात्वादि रागादिभाव हैं और कोई बंध का कारण नहीं।

सारे जगत ने क्रिया को ही बंध का कारण मान रखा है।

वे लोग क्रिया से ही पुण्य मानते हैं, क्रिया से ही पाप मानते हैं और क्रिया से ही धर्म मानते हैं।

पुण्य, पाप और धर्म ये सभी चैतन्य के परिणाम हैं; अतः ये चैतन्य में होंगे और चैतन्य के बंध के कारण भी ये ही हो सकते हैं; अन्य द्रव्य नहीं। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता—धर्ता है ही नहीं, तो फिर हम कैसे माने कि एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य को बांधा।

आत्मा के बंधन संबंधी यही संक्षिप्त कथन है।

जरा विचार तो करें कि एक पिंजरा है और उसमें तीन दिन का भूखा एक शेर बंद है। बगल में एक दूसरा पिंजरा है; उसमें एक बकरा बंद है, उसमें उसके खाने—पीने का बढ़िया इंतजाम है।

दोनों के बीच में एक काँच की दीवार है। वह काँच इतना निर्मल है कि दिखता ही नहीं कि यहाँ कुछ है भी या नहीं, लेकिन वह काँच वज्र के समान मजबूत है, दुनिया की कोई ताकत उसे तोड़ नहीं सकती। इसलिए बकरे को कोई खतरा नहीं है; क्योंकि शेर उस काँच को तोड़कर बकरे के पास नहीं जा सकता।

बकरा दिन—प्रतिदिन दुबला होता जा रहा है, शेर को देखकर उसकी जान सूखती है, खाने में मन नहीं लगता है; क्योंकि दीवार तो

उसे दिखती नहीं है और उसे लगता है कि शेर ने अभी आक्रमण किया तथा एक क्षण में मुझे खा जायेगा।

बकरा को वास्तविक खतरा बिल्कुल नहीं है, खतरा उसके अज्ञान में है, उसकी इस मिथ्या मान्यता में है कि शेर मुझे खा जायेगा; पर शेर तो उसे खा ही नहीं सकता, क्योंकि दोनों के बीच में वज्र की दीवार है। वह शेर टकरा-टकरा कर स्वयं चोटग्रस्त हो जायेगा; लेकिन वह बकरे तक पहुँच नहीं सकता है। फिर भी वह बकरा खाये-पिये बिना तो चार दिन में मर जायेगा पर यदि हृदय कमजोर हुआ तो तत्काल भी मर सकता है।

यहाँ प्रश्न है कि उस बकरे को किसने मारा ? शेर ने या बकरे के अज्ञान ने, उसकी मिथ्या मान्यता ने ?

इसीप्रकार दो द्रव्यों के बीच में वज्र की दीवार है। इसकारण वे पूर्ण सुरक्षित हैं। जिसका जो कुछ होगा, वह स्वयं उसके कारण ही होगा, किसी दूसरे के कारण कुछ भी होनेवाला नहीं है, लेकिन क्या करें ? सत्यस्वरूप का अज्ञानी को पता नहीं है।

एक कुत्ता, वकील और पण्डित के ऊपर भौंकने लगा तो पण्डित भागने लगा। उसे भागता देखकर वकील साहब कहते हैं कि क्यों भागते हो ? भारत में यह कानून है कि यदि उसने आपको घायल कर दिया तो उसे गोली से उड़ा दिया जायेगा, फाँसी की सजा होगी, म्यूनिसिपल्टी वाले पकड़ के ले जायेंगे।

पण्डितजी ने उत्तर दिया कि यह बात मुझे और आपको तो मालूम है; किन्तु उस कुत्ते को मालूम नहीं है न ? बाद में उसका जो होगा सो होगा, पर वह अभी तो हमें काट ही सकता है।

इसीप्रकार अज्ञानी को यह पता नहीं है कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर ही नहीं सकता; अतः व्यर्थ ही भयाक्रान्त रहता है।

ज्ञानी सात भय से रहित होता है, इसलिए उसे बंध भी नहीं है और अज्ञानी निरन्तर भयाक्रान्त रहते हैं। यह अशुद्धता उसके उपादान

की है और यह अज्ञान भी उसके उपादान में है और यही बंध का कारण है।

149 इसी मर्म को स्पष्ट करनेवाली 247 से 253 तक की गाथाएँ बंधाधिकार की प्राण हैं, जो कि निम्नानुसार हैं —

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।247।।
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ।।248।।
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ।।249।।
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।250।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवदं कदं तेसिं ।।251।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ।।252।।
जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेत्ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।253।।
(हरिगीत)

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ।।247।।
निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ।।248।।
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ।।249।।
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ।।250।।

सब आयु से जीवित रहें—यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं।।251।।
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं।।252।।
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो।।253।।

उक्त गाथाओं में आचार्यदेव ने उक्त मान्यता वालों को तीन-तीन बार महान उपाधि दी है कि सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो — ऐसा माननेवाला मूर्ख है, अज्ञानी है और ज्ञानी तो इससे विपरीत है।

इन सात गाथाओं में चार-चार बार यह बात कही है कि — यह बात जिनेन्द्र भगवान ने कही है। बातें तो बहुत होती हैं, लेकिन कुछ बातें बातों से स्वीकार नहीं होतीं; कहनेवाले के वजन से स्वीकार होती हैं।

यह इतनी साधारण बात नहीं है कि चपरासी कहे और हम मान लें। यदि चपरासी कहे कि आज साहब नहीं हैं, आप कल आना। तो हम मान लेंगे; लेकिन चपरासी ने यह कहा — कि आपका काम नहीं होगा। आप चले जाओ। तो हम कहेंगे — हम तेरे कहने से नहीं मान सकते, यह हम साहब के मुख से सुनना चाहते हैं। अब यदि साहब भी मना करें तो कहेंगे कि साहब मैं और ऊपर जाऊँगा, क्योंकि आपकी इस बात में इतना वजन नहीं है कि मैं आपकी मान लूँ। ऊपरवाले यह कह देंगे तो मैं यह बात मान लूँगा।

कोई जीव किसी को मारता और बचाता नहीं है — यह बात इतनी वजनदार है कि पण्डित हुकमचन्द तो क्या, आचार्य कुन्दकुन्द भी कहें तो लोग माननेवाले नहीं हैं। यह बात कुन्दकुन्दाचार्य जानते थे, इसलिए उन्होंने बार-बार यह कहा — यह बात मेरी कही हुई नहीं है। यह बात तीर्थंकर भगवान ने समवशरण में बैठकर सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव की उपस्थिति

में भरी सभा/समवशरण में कही थी।

गाथा नं. 248 में कहा कि आयु के क्षय से जीवों का मरण होता है — यह बात जिनेन्द्र भगवान ने कही है, तुम किसी की आयु तो हरते नहीं हो, तो कैसे कहते हो, कि मैंने उसे मारा ?

गाथा नं. 249 में कहा कि — जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है — ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। पर जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं; फिर उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ?

जिसप्रकार उक्त कथन मरण के बारे में किया; वही बात जीवन के बारे में भी समझना।

इसके बाद गाथा नं. 250 में कहा कि जो यह मानता है कि मैं इन्हें जिलाता हूँ अथवा दूसरों की सत्ता के कारण मैं जीवित रहता हूँ; वह मूढ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता है, वह ज्ञानी है।

फिर गाथा नं. 251 में कहा — जिन्हें तीन लोक और तीन काल के पदार्थ सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायों के साथ प्रतिसमय हाथ पर रखे हुए आंखों की तरह दिखाई दे रहे हैं; ऐसे सर्वज्ञदेव कहते हैं कि जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, तुम किसी को आयु तो देते नहीं हो तो तुम किसी को जिन्दा कैसे रखते हो ?

आगे गाथा नं. 252 में कहा कि जीव आयुकर्म के उदय से जीता है — ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। परजीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं, फिर उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया ?

जिसप्रकार का कथन जीवन-मरण के संबंध में किया, वैसा ही सुख-दुःख के बारे में भी समझना।

गाथा नं. 254 से 256 तक भी यही स्पष्ट किया गया है कि वह अपने पुण्यकर्म के उदय से सुखी होता है, तुम उसे पुण्य तो दे नहीं सकते हो, वह अपने पापकर्म के उदय से दुःखी होता है, तुम उसे पापकर्म तो दे नहीं सकते हो। इसलिए मैं दूसरों को जीवन-मरण,

और सुख-दुःख देता हूँ, यह बात मूर्खता भरी है और अज्ञान भरी है।

उक्त सम्पूर्ण कथन यह बात स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि जब मैं दूसरों का कुछ करता ही नहीं हूँ, तब उसके जीवन-मरण और सुखी-दुखी होने से मुझे कर्म का बंध कैसे हो सकता है? मुख्य बात तो यह है कि जो अपराध मेरे से हुआ ही नहीं; उसका बंध मुझे क्यों हो ?

लोक में भी यही न्याय है कि जब किसी का मरण न हो और उसके मारने के अपराध में किसी को फाँसी लगे — यह कैसे हो सकता है? वकील जज से कहता है कि जिस आदमी के मरने पर तुम उसे फाँसी की सजा दे रहे हो, वह तो जिन्दा है। जब मरण हुआ ही नहीं तो फिर सजा किस बात की।

आचार्यदेव भी वही तर्क यहाँ दे रहे हैं कि जब एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कुछ भला-बुरा, जीवन-मरण करता ही नहीं है तो अन्य जीवों के जीवन-मरण से मुझे बंध क्यों हो? वह तो मरा ही नहीं, यदि मरा भी है, तो भी मेरे कारण नहीं मरा तो मुझे बंध क्यों ?

लोक में भी कहावत है कि कौआ के कोसे ढोर नहीं मरते; क्योंकि यदि कौआ के कोसने से ढोर मर जाते होते तो एक भी ढोर जिन्दा नहीं बचता। कोसनेवाले कौआ की कमी थोड़ी ही है।

मैं तो ऐसा भी कहता हूँ कि कौआ के कोसे ढोर नहीं मरते और अम्मा के आशीर्वाद से बेटे पास नहीं होते।

ऐसी कौन-सी माता है, जो अपने बेटों को फर्स्ट-क्लास आने का आशीर्वाद नहीं देती। जब सच्चे दिल से हर माँ भरपूर आशीर्वाद देती है, फिर भी बेटे क्यों फ़ैल होते हैं ?

गोल्डमैडलिस्ट जानता है कि अम्मा के आशीर्वाद से कुछ नहीं हुआ। मैंने जो दिन-रात पढ़ाई की है, उसकी वजह से यह कमाल हुआ है; लेकिन व्यवहार की भाषा में ऐसा ही बोला जाता है। ऐसा नहीं कहा जाता है कि तेरे आशीर्वाद से क्या होता है? बोलने की

भाषा ऐसी ही है और यह बात अम्मा भी जानती है कि मेरे आशीर्वाद से कुछ नहीं हुआ। इसी का एक छोटा भाई है, वह फ़ैल हो गया और आशीर्वाद तो मैंने उसे भी कम नहीं दिया था।

151

माताएँ इतना पक्षपात तो करती ही हैं कि कमजोर बच्चे को ज्यादा आशीर्वाद देती हैं; क्योंकि वे जानती हैं कि होशियार बच्चा तो अपने आप ही पास हो जायेगा, उसे आशीर्वाद की जरूरत नहीं है; परन्तु कमजोर बच्चे को सहयोग की आवश्यकता है; अतः उसे भरपूर आशीर्वाद देती है, मन्दिर में जाकर भगवान से मन्तवें माँगती है, कहती है कि यदि मेरा बेटा पास हो गया तो छत्रा चढ़ाऊँगी, नारियल चढ़ाऊँगी, एक विधान करा दूँगी। मास्टरजी के पास जाकर भी दो पाँच सौ रुपया देकर बेटा को पास कराने की कोशिश करती है अर्थात् वह मात्रा कोरा आशीर्वाद नहीं देती है, बहुत कुछ उठा-पटक भी करती है।

पर जब वह पास नहीं होता है, तब यह भी जानती है कि मेरा आशीर्वाद कितना निरर्थक है, फिर भी आशीर्वाद तो देती ही है। लेकिन यदि वह सचमुच मानने लग जाय कि यह बेटा तो सचमुच मेरे ही आशीर्वाद से पास हुआ है तो सही नहीं है और यदि बेटा भी समझ जाय कि अम्मा के आशीर्वाद से पास हुआ हूँ तो वह भी धोखे में है।

जब लोग हमारे पास आते हैं और कहते हैं कि पंडितजी यह मकान आपका ही है और ये बाल बच्चे भी आपके ही हैं; तब ऐसा भ्रम हमें आज तक नहीं हुआ कि हमारा दिल्ली में भी एक मकान है। हम उस मकान को अपना मानकर ऐसा नहीं कहते कि भाईसाहब ! यह मकान हमारा है तो इसे खाली कर दीजिए, हम इसमें ताला लगाकर जायेंगे।

हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह कहना तो मात्रा व्यवहार है। यदि हम सचमुच ऐसा मानने लग जाय तो फिर हमारा व्यवहार भी झूठा और निश्चय भी झूठा है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि कौआ के कोसे ढोर नहीं मरते और अम्मा के आशीर्वाद से कोई पास नहीं होता। अपनी-अपनी योग्यता और अपनी मेहनत से ही सबकुछ होता है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच में वज्र की दीवार खड़ी है।

जब मेरे करने से परद्रव्य में कुछ होता ही नहीं तो उसके कारण मुझे बंध भी क्यों हो ? वह हमारे कारण मरा ही नहीं, फिर हमें बंध क्यों हो ? अरे भाई ! जो बंध हुआ है, वह तो रागादिभाव के कारण हुआ है।

यदि ऐसा है तो शास्त्रों में ऐसा क्यों लिखा है कि किसी जीव को मत मारो। अरे भाई ! यह तो भाषा है, उसका वास्तविक अर्थ यह है कि मारने का भाव मत करो; क्योंकि मारने की क्रिया मारने के भाव के बिना नहीं होती।

इसलिए अगले कलश में लिखा है कि तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां – फिर भी ज्ञानी जीव को अनर्गल प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जो क्रिया होती है, वह भावपूर्वक ही होती है और अज्ञानी की क्रिया तो विपरीत मान्यतापूर्वक ही होती है।

इसलिए मान्यता और भाव बंध के कारण हैं, क्रिया रंचमात्र भी बंध का कारण नहीं है।

यह बंध अधिकार है। बंध का असली कारण क्या है ? इसकी खोज का अधिकार है। इसलिए ऐसा कहा है कि बाहर की क्रिया-कलाप से आत्मा को बंध नहीं होता; बंध तो अपने परिणामों से होता है; इसलिए जीव को अपने परिणाम सुधारना चाहिए। ●

यह प्राणी अन्तर की ओर तो झांकता नहीं, पर की उधेड़-बुन में ही लगा रहता है। यह अखण्ड अनन्त शक्ति का भंडार ऐसा जो अपना आत्मस्वरूप, उसकी ओर तो देखता नहीं और इसकी दृष्टि दोषों को देखने में उलझी रहती है। दोष भी यह अपने नहीं देखता, दूसरों के देखता है; इसलिए अनन्त दुःखी और अशान्त बना रहता है।
— सत्य की खोज, पृष्ठ-177

बीसवाँ प्रवचन

152

समयसार परमागम की चर्चा चल रही है, जिसमें बंधाधिकार में हमने यह चर्चा की कि बंध का मुख्य कारण न तो कार्माण वर्णणाएँ हैं, न ही मन, वचन, काय की चंचलता; यहाँ तक कि चेतन-अचेतन की हिंसा भी बंध का कारण नहीं है।

हिंसा को सारी दुनिया में महापाप माना जाता है। अहिंसा परमो धर्मः तो जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त है, किन्तु समयसारजी में कहा है कि चेतन और अचेतन की हिंसा भी बंध का कारण नहीं है और यहाँ तक कि इन्द्रियों के विषयभोग भी बंध के कारण नहीं हैं। बंध का कारण यदि कोई है तो वह एक मात्र रागादि विकारी भाव हैं, मिथ्यात्व है, अज्ञान है, अंसयम है।

दूसरी मुख्य बात यह कही है कि जो कर्म का बंध होता है, उसमें सबसे बड़ा हिस्सा मिथ्या मान्यता का होता है, दूसरा हिस्सा शुभाशुभ भावों का होता है; जड़ की क्रिया से तो बंध और मोक्ष का कोई संबंध ही नहीं है।

परमसत्य बात यह है कि एक जीव दूसरे जीव को मार और जिला ही नहीं सकता है और सुखी-दुःखी भी नहीं कर सकता है। इस बंध अधिकार में 25-30 गाथाओं के लम्बे प्रकरण में करणानुयोग का आधार देकर यह बात सिद्ध करने का सफल प्रयास किया गया है।

प्रत्येक जीव अपने आयुर्कर्म के उदय के अनुसार ही जिन्दा रहता है और आयुर्कर्म के क्षय होने पर मरता है। जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को आयुर्कर्म दे ही नहीं सकता है, तब वह उसे कैसे मार सकता है और कैसे जिला सकता है ?

यही सिद्धान्त सुख-दुःख के संबंध में भी समझना चाहिए कि जब प्रत्येक जीव अपने असाता कर्म के उदय से दुखी होता है और साता कर्म के उदय से सुखी होता है और तुम किसी को साता और असाताकर्म दे नहीं सकते तो उसके सुख-दुःख के देनेवाले तुम कैसे हो सकते हो?

यह एक महान सिद्धान्त है। यदि इसके बारे में हम गहराई से विचार करें तो हमारे जीवन में सुख और शांति आ सकती है।

हमारी यह मान्यता है कि कोई मुझे मार न दे, कोई मुझे दुखी न कर दे; इससे हम निरन्तर भयाक्रान्त रहते हैं तथा मैं दूसरों को सुखी-दुखी कर सकता हूँ, मार सकता हूँ — ऐसी श्रद्धा के कारण दूसरों को दबाकर उन्हें अपने कब्जे में रखने के विकल्प में उलझे रहते हैं। इसलिए हम दुःखी हैं।

जगत में सुरक्षा के नाम पर जितने भी शस्त्रों का निर्माण हो रहा है; वह सब इसी मूल मान्यता के आधार पर ही हो रहा है कि मुझे अपनी सुरक्षा का इंतजाम करना है। अरे भाई ! हथियार किसी की मृत्यु का कारण तो हो सकते हैं, सुरक्षा का नहीं; लेकिन हम उनका उत्पादन सुरक्षा के नाम पर ही करते हैं।

खोटे काम के अच्छे नाम रखना जितना हिन्दुस्तानी जानते हैं, उतना और कोई नहीं जानता। मछलियों को मारने का धंधा करते हैं और नाम रखते हैं मत्स्यपालन उद्योग। काम करते हैं मारने का, मारकर खाने का और नाम रखते हैं पालने का।

इसीप्रकार चूहे मारने की दवा। अरे भाई ! दवा तो उसे कहते हैं, जो बचाने का काम करे। क्या मारने की भी कोई दवाई हो सकती है ?

मेरे कहने का आशय यह है कि हमने अपनी सुरक्षा के नाम पर जो हथियार बनाए हैं, वे हमारी मौत के पैगाम बन गये हैं। जो मारने के काम आते हैं, उन्हें हम बचाने के नाम पर बनाते हैं। कोई हमें मार न दे, बस इसके लिए यह सारा इन्तजाम है।

पर भाई साहब ! मैं आपसे ही पूछता हूँ कि आपको कोई नहीं मारे पर, आप स्वयं भी तो बीमार होकर मर सकते हैं।

इसपर वे कहते हैं कि हमने उसका भी इंतजाम किया है एन्टीवायोटिक्स दवाईयाँ बनाकर।

एन्टीवायोटिक्स का हिन्दी अनुवाद है जीवनरक्षक दवा। वास्तव में तो वह कीटाणुनाशक है; किन्तु हमने जीवनरक्षक नाम दिया।

153

अंग्रेजों ने तो ईमानदारी से उसका नाम एन्टीवायोटिक्स अर्थात् कीटाणुओं के विरुद्ध ही रखा था।

दूसरे हमें न मार दें — इसके लिए हमने अणुलम्ब बनाये और अपने आप न मर जाय — इसके लिए हमने एन्टीवायोटिक्स दवाईयाँ बनाईं।

ऐसा ही सुख-दुःख के सन्दर्भ में भी समझना। यदि कोई किसी को बचा सकता होता तो हमारे बाप दादा भी सब अभी तक जिन्दा होते; किन्तु आज वे नहीं हैं।

यदि कोई कहे कि पहले ये दवाईयाँ नहीं थीं, इसलिए वे नहीं बच सके। उनसे मैं कहता हूँ कि अब आप तो अगली सात पीढ़ी तक रहेंगे न! क्या इसकी कोई गारंटी है ?

लोग कहते हैं कि न सही मृत्यु से बचाव; पर कम से कम दुःख तो नहीं हो। उसके लिए हमने दर्दनाशक व दुःखनिवारक दवाईयाँ बनाई हैं।

इस तरह कोई हमें दुखी न कर दे, मार न दे और हम स्वयं न मर जाय — इस लक्ष्य से ही हमने सारा इंतजाम किया है।

इस बंधाधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता है, बचा ही नहीं सकता है तथा सुखी-दुखी भी कर ही नहीं सकता है; तब फिर क्या कारण रह जाता है कि हम यह माने कि हम इन उपायों से बच सकते हैं और सुखी हो सकते हैं।

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ।।262 ।।

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।

ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।।265 ।।

(हरिगीत)

मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से।

यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ।।262 ।।

ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से।

परवस्तु से ना बंध हो हो बंध अध्यवसान से।।265।।

बंध का संबंध अध्यवसान भावों से है, जीवों के मरने या न मरने से नहीं। यह निश्चय से बंध का संक्षेप है।

यद्यपि यह सत्य है कि वस्तु को लक्ष्य करके अध्यवसान भाव होते हैं, लेकिन उससे बड़ा परमसत्य यह है कि बंध अध्यवसान भावों से होता है, वस्तु से नहीं।

उपर्युक्त दोनों गाथाएँ बंध अधिकार के केन्द्रीय विचार को बतानेवाली गाथाएँ हैं।

कोई कहता है कि यदि अध्यवसान भावों से बंध होता है तो तुम अध्यवसान भावों के त्याग करने की बात कहो, मारने के त्याग की बात क्यों कहते हो, यह कहो कि मारने का भाव मत करो, यह क्यों कहते हो कि किसी को मारो मत। किसी को दुखी करने का भाव मत करो, यह कहो, यह क्यों कहते हो कि किसी को दुखी मत करो; क्योंकि जब तुम ऐसा कहते हो कि किसी को मारो मत, दुखी मत करो, तो हमें ऐसा लगता है कि जैसे हम मार सकते हैं, दुखी कर सकते हैं।

मान लो, मैं किसी के पास जाऊँ और कहूँ कि साहब इस कागज पर साइन कर दीजिए तो वह एकदम से अकड़ जाता है।

उसके यह पूछने पर कि यह क्या है ? हम कहें कि अरे! कुछ नहीं। यहाँ की सफाई ढंग से हो, इसके लिए म्युनिसिपल्टी में एप्लीकेशन दे रहे हैं और भीड़ के साइन कराना है। आप करोगे तो ठीक है और नहीं करोगे तो भी कोई बात नहीं।

तब वे कहते हैं कि ऐसी बात है तो लाओ, कर देते हैं।

यदि उनसे यह कहा जाय कि आप साइन नहीं करोगे तो हो सकता है कि मेरे को फांसी लग जाय।

यह जानते ही वे भगवान बन जायेंगे और कहेंगे कि – आखिर मेरी भी जिम्मेदारी है, मुझे भी तो कुछ समझना पड़ेगा। अन्ततोगत्वा सारी जिन्दगी गुलाम बनाने की कीमत पर वह साईन करेगा। उसे

बस इतना पता लग जाना चाहिए कि उसके साईन के बिना हमारा कुछ काम अटक सकता है; फिर देखो, उसके तेवर !

शास्त्रों में कहा कि मारो मत तो उसने नहीं मारने का संदेश तो नहीं लिया, बल्कि यह ग्रहण किया कि मैं मार भी सकता हूँ।

अरे भाई ! कोई जीव किसी को मार ही नहीं सकता है तो वे कहते हैं कि तुमने ऐसा क्यों कहा कि मारो मत।

अरे ! जिनवाणी में जो ऐसा लिखा है कि तुम मारो मत – इसका आशय तो यह है कि तुम मारने का भाव मत करो, इससे तुम्हें कर्म-बंध होगा, तुम नरक में जाओगे।

हम जो तुमसे यह कह रहे हैं कि मत मारो, वह इसलिए नहीं कह रहे हैं कि तुम इसे मार सकते हो, उस पर दया करो; बल्कि तुम अपने पर दया करो, इसके लिए कह रहे हैं। यदि तुम्हें नरक में नहीं जाना हो तो तुम मारने का भाव मत करो; क्योंकि मार तो सकते ही नहीं हो।

बड़े दुःख की बात है कि जिनवाणी में ऐसे व्यवहार वचन आते हैं कि मारो मत, बचाओ सुखी करो; तब यह समझ लेता है कि मुझे मारने का अधिकार है, मैं बचा सकता हूँ, मैं सुखी कर सकता हूँ। अरे भाई! यह कर सकनेवाला उपदेश नहीं है। यह तो चरणानुयोग की भाषा का उपदेश है, इसका अर्थ है कि तुम मारने का अभिप्राय मत करो, नहीं तो तुम्हें भयंकर कर्मबंध होगा।

अपने यहाँ शास्त्रों में एक उदाहरण आता है कि एक बहुत बड़ा एक हजार योजन का मत्स्य स्वयंभूरमण समुद्र में होता है और उसके कान में एक चावल के बराबर छोटा तंदुलमत्स्य होता है। वह बड़ा मत्स्य मुँह खोल देता है तो सैकड़ों मछलियाँ उसके मुँह में आती हैं और जाती हैं।

वह कान में बैठा तंदुल मत्स्य सोचता है – यह कैसा मूर्ख है। इसके मुँह में इतनी मछलियाँ आ गई हैं। यदि यह एक बार मुँह दबा लेता तो सारी पेट में चली जातीं और इसका पेट भर जाता; पर ये सब तो बाहर निकल रही हैं। यदि मैं इसके स्थान पर होता तो एक को नहीं छोड़ता।

यद्यपि वह एक भी मछली को नहीं खा सकता है; क्योंकि वह तो उसके कान में बंद है; तथापि वह अपने इन परिणामों के कारण सातवें नरक में जाता है।

अब आप ही बताओ वह किस कारण नरक गया, मछलियों के मरने से, मछलियों के मारने के भाव से या मार सकता हूँ — इस अभिप्राय से।

तब फिर मारो मत — यह क्यों कहा जाता है? इस शंका के समाधान के लिए गाथा नं. 265 में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

यद्यपि जीवों के जो अध्यवसान होते हैं, वे वस्तु के अवलम्बन पूर्वक ही होते हैं; तथापि वस्तु से बंध नहीं होता, अध्यवसान से बंध होता है।

किसी को गुस्सा आता है तो वह हवा में नहीं आता। यदि कोई ऐसा कहे कि मुझे बहुत गुस्सा आ रहा है। यदि पूछें कि किस पर? वह कहे कि किसी पर नहीं, बस ऐसे ही।

पर भाई ! ऐसा नहीं होता। जो व्यक्ति उस वक्त ज्ञान का ज्ञेय होगा, उसके लक्ष्य से गुस्सा आयेगा। क्रोध जब आयेगा तो किसी न किसी वस्तु के आधार से ही आता है।

यदि लोभ होता है तो वह भी पैसे का, स्त्री का, पुत्र का, मकान का, जायदाद का, यश का, किसी न किसी का होता है; ऐसा नहीं होता कि वैसे ही लोभ हो रहा हो।

अध्यवसान भाव वस्तु को लक्ष्य करके होते हैं, परन्तु उन वस्तुओं से बंध नहीं होता, जिन वस्तुओं को लक्ष्य करके अध्यवसानभाव होते हैं, बल्कि अध्यवसानभावों से बंध होता है।

उन अध्यवसान भावों को छुड़ाने के लिए ऐसा कहते हैं कि वस्तु को छोड़ो, रुपए—पैसे को छोड़ो। रुपये—पैसे का लोभ छोड़ो — ऐसा नहीं कहा जाता है; फिर भी उसका अर्थ यही होता है कि रुपये—पैसे का लोभ छोड़ो।

माफ कर दो — इसका अर्थ है तू अपने को माफ कर दे अर्थात् उसके लक्ष्य से जो गुस्सा तुझे आ रहा है, उसे छोड़ दे, क्योंकि यदि तू उसे माफ नहीं भी करे तो भी तू उसका कुछ नहीं कर सकता।

155

इसीप्रकार के भाव को स्पष्ट करनेवाला निम्नांकित छन्द दृष्टव्य है—
तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यः भाग्यात्परं नैव ददाति किञ्चित्।
अहर्निशं वर्षति वारिवाहा, तथापि पत्राः त्रितयः पलाशः।।

चाहे दिन रात भी बरसात हो, तो भी ढाक के पत्ते एक डाली में तीन ही होंगे, पाँच पत्ते होनेवाले नहीं हैं। यदि दिन और रात भी तुम सेवा करो और राजा तुमसे सन्तुष्ट हो जाय तो भी राजा तुम्हें जो देगा वह भाग्य से अधिक नहीं हो सकता। तुम्हारे भाग्य में जितना होगा, वह तुम्हें उतना ही देगा।

आप भी यदि चपरासी से खुश होते हो तो उसे 500 रुपये का इनाम देते हो और यदि क्लर्क से खुश हो तो 5000 रुपये का इनाम देते हो। यदि साहब से खुश होते हो, तो एक लाख रुपये देते हो।

जैसी उसकी हैसियत होती है, उसके हिसाब से तुम्हें देने का भाव आता है। जैसा उसके पुण्य का उदय है, उसके अनुसार उसे देने का भाव आता है। इसका मतलब है कि तुमने कुछ नहीं दिया।

चरणानुयोग की भाषा ही ऐसी होती है कि मारो मत, सताओ मत, दुःखी मत करो, परोपकार करो; लेकिन उसका अर्थ यही होता है कि उसके लक्ष्य से तुम छोटे भाव मत करो, उससे तुम्हें कर्मबंध होगा।

यदि किसी से कहे कि साहब ! आपको जरूर पधारना पड़ेगा, आपके पधारने से हमारे शिविर की शोभा होगी तो एक मिनिट में उनके तेवर बदल जाते हैं और वे कहते हैं कि मुझे अध्यक्ष बनना है या मुख्य—अतिथि ? वे सोचते हैं कि यदि मेरे से उनकी शोभा होती है तो उसका कुछ हिस्सा मुझे भी मिलना चाहिए, उसे वसूली करने का भाव आरंभ हो जाता है।

यदि किसी विद्वान से कहे कि आप पधारो, आपका व्याख्यान

सुनने के लिए हजारों लोग आते हैं; आप नहीं आयेंगे तो हमारा यह शिविर बिगड़ जायेगा, तो एक मिनिट में वे भगवान बन जाते हैं।

यदि साथ में हम यह भी कह दें कि असली बात तो यह है कि आप नहीं भी आवेंगे तो भी एक आदमी कम होनेवाला नहीं है और जो आयें है, उन्होंने तो यह पूँछा भी नहीं कि कौन-कौन विद्वान आ रहे हैं? एक बच्चे ने भी यह नहीं पूँछा कि वे क्यों नहीं आये, कब आयेंगे या नहीं आवेंगे ? इतना सुनते ही वे टंडे पड़ जाते हैं।

अनादिकाल का जो अज्ञान है, उसका नशा इस जीव को बहुत तेजी से चढ़ता है। बंध अधिकार की ये गाथाएँ उस नशा को उतारने वाली हैं।

परवस्तु को लक्ष्य करके विकारी भाव होता है, परवस्तु को आधार करके ही मिथ्या मान्यता होती है कि मैं दूसरों को सुखी-दुखी कर सकता हूँ या मार-जिला सकता हूँ; यही कारण है कि वस्तु के त्याग करने की बात कही जाती है। वास्तव में त्याग तो अध्यवसान भावों का ही होता है।

समयसार के अंत में 47 शक्तियों का प्रकरण आयेगा, उसमें एक त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है, जिसका अर्थ है कि भगवान आत्मा किसी को छोड़े या किसी को ग्रहण करे - ऐसी शक्ति से शून्य है अर्थात् किसी को ग्रहण नहीं कर सकता और किसी को छोड़ भी नहीं सकता। जब ग्रहण ही नहीं किया तो छोड़ेगा क्या ?

कोई कहे कि मैंने 10 लाख रुपये छोड़ दिए ?

पूछा, कैसे छोड़ दिए ? तो कहता है कि वह बेईमान है, मेरे रुपये खा गया, वह देता ही नहीं है, मैंने बहुत कोशिश कर ली, धमका लिया; लेकिन देता ही नहीं है; इसलिए मैंने छोड़ दिए।

अरे भाई ! तूने क्या छोड़े। पूरी कोशिश कर ली है न !

तुम किसी को ग्रहण नहीं कर सकते हो और किसी को छोड़ भी नहीं सकते हो ? किसी का कुछ कर नहीं सकते हो ? यही वस्तु का

स्वरूप है; लेकिन जितने भी खोटे भाव होते हैं, वे सब परवस्तु, के लक्ष्य से होते हैं।

जब हम कहते हैं कि उसे छोड़ दो, तो वास्तव में तो उसके लक्ष्य को छोड़ना। उसमें कुछ करने की मान्यता को छोड़ने का यह उपदेश है।

गहराई में जाकर यदि विचार करें तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता ही नहीं है और यही बात जिनेन्द्र भगवान ने कही है—

इसी बात को अमितगति आचार्य ने सामायिक पाठ में भी कहा है—
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥30॥

(हरिगीत)

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।

करें आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥३०॥

शुभाशुभ कर्म जो हमने पहले किये हैं, उन्हीं का फल हम प्राप्त करते हैं; उपादान की दृष्टि से उसके कर्ता हम हैं। निमित्त की दृष्टि से हमारा पुराना बांधा हुआ कर्म का उदय है।

यदि हम ऐसा माने कि सुख और दुख कोई दूसरा हमें देता है, तो जो कर्म हमने स्वयं किए, वे बेकार हो गये।

जरा कल्पना करो कि हम सारी जिन्दगी पुण्य करें और फिर भी हमें कोई दुःखी कर दे तो हमारे अच्छे भाव करने का क्या फायदा हुआ ? या हम सारी जिन्दगी खोटे भाव करें फिर भी हमें कोई सुखी कर दे तो हमें खोटे भाव करने से क्या नुकसान हुआ ?

ऐसी स्थिति में कोई भी आदमी अच्छे भाव करने की कोशिश क्यों करेगा और खोटे भाव करने से क्यों डरेगा ? फिर हम तुम्हारी सेवा करेंगे; क्योंकि जैसा तुम करोगे, वैसा होगा। हमारे अच्छे-बुरे कर्म करने से क्या होता है ?

जब हमने अच्छे कर्म किए हैं, तो हमें अच्छा फल मिलना ही चाहिए। समझ लो कि मैंने अच्छी तरह पढ़ाई की है और परीक्षा की कॉपी

में सारे प्रश्नों के सही उत्तर लिखे हैं और फिर भी मास्टरजी हमें फ़ैल कर दें, तो पढ़ाई पढ़ने से क्या फायदा ? फिर तो मास्टरजी की सेवा करो, यही सबसे बढ़िया बात है न ?

यदि हम कॉपी खाली रख आए और कुछ भी पढ़ाई नहीं की और मास्टरजी हमें पास कर दें तो भी पढ़ने की क्या जरूरत है, मास्टरजी की सेवा करो।

आप कहे कि मास्टरजी की सेवा तो करना ही चाहिए।

अरे भाई ! करना तो चाहिए, लेकिन पास होने के लिए नहीं। पास होने के लिए तो पढ़ाई ही करना चाहिए।

किसी मास्टर को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि विद्यार्थी कोरी कॉपी रख आये और वह पास कर दे तथा किसी मास्टर को यह अधिकार भी नहीं दिया जा सकता है कि वह पूरे प्रश्न का जबाब दे और मास्टर उसे फ़ैल कर दे। जितने प्रश्नों के उत्तर दिए, उनकी सही-सही जाँच करके, उतने नम्बर देना ही उस मास्टर का कर्तव्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह बेईमान है। कम ज्यादा नम्बर देने का अधिकार उसे नहीं है।

इसीप्रकार जैसे मैंने कर्म किए, वैसा फल मिलना मेरा अधिकार है; यदि भगवान भी उसे बदल दे, तो वह मेरे अधिकार की सीमा का उल्लंघन करता है। यह वस्तुस्वरूप के विरुद्ध है और अन्याय भी है कि मैं जिन्दगी भर पुण्य करूँ और फिर भी कोई भगवान मुझे दुःखी कर दें।

यदि भगवान कुछ करते हैं तो महावीर भगवान ने राजा श्रेणिक को नरक में जाने से क्यों नहीं रोक लिया ? वह तो उनका सबसे प्यारा शिष्य था, श्रावकोत्तम था; श्रावकों में सबसे बड़ा शिष्य था। वे तीर्थकर भगवान थे, अतुल्य बल के धनी थे। अनंतवीर्य के धनी थे; कर सकते थे तो कर देते उसका उद्धार।

यदि कहो कि उसने नरकायु बांध ली थी तो वह अपने कर्म के अनुसार ही हुआ न, अपनी पर्यायगत योग्यता के अनुसार ही हुआ

न ? दुनिया की कोई ताकत किसी को बचा नहीं सकती है, मार नहीं सकती, सुखी-दुखी नहीं कर सकती – यही वस्तु का स्वरूप है।

यदि कोई किसी को दे सकता है और ले सकता है तो स्वयं किए गये कर्म सब बेकार हो जायेंगे।

हिन्दी साहित्य में सेनापति नाम के एक रीतिकालीन कवि हुए हैं, उन्होंने गंगा की स्तुति लिखते हुए व्यंग्य में एक महत्त्वपूर्ण बात की है –

हे गंगा मैया ! तू पापप्रचारणी है, पापविनाशनी नहीं।

किसी ने कहा कि हमने तो सुना है कि गंगा में गोता लगाने से सारे पापों का नाश हो जाता है, वह पापों को धोनेवाली है और तुम कहते हो कि वह पाप का प्रचार करनेवाली है।

अरे भाई ! जिसके पास ऐसी गंगा मैया हो कि चाहे जितने पाप करे और एक गोता लगाने से सारे पाप धुल जाय; वह पाप करने से डरेगा क्यों ? दिन भर जमकर पाप करें, शाम को एक डुबकी लगाये और सब पाप साफ हो जाय तो वह पापप्रचारणी हुई कि पापनाशनी ?

मेरे इस सफेद कुर्ते में यदि जरा-सा धब्बा लग जाय, तो पहनने के काम का नहीं रहता है; इसलिए मैं संभलकर रहता हूँ। यदि मुझे ऐसा पाउडर मिल जाय कि दाग का पता ही नहीं चले तो फिर मैं क्यों डरूँगा, फिर तो चाहे जितने धब्बे लगे मेरे सफेद कुर्ते पर, मैं उस पाउडर में डालूँगा और तुम ढूँढते रह जाओगे कि वे दाग कहाँ गये ?

इसीप्रकार यदि जगत में ऐसा कोई इंतजाम हो कि पाप कर्मों को बिना भोगे ही धोया जा सकता हो तो फिर कोई पाप करने से क्यों डरेगा ?

न्याय तो यह है कि जिसने अपराध किया है, उसे दण्ड मिलना ही चाहिए और जिसने अच्छा काम किया है, उसे उसका फल भी मिलना ही चाहिए।

स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेनेवाले एक माखनलाल चतुर्वेदी नाम के कवि हुए हैं; वे लिखते हैं –

हे ईश्वर तू क्या कर सकता है इंसाफ।

अरे प्रार्थना की रिश्वत पर कर देता है माफ।।

हे भगवान ! तू इन्साफ क्या करेगा ? क्योंकि कोई कितने भी पाप क्यों न करे; तू तो जरा-सी प्रार्थना करने पर माफ कर देता है न। माफ करनेवाले इन्साफ नहीं कर सकते।

वे कहते हैं कि यदि कोई आदमी मुझे पीटे, तो मैं उसकी शिकायत भगवान तेरे दरबार में लेकर नहीं आऊँगा। मैं उस इन्स्पेक्टर के पास जाऊँगा जो एक नम्बर का घूसखोर होगा; क्योंकि तुम्हारे पास आने से क्या फायदा ? वह आयेगा, माफी माँगेगा, एक नारियल चढ़ायेगा और तुम सारे पाप माफ कर दोगे; तुम्हें तो ढंग से घूस लेना भी नहीं आता।

मैं पहली बात यह कहता हूँ कि उसने मेरे विरुद्ध अपराध किया है, माफ करने का क्या अधिकार भी तुझे है ? वह मुझसे माफी माँगे और मैं माफ करूँ या न करूँ — यह मेरा अधिकार है।

वह पुलिस इन्स्पेक्टर कम से कम 1 हजार रुपए की घूस लिये बिना उसे नहीं छोड़ेगा तो मुझे पीटने का कम से कम 1 हजार रुपये का जुर्माना तो हुआ। तेरे पास तो वह भी नहीं होता है, न्याय सजा देने का नाम है, माफ करने का नहीं।

इसलिए कहा है कि यदि दूसरे के द्वारा किसी में कुछ होने लग जाय, तो फिर हमारे द्वारा स्वयं किये गये कर्म बेकार हो जायेंगे।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददापि किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

(हरिगीत)

अपने कर्म सिवाय जीव को कोई न फल देता कुछ भी।

पर देता है यह विचार तज थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि ॥३१॥

प्राणियों को अपने द्वारा किए गये कर्मों को छोड़कर कोई कुछ नहीं देता — ऐसा विचार करके समझदार लोगों को दूसरा मुझे दे देगा — ऐसी दीनता की बुद्धि छोड़ देनी चाहिए। मैं दूसरों को कुछ दे दूँगा — ऐसे दया का अहं भी छोड़ देना चाहिए।

जरा कल्पना करो कि यदि किसी क्लर्क के दिमाग में यह जम

जाये कि काम करने से क्या होता है; तरक्की तो तब होगी, जब साहब खुश रहेंगे। — ऐसी श्रद्धावाला क्लर्क काम क्यों करेगा ? वह तो साहब के घर के चक्कर लगायेगा।

158

यदि एक विद्यार्थी को यह भरोसा हो जाय कि पढ़ने से क्या होता है ? पास तो तभी होंगे, जब मास्टरजी खुश होंगे। वह विद्यार्थी भी पढ़ेगा क्यों ? वह भी तो मास्टरजी के घर के चक्कर लगायेगा।

एक व्यापारी को यह विश्वास हो जाय कि न्याय की कमाई से कहीं कोई आज तक करोड़पति हुआ है ? यदि करोड़पति बनना है, तो नीचा-ऊँचा तो करना ही पड़ेगा। वह ईमानदार कैसे रहेगा ?

एक मुख्यमंत्री को यह भरोसा हो जाय कि जनता की सेवा करने से क्या होता है ? गद्दी तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक कि प्रधानमंत्री खुश रहेंगे, वह जनता की सेवा क्यों करेगा ?

क्लर्क को यह भरोसा हो जाय कि तरक्की तो काम करने से होगी, साहब के घर के चक्कर काटने से क्या होता है ?

अगर विद्यार्थियों की यह श्रद्धा हो जाय कि मास्टरजी के घर के चक्कर काटने से क्या होता है? पास तो तब होऊँगा, जब पढ़ाई करूँगा।

व्यापारी को यह भरोसा हो जाय कि किसी को जिन्दगी में एक बार ही धोखा दिया जा सकता है और वह भी सबको नहीं दिया जा सकता है। यदि लम्बे समय तक सही व्यापार चलाना है और मुनाफा कमाना है तो ईमानदारी से ही, विश्वास से ही काम करना होगा।

मुख्यमंत्री को यह भरोसा हो जाय कि दिल्ली के चक्कर काटने से क्या होता है ? जबतक जनता जर्नादन खुश नहीं रहेगी; तबतक मेरी गद्दी सुरक्षित नहीं है। तो वह दिल्ली के चक्कर क्यों लगायेगा?

यदि यह सबकुछ हुआ तो देश की काया पलट जायेगी।

इसीप्रकार जब आत्मा को यह भरोसा हो जाय कि मेरे सुख-दुःख का कारण मैं ही हूँ, तो वह पर की शरण में क्यों जायेगा, अपने आत्मा की आराधना करेगा।

समयसार में तो यह कहा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता है — ये मान्यता अज्ञान है और यही मान्यता बंध का कारण है।

जगत में जो जीव मर रहे हैं, सुखी हो रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं; वे उनके पुण्य-पाप के उदय से हो रहे हैं। उनसे तेरे बंधने का और छूटने का कोई भी संबंध नहीं है। यही बंध अधिकार का मुख्य केन्द्रीय विचार है। समग्र बंध अधिकार में अनेक उदारण व तर्क देकर इसी बात को सिद्ध किया है।

देखो ! परमाणुमात्रा भी परपदार्थ इसका नहीं है, फिर भी इसने अपनी मान्यता में अनंतानंत पदार्थों पर कब्जा कर रखा है।

अनादिकालीन ऐसी मान्यता होने पर भी एक भी परमाणु आज तक इसका हुआ नहीं है। यदि इसकी मान्यता से कुछ होने लगता, तो अबतक सारी दुनिया अस्त-व्यस्त हो गई होती।

मैं ऐसा मानता कि टोडरमल स्मारक भवन मेरा है, तो मेरे मानने से मेरा हो जाता, आप मानते तो आपका हो जाता और ऐसे ही अनंत जीव मानते, तो यह किस-किसका होता ?

वस्तु की व्यवस्था में सबसे बढ़िया बात यह है कि हम कुछ भी माने, हमारे मानने से जगत में कुछ भी नहीं होता।

यह तो बढ़िया बात है कि हमारे मानने से जगत में कुछ होता नहीं है। यही कारण है कि जगत का कुछ बिगड़ा नहीं, हमारी मान्यता ही बिगड़ गई।

यदि तुम दो और दो को पाँच मानो तो क्या दो और दो पाँच हो जायेंगे? कितने ही काल तक मानो, रोजाना माला भी जपो, एक लाख दफा मंत्रा भी जपो तो भी हो जायेंगे क्या?

इसीप्रकार तू अनंतकाल से ये मानता आ रहा है कि स्त्री मेरी, पुत्रा मेरे, मकान मेरे, शरीर मेरा, जायदाद मेरी, रुपये मेरे, पैसे मेरे; मैं इसे मार सकता हूँ, मैं इसे बचा सकता हूँ, मैंने इतनों को मारा, मैंने इतनों को बचाया। लेकिन वस्तुस्वरूप की वजह से एक भी परमाणु आज तक तेरा हुआ नहीं है और पर में तेरे किये कुछ हुआ नहीं।

यदि तू कहे कि क्या ऐसा मानने से कुछ भी नहीं हुआ ?

अरे ! बहुत कुछ हुआ। तुम्हारे माथे पर अनंत कर्म आकर पड़े हैं। तू अनंत दुःखी हुआ है; क्योंकि ये मान्यता तेरे में थी; इसलिए दुःख भी तेरे में ही पैदा हुआ। वस्तु के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं हुआ, जगत में कोई अन्तर नहीं आया; पर तुझे बंध अवश्य हुआ।

जब हम यह कहते हैं कि इसे छोड़ दो, तो तुम पर दया करके कहते हैं, उस पर दया करके नहीं।

जब आप किसी को समझाते हैं कि भाई साहब ! आपको ऐसा नहीं करना चाहिए तो सबसे पहले गुस्से में वह बोलता है कि आप मेरे से ही कहते हो, उनसे कुछ नहीं कहते। गलती उनकी भी तो हो सकती है। अनेक लोगों की यह शिकायत रहती है न !

हम अपने विद्यार्थियों को समझाए कि तुम्हें उन लड़कों से नहीं उलझना चाहिए तो वे कहते हैं कि क्या हमारी ही गलती है; उनकी कोई गलती नहीं ? उनसे आप कुछ नहीं कहते।

हम कहते हैं कि अरे भाई ! हम तुम्हारे वार्डन हैं, उनके नहीं। बाप अपने बेटे से कहता है, हम तुम्हारे बाप हैं; उनके नहीं। हम तुम्हारा हित चाहते हैं, उनका नहीं।

तुम यह समझते हो कि हम तुमसे कह रहे हैं कि मारो मत, तो उनको बचाने के लिए कह रहे हैं, इस धोखे में मत रहना। हम तुम्हें बचाने के लिए कह रहे हैं कि उन्हें मारने जाओगे और पिट कर आओगे, फिर पुलिस में जाओगे, जेल में जाओगे। इन सब झंझटों से बचाने के लिए तुमसे कह रहे हैं, उन्हें बचाने के लिए नहीं कह रहे हैं।

उसीप्रकार ज्ञानी जीव कह रहे हैं कि हम तुमसे जो यह कह रहे हैं कि तुम उसे अपना मत मानो। तो इसलिए नहीं कह रहे हैं कि तुम उसे छोड़ दो, जिससे उसकी तकलीफ मिट जाय। उसे तो तुम पकड़ सकते ही नहीं हो। तुम अनंत दुःख में नहीं पड़ों, इसलिए तुमसे कह रहे हैं।

जीव मरे, चाहे न मरे, तो भी जिसके अध्यवसान भाव हैं, उन्हें बंध होगा। जीव मरे, चाहे न मरे; लेकिन जिसके अध्यवसान भाव नहीं हैं, उन्हें बंध नहीं होता है; क्योंकि बंध का संबंध अध्यवसान भावों से है।

बंध अधिकार के सार को स्पष्ट करनेवाले इस कलश में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं युदक्तं जिनै—
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्.निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति संतो घृतिम्॥173॥

अमृतचन्द्राचार्यदेव भगवान से कहते हैं कि हे भगवान ! तुमने जो यह कहा कि सभी अध्यवसान भाव छोड़ो। उससे मैं यह समझता हूँ कि आपने अन्य के आश्रय से होनेवाला सभी व्यवहार छोड़ा है।

पर के लक्ष्य से होनेवाले दूसरों को मारने के भाव, दूसरों के सुखी करने के भाव, दूसरों को दुःखी करने के भाव — ये सब अध्यवसान हैं; क्योंकि तू किसी को सुखी-दुखी नहीं कर सकता है, मार बचा नहीं सकता है, यह हवाई कल्पना है, मिथ्या मान्यता है।

हे भगवन् ! आपने तो यह कहा कि अध्यवसान भाव छोड़ो और उसका अर्थ मैं यह समझा कि आप समस्त पराश्रित व्यवहार को छोड़ने का आदेश दे रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि जिनवाणी में जब भी व्यवहार से पर के त्याग की बात कही जाती है तो उसका आशय पर के लक्ष्य से होनेवाले एकत्व-ममत्व के त्याग से ही होता है; इसी का नाम समस्त व्यवहार का त्याग है।

इस छन्द का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(अडिल्ल)

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही।

इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये,
अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है।

परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है।
यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं,
शुद्धज्ञानघन आत्म में निश्चल रहें॥173॥

सब ही प्रकार के अध्यवसान भाव त्यागने योग्य हैं, भगवान ने जो यह बात कही है, उसका अर्थ यह है कि अन्याश्रित व्यवहार से होनेवाले जितने भी अध्यवसान हैं, वे सब त्यागने योग्य हैं तथा परमशुद्ध-निश्चय-नय का ज्ञेय त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही ध्यान करने योग्य है।

शिष्य कहता है कि यदि सारा व्यवहार ही त्यागने योग्य है और निश्चयनय ग्रहण करने योग्य है तो मेरी समझ में यह नहीं आता है कि मुनिजन अपने भगवान आत्मा में निश्चल क्यों नहीं रहते हैं ? मुनिराजों का उपयोग बाहर क्यों भटकता है ?

जिन मुनिराजों का उपयोग अपने शिष्यों को आत्मा की बात समझाने में भटकता है, 32 अन्तराय और 46 दोष टालकर के शुद्ध आहार लेने जाने में जाता है; उन मुनिराजों से कह रहे हैं कि जब यह बात निश्चित है तो तुम्हारा उपयोग वहाँ क्यों जाता है ? तुम अपनी आत्मा में लीन क्यों नहीं रहते हो ?

जब मुनिराजों के बारे में यह कहा जाता है तो जिनका उपयोग सारे जगत में डोलता है, उन ग्रहस्थों का क्या होगा ? यह बात विचारणीय है।

आगे 174 वें कलश के पद्यानुवाद में कहते हैं कि —

(सोरठा)

कहे जिनागम माँहि शुद्धात्म से भिन्न जो।
रागादिक परिणाम कर्मबंध के हेतु वे॥
यहाँ प्रश्न अब एक उन रागादिक भाव का।
यह आत्म या अन्य कौन हेतु है अब कहें॥174॥

जो अपने शुद्धात्मा से भिन्न रागादि परिणाम हैं; वे आत्मा के बंध के हेतु हैं, पर पदार्थ बंध के हेतु नहीं हैं।

जो डाकू जेल की नौ फीट चौड़ी सीमेन्ट की बनी 20 फीट ऊँची दीवार को तोड़कर भाग जाता है; वही डाकू अपने घर की प्लाई की दीवार नहीं तोड़ पाता है।

जिससे द्वेष होता है, जिसको पराई समझते हैं; उसे तो तोड़ा जा सकता है और जिससे राग हो, जिसे अपनी समझते हो, वह प्लाई की दीवार भी नहीं टूटती।

उसीप्रकार हमने इस कर्म को अपना माना, तो कर्म की दीवारें कैसे टूटेगी, कर्मों का नाश कैसे करेगा ?

बंधन कौन-सा बड़ा है ? दीवारों का या राग का। राग का बंधन हो तो प्लाई की दीवार में भी बंद रह सकता है और राग का बंधन नहीं हो तो जेल की दीवार भी तोड़कर बाहर निकल सकता है। जेल की दीवाल तोड़कर भागे और पच्चीस पुलिस वाले पीछे दौड़े, तो भी पकड़ नहीं पाए और पकड़ भी ले तो, छूटकर भाग जाए; लेकिन यदि दो वर्ष का बच्चा रोए तो लौट के आ जायेगा। लौटकर आने पर भी जबतक वह बच्चा जाने के लिए हाँ न कर दे, तबतक बड़े से बड़ा डाकू भी भाग नहीं सकता।

यदि भाग भी जाय और 1 हजार मील चला जाय तो भी बच्चे को देखने लिए हजार मील से दौड़ा चला आयेगा।

अरे भाई ! राग का बंधन मजबूत बंधन है, दीवारों का बंधन तो बंधन ही नहीं है।

कोई कहे कि जब पर से कुछ होता ही नहीं है तो पर के संग का निषेध क्यों करते हो ? उसके उत्तर में 175 वा कलश कहते हैं, जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(दोहा)

अग्निरूप न होय सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन।

रागरूप न होय यह आत्म परसंग बिन॥175॥

सूर्यकान्त नाम की एक मणि होती है, उस पर यदि सूर्य की किरणें पड़े तो वह एकदम जलने लगती है। चन्द्रकान्त नाम की भी एक मणि होती है, उस पर यदि चन्द्रमा की किरणें पड़े तो उसमें से पानी झरने लगता है।

जैस सूर्यकान्त मणि में आगरूप होने की ताकत स्वयं की है; लेकिन सूर्य की किरणें पड़ना चाहिए — यह एक नियम है।

इसीप्रकार आत्मा में रागरूप परिणमन की शक्ति स्वयं की है, लेकिन उसका लक्ष्य पर-पदार्थ पर होना चाहिए। परसंग बिन वह रागरूप परिणमित नहीं हो सकता है।

राग भी किसी न किसी से होता है; चाहे वह स्त्री से, पुत्रा से, मकान से, जायदाद से, रुपए से, पैसे से, देव से, शास्त्रा से, गुरु से ही क्यों न हो; वह किसी न किसी के लक्ष्य से ही होता है।

इसप्रकार के वस्तुस्वरूप को ज्ञानी जीव जानते हैं; इसलिए वे रागादि के कर्ता नहीं हैं और अज्ञानी नहीं जानता; इसलिए वह इन रागादिभावों का कर्ता होता है — इसी भाव को स्पष्ट करनेवाले कलश 176 का पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने विज्ञ सदीव।

अपनापन ना राग में अतः अकारक जीव॥176॥

ऐसे वस्तुस्वभाव को ना जाने अल्पज्ञ।

धरे एकता राग में नहीं अकारक अज्ञ॥177॥

यही वस्तु का स्वरूप है, बंध अधिकार का सार भी यही है कि परसंग से तेरे अन्दर में उत्पन्न जो रागादि हैं, वे बंध के कारण हैं, अन्य कुछ भी नहीं। ज्ञानी इस बात को जानते हैं; इसलिए वे अकर्ता हैं, निर्बंध हैं; और अज्ञानी इस बात को नहीं जानते; इसलिए वे रागादि भावों के कर्ता हैं और बंधन को प्राप्त होते हैं। ●

इक्कीसवाँ प्रवचन

समयसार परमागम की चर्चा चल रही है, जिसमें जीवाजीवा-
धिकार से बंध-अधिकार तक की चर्चा हो चुकी है।

अपने त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को छोड़कर जितने भी पर
पदार्थ हैं, पर पदार्थ के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव हैं; वे
सब मैं नहीं हूँ; वे सब मेरे नहीं हैं और मैं इनका कर्ता-भोक्ता भी नहीं हूँ
— यह बात जीवाजीवाधिकार और कर्ताकर्म अधिकार में विस्तार से
बताई है।

फिर पुण्य-पाप अधिकार में यह बताया कि पाप के समान पुण्य
भी हेय ही है; क्योंकि वह बंध का कारण है, मुक्ति का कारण नहीं है।

आस्रव अधिकार में यह बताया कि पुण्य और पाप के भाव
आस्रवभाव हैं, आत्मा नहीं। ये दोनों भाव आस्रवभाव होने से बंधरूप
हैं, बंध के कारण हैं, हेय है और भगवान आत्मा उन आस्रवभावों से
भिन्न है। जिन सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं ने भगवान आत्मा का अनुभव
कर लिया है, उनके भोगों का संयोग रहने पर भी आस्रव नहीं
होता है।

संवर अधिकार में इसप्रकार भेदविज्ञान का अभिनन्दन किया कि
भेदविज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। आज तक जितने जीव
सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान के बल से ही हुए हैं
और आज तक जो भटक रहे हैं; वे सब भेदविज्ञान के अभाव से
ही भटक रहे हैं।

फिर बंध अधिकार में यह बताया कि न तो कार्माण वर्गणा से ही
जीव बंधा है; न ही मन, वचन, काय की चंचलता से जीव बंधा है तथा
न जीवों के मरने-मारने से ही जीव बंधा है तथा पाँच इन्द्रियों के भोगों
के कारण भी जीव नहीं बंधा है। यदि बंधन का कोई कारण है, तो
वह एकमात्र मिथ्यात्व सहित कषाय भाव ही है।

162

अब मोक्ष अधिकार प्रारंभ होता है। हमें मुक्त होना है, इसलिए
हम सब मुमुक्षु कहलाते हैं। जिन्हें मात्रा मोक्ष की इच्छा है और अन्य
कोई इच्छा नहीं है, वे सभी मुमुक्षु हैं।

मोक्ष अधिकार में मुक्ति की प्राप्ति कैसे होती है, इसकी चर्चा
की गई है। मोक्षाधिकार की आरंभ की निम्नांकित गाथाएँ बहुत ही
मार्मिक हैं —

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥288 ॥
जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥289 ॥
इय कम्मबंधणाणं पदेसटिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो ॥290 ॥
(हरिगीत)

कोई पुरुष चिरकाल से आबद्ध होकर बंध के ।
तीव्र-मन्दस्वभाव एवं काल को ही जानता ॥२८८॥
किन्तु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं ।
तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं ॥२८९॥
इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को ।
जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता ॥२९०॥

जिसप्रकार बहुत काल से बंधन में बंधा हुआ कोई पुरुष बंधन के
तीव्र-मन्दस्वभाव को, उसकी कालावधि को तो जानता है; किन्तु उस
बंधन को काटता नहीं है तो वह उससे मुक्त नहीं होता तथा बंधन में
रहता हुआ वह पुरुष बहुत काल में भी बंधन से छूटनेरूप मुक्ति को
प्राप्त नहीं करता ।

उसीप्रकार यह आत्मा कर्मबंधनों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति
और अनुभाग को जानता हुआ भी कर्मबंधन से नहीं छूटता; किन्तु
यदि रागादि को दूरकर वह स्वयं शुद्ध होता है तो कर्मबंधन से
छूट जाता है।

जिसप्रकार किसी को रस्सियों से जकड़ कर बांध दिया गया हो तथा वह सोचे कि मैं रस्सियों से जकड़ कर बंधा हूँ, यह रस्सी बहुत मजबूत है, यह रस्सी इस तरह से बनाई है, इस व्यक्ति ने मुझे बंधन में डाला है, तो क्या इन सबका विचार करते रहने से वह बंधन से मुक्त होगा ? कभी नहीं।

विचार करते रहने से लोक में जिसप्रकार जीव बंधन से मुक्त नहीं होता है; उसीप्रकार बंधन की प्रक्रिया के विस्तार में जाने से और उसका विचार करते रहने से वह मुक्ति को प्राप्त नहीं होगा।

ये तीन गाथाएँ और इसके बाद की तीन गाथाएँ, इसप्रकार आरंभ की छह गाथाओं में यही बताया गया है। इसमें दो बिन्दु हैं। एक तो बंधन के ज्ञान से और दूसरा बंधन के चिंतन से बंधन से मुक्ति नहीं होती है।

ये दोनों बिन्दु यद्यपि एक से हैं — ऐसा लगता है, लेकिन दोनों में बहुत अंतर है।

किसी वस्तु को जानना, जानना है और उसी के बारे में लगातार जानते रहना, सोचते रहना चिन्तन है।

देखो ! भगवान की भक्ति करते रहने से मुक्ति नहीं होगी, दया दान से मुक्ति नहीं होगी, क्रियाकाण्ड से मुक्ति नहीं होगी — यह सब तो विस्तार से पीछे कह आए हैं। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि बंधन को जानने या उसके चिन्तन से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी।

क्रियाकाण्ड से ना मिले यह आत्म अभिराम।

ज्ञानकाण्ड से सहज ही सुलभ आतमाराम।।

यह आत्मा क्रियाकाण्ड से नहीं मिलेगा, तीर्थयात्रा से भी नहीं मिलेगा, जप—तप से नहीं मिलेगा, पूजा—पाठ से नहीं मिलेगा, दया—दान से भी नहीं मिलेगा; क्योंकि यह ज्ञान का मार्ग है।

यह भावुकता का रास्ता नहीं है, रोने—धोने का रास्ता नहीं है, दया की भीख माँगने का भी रास्ता नहीं है। यह तो भेद—विज्ञान

का रास्ता है, पर से भिन्न निज आत्मा के अनुभव का रास्ता है, आत्मज्ञान का रास्ता है, आत्मा के ध्यान का रास्ता है।

163 हम भगवान के सामने भक्ति करते हैं और भक्ति करते—करते ही आँखों में आसूँ आ जाए और हम गद्गद् हो जाये तो दुनिया हमको देखकर समझती है कि हम बहुत बड़े धर्मात्मा हैं। दुनिया समझे तो समझे, लेकिन हमको भी अन्दर से ऐसा लगने लगता है कि अब मुझमें बहुत फर्क आ गया है; मैं एकदम धर्मात्मा हो गया हूँ। लेकिन यह मर—घटिया वैराग्य है, भावुकता है। इससे किंचित् मात्रा भी धर्म नहीं होता है।

हाँ हम इतना जरूर कह सकते हैं कि उसमें थोड़ी ऐसी पात्राता का परिपाक अवश्य हुआ है कि ऐसे में कोई सत्य बात सुनने को, समझने को मिल जाय, तो कल्याण हो सकता है। यह भी नियमरूप कारण नहीं है। बस यह रास्ता तो ज्ञान का रास्ता है।

बंध अधिकार तक हम इस पूर्वोक्त निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं।

कुछ लोग कहते हैं बंध से विमुक्त होना है तो बंध का अभ्यास करो। वे चरणानुयोग नहीं पढ़ते, क्योंकि वह क्रियाकाण्ड में चला गया। प्रथमानुयोग उनकी दृष्टि में कहानी—किस्सों में चला गया। करणानुयोग में जो बंध का बहुत विस्तार से वर्णन है, उसे पढ़ते हैं।

मुझे कभी—कभी विचार आता है कि ऐसी बात कुन्दकुन्दाचार्य ने क्यों लिखी ? क्या उनके सामने ऐसे लोग रहे होंगे कि जो कर्मबंधन का ज्ञान करके अपने आपको मुक्तिमार्गी मानते होंगे, कर्मबंधन का चिंतन करके अपने आपको मुक्तिमार्गी मानते होंगे?

आज से 50 वर्ष पूर्व करणानुयोग के अभ्यासी को ही सबसे बड़ा पण्डित माना जाता था। त्यागी, व्रती, ब्रह्मचारी, पण्डित सभी करणानु—योग का ही अध्ययन करते थे। ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्द के पहले भी बिल्कुल ऐसा ही वातावरण बना होगा, जैसा कानजीस्वामी के पहले करणानुयोग के स्वाध्याय का था।

धर्म के नाम पर कर्म की चर्चा होती थी। कौन से गुणस्थान में

कौन—सा कर्म, कर्म की कितनी प्रकृतियाँ, कब बंधती हैं, कैसे बंधती हैं, कब उदय में आती हैं, कब उदय में नहीं आती है, सत्ता में कब रहती है, उत्कर्षण किनका होता है, अपकर्षण किनका होता है — इन सबकी विस्तृत चर्चा होती थी और इसी का नाम तत्त्वचर्चा था।

जब हम पढ़ते थे, तब भी करणानुयोग का बहुत जोर था। उस समय हमारे महाविद्यालय के अधिष्ठाता बालब्रह्मचारी प्यारेलालजी भगत, जिन्हें सभी लोग भगतजी कहते थे; उन्होंने हमारी गोम्मटसार की परीक्षा ली थी और उन्होंने हम दोनों भाइयों को दस—दस रुपये इनाम दिये थे।

उस जमाने के दस रुपये आज के जमाने के हजार रुपये के बराबर थे। हम उस जमाने की बात कर रहे हैं, जब एक रुपया किलो घी था, आजकल तो शायद डेढ़ सौ रुपये किलो होगा। उससमय के दस रुपये आज के जमाने से डेढ़ सौ गुना अधिक कीमत रखते थे।

हमारे गुरुजी (पण्डित नन्हेलालजी सिद्धान्तशास्त्री) कहा करते थे कि ये नोकदार टोपियाँ काम आने वाली नहीं हैं, जबतक तुम्हें गोम्मटसार का, करणानुयोग का, बहुत गहरा अभ्यास नहीं होगा; तबतक समाज तुम्हें पण्डित माननेवाली नहीं है।

कुन्दकुन्दाचार्य के पहले भी ऐसे लोग बहुत होंगे जो सुबह से शाम तक निरन्तर कर्म प्रकृतियों का ही अध्ययन करते होंगे और ऐसा समझते होंगे कि पूरा दिन धर्म में ही गया। ऐसे लोगों के लिए उन्होंने यह बात लिखी कि कर्म के ज्ञान से, बंध के ज्ञान से तुम्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी और बंधन का चिंतन करने से, उसी में निरंतर उपयोग लगाए रखने से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी।

अमृतचन्द्राचार्यजी ने जो इसकी टीका लिखी, उसकी अंतिम पंक्ति ध्यान देने योग्य है, वह इसप्रकार है —

एतेन कर्मबंधप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यन्ते।

जो संस्कृत जानते हैं, वे तो अन्दाजा लगा सकते हैं कि आचार्यदेव

क्या कहना चाहते हैं। बहुत ही कठोर भाषा है। जैसे — और जगह कहते हैं कि इससे मीमांसक मत का खण्डन किया अथवा इससे सांख्यमत का निरसन किया। न्यायशास्त्रा में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, उसी भाषा का उपयोग यहाँ करणानुयोग का अभ्यास करनेवालों के लिए किया है।

164

इसमें जो प्रपंच शब्द लिखा है, उस प्रपंच का अर्थ विस्तार होता है। वैसे आजकल प्रपंच शब्द काफी बदनाम है। कहते हैं कि वह आदमी बड़ा प्रपंची है। देखो भैया ! तुम हमारे सामने प्रपंच मत करो, बहुत प्रपंच हो गया — अब बस करो। जो कर्मबंध की चर्चा में ही पड़े है, उनके लिए आचार्य कह रहे हैं कि वे प्रपंचों में ही पड़े हैं। उस समय प्रपंच का अर्थ इतना बुरा नहीं होता था, जितना आज होता है। उस समय प्रपंच में पड़े का अर्थ होता था विस्तार में उलझ गए हैं।

तो इस पंक्ति का अर्थ है कि इसप्रकार कर्मबंध के विस्तार के परिज्ञान से जो संतुष्ट हो गए हैं, ऐसे लोगों को उखाड़ के फेंक दिया अर्थात् उनका खण्डन कर दिया।

वे धर्मात्मा हैं, इस धोखे में वे आ गए हैं; पर इसमें धर्म रंचमात्रा भी नहीं है। यदि शुभभाव होगा तो पुण्य का बंध अवश्य होगा। उसमें भी यदि मैं चौड़ा और बाजार संकरा अर्थात् विद्वता का मान आ गया तो वह भी नहीं होगा।

आज भी जो करणानुयोग के विशेषज्ञ हैं, उनमें अधिकांश की रीढ़ की हड्डी मान के कारण सीधी नहीं रहती है। गिने—चुने दो चार लोग ही हैं, किन्तु वे जमीन की तरफ देखते ही नहीं। वे अन्य विद्वानों को महातुच्छ समझते हैं और स्वयं को साक्षात् केवलज्ञान हो गया हो व हम ही मोक्ष जानेवाले हैं — ऐसा मानते हैं।

इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य को ये शब्द लिखने पड़े कि जो कर्मबंध के प्रपंच की रचना के ज्ञानमात्रा से संतुष्ट हो रहे हैं, इस कथन से, उनका उत्थापन (खण्डन) किया गया है।

जययंदजी छाबड़ा भी भावार्थ में उक्त कथन का निम्नानुसार स्पष्टीकरण करते हैं —

“कोई अन्यमती यह मानते हैं कि बंध के स्वरूप को जान लेने से ही मोक्ष हो जाता है। उनकी इस मान्यता का इस कथन से निराकरण कर दिया गया है। जाननेमात्रा से ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटने से ही कटता है।”

करणानुयोग की स्थापना की बात समझनी हो तो पण्डित टोडरमलजी ने जो सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लिखी है, उसकी प्रस्तावना में बहुत विस्तार से इसकी स्थापना की है, उसे पढ़ना चाहिए। वहाँ लिखा है — अर्थ के पक्षपाती, अध्यात्म के पक्षपाती, चरणानुयोग के पक्षपाती, प्रथमानुयोग के पक्षपाती इसका निषेध करते हैं; वह सही नहीं है। इसके अध्ययन से क्या लाभ है, वे सब वहाँ बताये हैं।

उसके बाद टोडरमलजी ने आगे लिखा कि कर्मबंध के प्रपंच की रचना के ज्ञानमात्रा से संतुष्ट लोग अपने को धर्मात्मा समझ लें और वे समझे कि इससे मेरे कर्म का नाश हो जायेगा तो वे धोखे में हैं।

जयसेनाचार्यजी ने तो और भी कठोर शब्दों में लिखा है कि ये तो शुभभावरूप धर्मध्यान है। धर्मध्यान के अपायविचय, विपाकविचय आदि जो भेद हैं; उनकी चर्चा तो व्यवहारधर्मध्यान है। इससे तो बंध होता है, जबकि धर्मध्यान तो अपने आत्मा के अनुभवरूप होता है — ऐसा विस्तार से लिखा है।

इसी मोक्ष-अधिकार में फिर प्रश्न किया है कि हम बंधन से मुक्त कैसे होंगे तो उन्होंने एक शब्द का प्रयोग किया कि द्विधाकरण ही एकमात्रा उपाय है।

इस उपाय को जानने से पूर्व संबंधित गाथा के अर्थ को जानना भी आवश्यक है —

जह बंधे छेत्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।

तह बंधे छेत्तूण य जीवे संपावदि विमोक्खं।।292।।

(हरिगीत)

छेदकर सब बंधनों को बद्धजन ज्यों मुक्त हों।

त्यो छेदकर सब बंधनों को बद्धजिय सब मुक्त हों॥२९२॥

165

जिसप्रकार बंधनबद्ध पुरुष, न तो बंधन के ज्ञान से बंधन से मुक्त हो सकता है, और न ही बंधन के चिंतन से। यदि वह बंधन को काट दे तो बंधन से मुक्त होगा।

इसीप्रकार कर्मबंधन से बंधे जीव न तो कर्मबंधन के ज्ञान से कर्मबंधन से मुक्त होंगे और न कर्मबंधन के चिंतन से भी मुक्त होंगे। वे बंधन को काटेंगे, तभी मुक्त होंगे।

जयसेनाचार्य ने तो भेत्तूण, छेत्तूण, मोत्तूण ये तीन अर्थ किए अर्थात् भेदकर, छेदकर, छोड़कर। इसप्रकार उन्होंने गाथाओं की गिनती में इसकी तीन गाथाएँ मानी हैं।

कुछ लोग इसका अर्थ करते हुए कहते हैं कि बंधन को काटना पड़ेगा और बंधन तप से कटते हैं तथा तप उपवास है। इसप्रकार वे लौट फिर कर वापिस क्रियाकाण्ड पर ही आ जाते हैं। इसप्रकार करणानुयोग से आरंभ कर चरणानुयोग पर चले जाते हैं।

ऐसे लोगों को लक्ष्य करके ही आचार्य अमृतचन्द्रजी गाथा 291 की टीका में लिखते हैं —

एतेन कर्मबंधविषयचिंताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते।

इससे कर्मबंध के विषय की चिंता के प्रबंधात्मक विशुद्धधर्म ध्यान से अंधी है बुद्धि जिनकी; उन्हें हम समझा रहे हैं।

उनके समय में भी ऐसे लोग रहे होंगे कि जिनको लक्ष्य करके उन्होंने ये शब्द लिखे हैं।

जो अभी 292 नं. की गाथा पढ़ी थी, उसी की टीका में लिखा है—

बंधन का छेदन करने से बंध कटेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम फिर क्रियाकाण्ड में लग जाओ। इससे आत्मा और बंध इन दोनों के बीच में भेदविज्ञान की बात है अर्थात् आत्मा और बंध के द्विधा-करण की बात है।

इन गाथाओं की टीका की जो अंतिम पंक्तियाँ हैं; उनमें बंध और आत्मा के बीच भेदविज्ञान करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं और कह रहे हैं कि भेदविज्ञान की जो प्रक्रिया है, उसमें तुम चलो, वह मुक्ति का कारण है।

गाथा नं. 292 की टीका में लिखा है —

कर्म से बंधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद मोक्ष का कारण है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बद्ध को बन्ध का छेद बंध से छूटने का कारण है। उसीप्रकार कर्म से बंधे हुए को कर्मबंध का छेद कर्मबंध से छूटने का कारण है। इस (कथन) से, पूर्वकथित दोनों को (जो बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्रा से संतुष्ट हैं तथा जो बंध का विचार किया करते हैं उनको) आत्मा और बंध के द्विधाकरण में व्यापार कराया जाता है अर्थात् आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न करने के प्रति लगाया जाता है, उद्यम कराया जाता है; क्योंकि मोक्ष का कारण एकमात्रा द्विधा-करण ही है और यही मोक्ष अधिकार की प्रारंभ की 8-10 गाथाओं का निष्कर्ष है।

यह मर्म की बात आप मेरे कहने से स्वीकार नहीं करते, इसलिए मैंने खुद आचार्य की टीका एवं मूल गाथाएँ पढ़कर सुनाई हैं।

बंध के विचार से कर्म नहीं कटेंगे, बंध के काटने की प्रक्रिया द्विधाकरण है अर्थात् बंध और आत्मा, इन दोनों को भिन्न-भिन्न जानना ही एकमात्र उपाय है।

कर्ता-कर्म अधिकार के प्रारंभ में भी कहा था कि जबतक यह आत्मा, आत्मा और आस्रव को भिन्न-भिन्न नहीं जानेगा, तबतक अज्ञानी रहेगा और यहाँ कह रहे हैं कि जबतक यह आत्मा, आत्मा और बंध के बीच भेदविज्ञान करके इन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं करेगा; तबतक साध्य की सिद्धि नहीं होगी।

पृथक्-पृथक् करना और पृथक्-पृथक् जानना एक ही बात है; क्योंकि दो द्रव्य परस्पर पृथक्-पृथक् तो हैं ही, उनके बीच में वज्र

की दीवाल है। अतः करना तो कुछ है ही नहीं, मात्रा जानना ही है। यहाँ जानना ही करना है। अतएव द्विधाकरण ही एकमात्रा उपाय है।

इसके बाद 293 वीं गाथा में आचार्य कहते हैं —

166

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।

बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि।।293।।

(हरिगीत)

जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को।

विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्मविमुक्त हों।।२९३।।

इस गाथा में कहा गया है कि जो बंध को और आत्मा के स्वभाव को बिल्कुल अलग-अलग जानकर, जो बंध से विरक्त होते हैं और आत्मा में अनुरक्त होते हैं; वे कर्मों से मुक्त होते हैं।

जीवाजीवाधिकार में कहा था कि जीव और अजीव को भिन्न जानना ही धर्म है। पुण्य-पाप अधिकार में कहा — पुण्य और पाप से भिन्न आत्मा को जानना धर्म है। फिर आस्रवाधिकार में कहा — आस्रव और आत्मा को भिन्न जानना धर्म है और बंध अधिकार में कहा कि बंध और आत्मा को भिन्न जानना धर्म है। सभी जगह भिन्न जानने की ही मुख्यता है।

मोक्ष अधिकार में यह कहा कि धर्म की परिभाषा के लिए प्रत्येक में इतना और जोड़ दो कि जीव और अजीव से भिन्न आत्मा को जानकर अन्य जीव और अजीव से विरक्त होना और अपने आत्मा में अनुरक्त होना ही धर्म है। पुण्य और पाप से भिन्न आत्मा को जानकर पुण्य-पाप से उपयोग को हटाना और आत्मा में लगाना धर्म है। आस्रव और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर आस्रव से उपयोग हटाना और आत्मा में लगाना ही धर्म है।

सारांश के रूप में कहें तो जीवादि सात तत्त्वों, जीवादि छह द्रव्यों — इन सबसे भिन्न भगवान आत्मा को जानकर 'यह ही मैं हूँ' — ऐसा मानना और उसका चिंतन करना, उसका ही विचार करना, उसमें ही उपयोग को लगाना, वही धर्म है और उससे ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यह बात सुनकर शिष्य कहता है कि आपने जो कहा, वह हमारी समझ में अच्छी तरह से आ गया है; लेकिन इसका साधन क्या है ? उपाय क्या है ? क्योंकि हम जो-जो साधन मानते हैं, उनका आप निषेध करते हो।

हम कहते हैं कि देह से भिन्न भगवान आत्मा है; अतः भगवान आत्मा को देह से भिन्न करना है; इसलिए उपवासादि करके देह को सुखा दे तो इससे आत्मा देह से भिन्न हो जायेगा और हमारा मोक्ष हो जायेगा, तो आप कहते हैं कि यह रास्ता नहीं है। हम कहते हैं कि जिन कर्मों से हम बंधे हैं, काटने के लिए उनका विचार करें, तो तुम कहते हो, यह रास्ता सही नहीं है। व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, दान — ये उपाय नहीं है तो फिर उपाय क्या है ?

उपाय के रूप में आचार्य कहते हैं कि भिन्न साधन-साध्य की बात ठीक नहीं है। अभिन्न साधन-साध्य होना चाहिए अर्थात् साधन भी हमारे अन्दर होना चाहिए, स्वाधीन होना चाहिए।

यदि चीन से लड़ाई लड़नी हो और जीतना हो तो उसका उपाय अमेरिका से हाथ-पैर जोड़ना नहीं, रूस को बुलाना नहीं है; क्योंकि यह उपाय तो और अधिक पराधीन होने का हुआ। जिससे सहायता माँगी, उसके आधीन तो पहले ही हो गये। अतएव आजाद होने का, स्वतंत्रता कायम रखने का यह उपाय नहीं है।

उसीप्रकार दुःखों से मुक्त होने का साधन अभिन्न होना चाहिए। वह आत्मा की ही निजी सम्पत्ति होनी चाहिए।

मोक्ष अधिकार की 294 वी गाथा में इस साधन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।

पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तभावण्णा ॥294 ॥

(हरिगीत)

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हो।

दोनों पृथक् हो जाय प्रज्ञाछैनी से जब छिन्न हों ॥२९४॥

जीव और बंध दोनों को लक्षणों से पहचानकर फिर प्रज्ञारूपी छैनी को दोनों के बीच में डालकर उन्हें अलग-अलग कर देना चाहिए।

इसी के संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

167

प्रज्ञाछैनी शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः

सूक्ष्मेऽन्तः संधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।

आत्मानं मग्नमंतः स्थिरविशदलसद्दाम्नि चैतन्यपूरै

बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥181 ॥

यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी प्रवीण पुरुषों के द्वारा किसी भी प्रकार से सावधानतया पटकने पर आत्मा और बंध को सर्वतः भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।

जिसप्रकार पत्थर छैनी से काटे जाते हैं तो कारीगर थोड़ी-सी ठोकर मारता है और छह फुट लम्बी पट्टी अलग हो जाती है। कारीगर को पता रहता है कि अन्दर यहाँ दराज है, यहाँ पर मारूँगा तो टूटेगी, अन्यथा नहीं।

इसीप्रकार आत्मा और कर्म के बीच में सूक्ष्म अन्तःसन्धि है, यदि वहाँ प्रज्ञारूपी छैनी डाले तो दोनों अलग हो जायेंगे।

इसी कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(हरिगीत)

सूक्ष्म अन्तःसन्धि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी को।

अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बन्ध को ॥

अति भिन्न करके आत्मा से आत्मा में जम गये।

वे ही विवेकी धन्य हैं वे भवजलधि से तर गये ॥181 ॥

सूक्ष्म अन्तःसन्धि में बंध और आत्मा के बीच में एक दराज पड़ी है, जो बाहर से दिखाई नहीं देती। उसको बारीकी से देखकर अति तीक्ष्ण अर्थात् बहुत पैनी प्रज्ञाछैनी को निपुणता से डालकर निपुण लोगों ने आत्मा से बंध को जुदा कर दिया।

छहढाला में भी उक्त छैनी को परम पैनी कहा है —

जिन परमपैनी सुबुधिछैनी डारि अन्तर भेदिया।

बंध और आत्मा का द्विधाकरण करना है। इसमें आत्मा को रखना है और बंध को हटाना है। जो आत्मा में ही जमेंगे और बंध की तरफ देखेंगे भी नहीं, वे संसार समुद्र से पार होंगे। यही समयसार का निष्कर्ष है जो कि मोक्ष अधिकार में आया है।

यही एकमात्रा धर्म है और करने योग्य कार्य भी यही है, बाकी जो सारा क्रियाकाण्ड है, वह यदि इसके साथ हो तो उसे भी धर्म कह देते हैं।

जिसप्रकार जमाई के साथ यदि नाई भी जाय तो उसे भी मेहमान कह देते हैं; उसीप्रकार आत्मानुभव के साथ होनेवाले बाह्य व्यवहार को भी धर्म कह देते हैं।

उसीप्रकार यह क्रियाकाण्ड इस भेदविज्ञान के साथ ही, इस प्रज्ञाछैनी के साथ ही धर्म कहा जाता है। जो बंध और आत्मा को भिन्न करके आत्मा में जम गए हैं, उनके साथ हो तो ये भक्ति, पूजा, दान व तीर्थयात्रारूप व्यवहार, व्यवहार से धर्म कहे जाते हैं।

टीका में कहा है कि आत्मा और बंध को प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणों के विज्ञान से भिन्न करना चाहिए, तत्पश्चात् रागादिक जिसका लक्षण है — ऐसे समस्त बंध को तो छोड़ना चाहिए तथा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में बंध के त्याग से शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना ही आत्मा और बंध के द्विधा करने का प्रयोजन है।

यहाँ बार-बार दोनों को भिन्न जानने के लिए कह रहे हैं; क्योंकि भेदविज्ञान दो पदार्थों के बीच भेद जानने का ही नाम है, अभेद जानने का नाम नहीं है।

जैनधर्म इसका नाम नहीं है कि हम और तुम तो एक ही हैं, तुम जैनी और हम जैनी, तुम मनुष्य और हम मनुष्य, तुम मुमुक्षु और हम मुमुक्षु। भाई ! यह तो परद्रव्य से अभिन्नता की बात है।

हम और तुम जुदे-जुदे हैं। तुम्हारा आत्मा अलग है और हमारा आत्मा अलग है। तुम्हारे आत्मा के असंख्य प्रदेश, अनंत गुण हमारे असंख्य प्रदेश और अनंत गुणों से अलग हैं। तुम्हारा ज्ञान हमारे ज्ञान से अलग है। इसप्रकार के चिंतन का नाम भेदविज्ञान है, जैनधर्म है।

आज दुनिया में एकता के नाम पर यही चल रहा है कि हम और तुम एक हैं।

इसप्रकार बंध और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानने के लिए प्रज्ञारूपी छैनी ही एकमात्र साधन है।

ये स्पीकर, टेपरिकॉर्डर, किताबें व विद्वान साधन नहीं हैं; प्रज्ञारूपी छैनी ही साधन है।

कोई कहे हमारे पास तो आत्मकल्याण के बहुत साधन हैं, पण्डितजी तो हमारे घर में ही हैं, जब चाहा तब पूछ लिया। ये जब चाहे — ऐसा बोलनेवाले कभी नहीं पूछ पायेंगे। उनका यह चिंतन लापरवाही को ही बताता है। एकसमय का तो ठिकाना नहीं है कि कल हम रहेंगे कि नहीं रहेंगे और जब चाहे की बात करते हैं। अतः प्रज्ञाछैनी ही एकमात्रा साधन है।

इस प्रज्ञाछैनी से दोनों के लक्षणों को पहचानना है। आत्मा का लक्षण जानना-देखना है और बंध का लक्षण पुद्गलमय है, रागादिमय है। ऐसा जानकर रागादि से उपयोग को हटाकर अपनी आत्मा में ले जावें और यह माने कि यह ही मैं हूँ और वह मैं नहीं हूँ। यही उपाय है।

इसके लिए ज्यादा तोड़-फोड़ नहीं करना है। भूमिकानुसार जो रहे; उसे भगाने की जल्दी मत करना। वह अपने आप समय पर चला जायेगा। एक बार यह जान लो कि मैं यह नहीं हूँ।

जरा विचार करो कि अपनी लड़की को देखने के लिए मेहमानों को बुलाया। अब यदि लड़का देखकर हमें पसन्द नहीं आया और हम घर में बैठकर विचार करें कि उनको मना कैसे करें ?

अरे भाई ! मना कैसे करें — यह समस्या नहीं है, उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात तो यह निर्णय करना है कि संबंध करना है कि नहीं? यदि निर्णय कर लिया कि संबंध नहीं करना है तो फिर जबाब कैसे देंगे ? यह कोई समस्या नहीं है।

यह तो बहुत साधारण—सी बात है। यदि निर्णय कर लिया कि संबंध नहीं करना है तो जवाब देने की जरूरत ही नहीं है; बस थोड़ी अरुचि प्रदर्शित करनी है। इसमें तो जवाब नहीं देना ही सबसे बढ़िया जवाब है ? वे पूछे कि क्या हुआ ? तो कह दो कि सोच रहे हैं, बस हो गया उत्तर।

उसीप्रकार कर्म के लिए कुछ करना नहीं है, वे तो अपने आप चले जायेंगे। तुम तो इतना निर्णय करो कि मैं आत्मा हूँ और ये कर्म मैं नहीं हूँ। इतना तुमने किया नहीं कि कर्म अपने आप नष्ट होने लगेंगे और तुम्हारा मोक्ष हो जायेगा; यही मोक्ष का मार्ग है। ●

वह मैं नहीं हो सकता

निर्मलपर्याय से भी अभेद स्थापित करना मूल प्रयोजन नहीं है, मूल प्रयोजन तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव तक ले जाना है, उसमें ही अहंबुद्धि स्थापित करना है; पर भाई! एक साथ यह सब कैसे हो सकता है ? अतः धीरे—धीरे बात कही जाती है। 'तू तो निर्मलपर्याय का धनी है, कर्ता है, भोक्ता है; विकारी पर्याय का नहीं' यह एकदेशशुद्धनिश्चयनय का कथन एक पड़ाव है, गन्तव्य नहीं। यह आत्मा एक बार राग को तो अपना मानना छोड़े, फिर निर्मलपर्याय से भी आगे ले जायेंगे। राग तो निषेध करने योग्य है ना ? यदि राग निषेध करने योग्य है; तो वह अपना कैसे हो सकता है ? जो निषेध्य है, वह मैं नहीं हो सकता, मैं प्रतिपाद्य हूँ। राग निषेध्य है, अतः व्यवहार है। निर्मलपर्याय करने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है, इसलिए निश्चय है। निर्मलपर्यायरूप निश्चय विकाररूप व्यवहार का निषेध करता हुआ, उसका अभाव करता हुआ उदय को प्राप्त होता है। — परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ—95—96

बाईसवाँ प्रवचन

169

समयसार परमागम की चर्चा चल रही है, जिसमें जीवाजीव अधिकार से लेकर मोक्ष अधिकार तक की चर्चा हो चुकी है।

मोक्ष अधिकार में इस बात की चर्चा की थी कि न तो बंध के ज्ञान से मुक्ति होती है और न ही बंध के चिंतवन से; क्योंकि ये दोनों ही विपाक—विचय नामक धर्मध्यान हैं, जो कि शुभभावरूप हैं। इनसे तो पुण्य का बंध होता है, मुक्ति नहीं होती है। — ऐसा कथन करके यहाँ जो बंध के निरूपक शास्त्रों का अध्ययन करके संतुष्ट हैं — उनकी उत्थापना की है।

बंध के ज्ञान और बंध के चिंतवन से बंधन नहीं कटते; अपितु बंधन काटने से कटते हैं — ऐसा कहकर भेदविज्ञान की ओर आचार्य ने प्रेरित किया है, द्विधाकरण की प्रवृत्ति की ओर लगाया और कहा है कि बंध और आत्मा को भिन्न—भिन्न जानो।

बंध और मोक्ष — ये स्वांग हैं और भगवान आत्मा इनसे भिन्न मूलवस्तु है।

फिर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि ऐसा जानने का साधन हमारे पास क्या है तो आचार्य कहते हैं कि प्रज्ञाछैनी ही एक साधन है और कोई अन्य साधन नहीं है।

साधन और साध्य अभिन्न होते हैं; किन्तु जो क्रियाकाण्ड है, वह भगवान आत्मा से भिन्न है, अभिन्न नहीं है। मोह—राग—द्वेष के भाव भी भगवान आत्मा से भिन्न हैं, अभिन्न नहीं। इसलिए वे भी निश्चय से साधन नहीं हो सकते।

प्रज्ञा ही भगवान आत्मा से अभिन्न है; अतएव प्रज्ञाछैनी ही साधन है और उसी के द्वारा तुम निज आत्मा और बंधादि पदार्थों को भिन्न जानो।

फिर प्रश्न हुआ कि हमने यह तो जान लिया, अब जानने के बाद

क्या करें ? इसके उत्तर में कहा गया है कि जानकर बंध को छोड़ो और आत्मा को ग्रहण करो।

ऐसा जानकर जो बंध से विरक्त होते हैं व निज आत्मा को ग्रहण करते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

आत्मा को ग्रहण करने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं –

कह सो धिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु धिप्पदे अप्पा।

जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेतत्वो।।296।।

गाथा का सीधा अर्थ है कि जिस प्रज्ञाछैनी से तुमने आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न किया था, अब उसी प्रज्ञाछैनी से इसे ग्रहण करो।

जैसे कोई लुहार लोहे को संडासी से उठाता है और फिर घन से पीटता है। इसीप्रकार डॉक्टर भी ऑपरेशन में छुरी से काटता है, कैंची से छीलता है। जिसप्रकार ये लोग हथियार बदलते रहते हैं।

उसीप्रकार शिष्य को भी ऐसा लगता है कि हमने प्रज्ञाछैनी से आत्मा और बंध को विभक्त तो कर लिया, अब ग्रहण करने के लिए अन्य साधन जुटाना पड़ेगा।

तब आचार्य कहते हैं कि मुक्ति के मार्ग से प्रारंभ कर मोक्ष प्राप्ति तक एक ही साधन है और वह है प्रज्ञाछैनी। अतः आत्मा को ग्रहण करने के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है।

इसी कथन की पोषक गाथा का पद्यानुवाद इसप्रकार है –

जिस भांति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे।

उस भांति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे।।296।।

कोई कहे कि ज्ञान से ग्रहण करे व श्रद्धान, चारित्रा से और ध्यान से कर्म काटें; फिर उपवासादि करके निर्जरा करें। उनसे कहते हैं कि इसप्रकार भिन्न-भिन्न साधन जुटाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कहने का आशय यह है कि एक मात्र ज्ञान ही साधन है और कोई दूसरा साधन तीन लोक और तीनकाल में किसीप्रकार भी संभव नहीं है। मोक्ष में पहुँचने तक एक प्रज्ञा ही साधन है।

कोई यह प्रश्न करे कि हमने बंध और आत्मा को भिन्न-भिन्न जान लिया, किन्तु जानने और ग्रहण करने में क्या अंतर है ? जब प्रज्ञा से ही दोनों को विभक्त करना है व प्रज्ञा से ही ग्रहण करना है तो यह तो एक ही प्रक्रिया है।

दोनों में बहुत अंतर है, क्योंकि जानने में तो बंध और आत्मा – ये दोनों ही ज्ञान के ज्ञेय बन रहे थे, किन्तु ग्रहण करने में बंध ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनता है, जबकि भगवान आत्मा को ही निरन्तर ज्ञान का ज्ञेय बनाकर उपयोग को वहीं स्थिर करने का नाम ग्रहण करना है।

ऐसा नहीं है कि श्रद्धा में अपनापन स्थापित करना, उसका नाम ग्रहण है; क्योंकि जब ज्ञानगुण यह पक्का निर्णय कर लेगा कि यह ही मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ, तब पर से उपयोग हटाकर उसको ही अपने ज्ञान का ज्ञेय बनायेगा, तब उसी का नाम ध्यान हो जायेगा, तब श्रद्धा गुण भी उसी में अपनापन स्थापित कर लेगा। इसका नाम ही सम्यग्दर्शन है। यही त्रायात्मक मुक्ति का मार्ग है, ऐसा अपने आप सहज सिद्ध हो जायेगा।

तब कोई प्रश्न करें कि मात्रा जानते रहे और कुछ नहीं करें; इसपर आचार्य कहते हैं कि इस भेदविज्ञान की भावना को तुम तेजी से नचाओ।

जिसप्रकार कुम्हार के चके को कुम्हार नचाता है तो वह पूरी ताकत से, तेजी से नचाता है और फिर वह हाथ छोड़ भी देता है, तब भी वह तेजी से नाचता है। जितनी देर तक वह नाचता रहता है, उतनी देर में वह उसके ऊपर घड़ा बनाने का अपना काम कर लेता है।

आचार्य कहते हैं कि उसीप्रकार भेदविज्ञान की भावना को तुम तेजी से नचाओ। जैसा कि निम्नांकित गाथाओं में नचाया गया है –

इस भांति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतता।

अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना।।297।।

इस भांति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना।।298।।
 इस भांति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना।।299।।

इसके पहले भी कई गाथाएँ आई हैं, जिनमें इसी भाव को स्पष्ट किया है कि –

धर्मादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायक भाव हूँ।
 रागादि मेरे कुछ नहीं मैं एक ज्ञायक भाव हूँ।
 मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक ज्ञायक भाव हूँ।

इसी का नाम है भेदविज्ञान की भावना को नचाना अर्थात् उसी में मन को लगाना। पूर्वोक्त जो गाथाएँ कहीं, उनमें पहली में है – चेतना, दूसरी है देखना व तीसरी है जानना। तीनों में बात तो एक ही है; क्योंकि देखने और जानने को ही चेतना कहते हैं। चेतना नाम का एक गुण है, उसी के ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना नामक दो भेद हैं। उपयोग जीव का लक्षण है; उसी के ये दो भेद हैं— ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग।

पहले ज्ञान—दर्शन को सामान्य रूप से कहा, फिर दर्शन को अलग कहा और ज्ञान को अलग कहा।

मैं इसप्रकार कहता हूँ कि आत्मा को देखना दर्शन है और आत्मा को जानना ज्ञान है। आत्मा को देखना दर्शन है और देखते रहना ध्यान है। आत्मा को जानना ज्ञान है और आत्मा को जानते रहना ध्यान है। आत्मा को देखना—जानना दर्शन—ज्ञान है और आत्मा को देखते—जानते रहना ध्यान है।

मैंने तीन बार कहा तो अंतर भी समझ में आया होगा। ये तीन नहीं हैं, ये तो एक चेतना का ही विस्तार है; क्योंकि हमें इस चेतना संबंधी भेदविज्ञान की भावना को विकल्पों में नचाना है।

मैं तो चैतन्यमय ज्ञानानंद स्वभावी हूँ — यह जो भाषा में आ रहा है, वह भाषा में नहीं आए, विकल्प में भी नहीं आए, मात्र

ज्ञान में रहे, बस। लब्धि और उपयोग में भी वही भेदविज्ञान की भावना कायम रहे।

यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रा को करने का उपाय है। चौथे से पाँचवे गुणस्थान में जाने का भी यही उपाय है। छटवें—सातवें गुणस्थान में भी जाने का यही उपाय है। श्रेणी में जाने का भी उपाय यही है। यहाँतक कि केवलज्ञान होने का भी यही उपाय है, अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। मोक्ष में अनंत काल तक रहने का भी यही उपाय है।

इससे छुट्टी मिलनेवाली नहीं है। अरे भाई! छुट्टी तो ऐसी चीज से ली जाती है, जो हमारे लिए भारभूत हो।

जिसको प्राप्त करने के लिए तुम अनंत पुरुषार्थ कर रहे हो, क्या वह छुट्टी प्राप्त करने के लिए कर रहे हो?

विचार करो, मान लो यदि आप मेडिकल साइंस के विद्वान अथवा डॉक्टर बनना चाहते हो और आपने उसके लिए इतनी मेहनत की, इतना पैसा खर्च किया और पढ़ाई पूरी करके गोल्ड मेडलिस्ट हुए। यह सब आपने भूल जाने के लिए तो नहीं किया न? वहाँ तो मरते दम तक ज्ञान कायम रखना चाहते हो और यहाँ पर छुट्टी की बात करते हो।

वह ज्ञान तो ऐसा है कि यदि पैसा कमाने का विकल्प हट जाय तो उसकी फिर कोई जरूरत नहीं है। अरे भाई! भूल जाय तो भूल जाय, फिर भी हम भूलने के लिए नहीं पढ़ते हैं।

यहाँ तुम आत्मज्ञान से छुट्टी अर्थात् उसे भूलने की बात कर रहे हो। अरे भाई! यह तो अनंत पुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाली वस्तु है, इसे तो अनंत काल तक कायम रखना चाहिए।

श्रद्धा—ज्ञान—चारित्रा की जो निर्मल पर्यायें प्रगट हुई हैं; वे सिद्धदशा में अनंतकाल तक रहेगी। छहढाला में भी कहा है —

रहिहैं अनंतानंत काल, तथा यथा शिव परिणये।

मुक्ति होते समय तुम जैसे परिणमित हुए, वैसे ही अनंतकाल तक रहोगे।

मान लो आप मकान बेचकर, बहुत कोशिश करके अपनी लड़की

की शादी किसी योग्यतम लड़के के साथ कर रहे हैं। यदि वह लड़की कहे कि जिस लड़के के साथ मेरे सात फेरे पढ़ रहे हैं, उसके साथ मुझे कितने दिन रहना पड़ेगा, उससे छुट्टी कब मिलेगी ?

तब आपको कैसा लगेगा ? आप यही कहेंगे — बेटी ! अब इस घर से तेरी डोली निकली है और अब उस घर से दुबारा डोली निकलने का अवसर नहीं है, वहाँ से अब तुम्हारी अर्धी ही निकलेगी। तबतक तुम्हें वहाँ ही रहना है। अगले भव में रहना है या नहीं रहना है — तुम इसके बारे में सोच लेना। वैसे राजुल तो कहती थी कि नौ भव की प्रीति लगी है और नौ भव तक और लगी रहे। तुम ये कैसे कहती हो कि उसके साथ कितने दिन और रहना पड़ेगा।

उसीप्रकार तेरे अन्दर यह बात कहाँ से आई कि प्रज्ञाछैनी से सारे जगत को भेदकर त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा में जाकर यह कहो कि इससे कब छुट्टी मिलेगी ? अभी तुम ऐसा प्रश्न मत करो कि कबतक रहना पड़ेगा, तुम एकबार इसे प्राप्त कर लो, फिर यह प्रश्न करना, तब हम जबाब देंगे; क्योंकि अभी हम जो जबाब देंगे, वह तुम्हारी समझ में नहीं आयेगा।

जब तुम्हें इस आत्मा की प्राप्ति हो जायेगी, तब तुम्हें ये प्रश्न खड़ा ही नहीं होगा कि इसके साथ कबतक रहना पड़ेगा? फिर तो तू यह कहेगा कि मुझे क्षायिक सम्यग्दर्शन चाहिए, क्षयोपशम या उपशम सम्यग्दर्शन नहीं।

वह लड़की कहे कि मैं जिसके साथ शादी कर रही हूँ, उसके साथ कितने साल रहना पड़ेगा ? पाँच साल बाद तो तलाक मिल जायेगा कि नहीं? — यह प्रश्न तब समाप्त हो जायेगा। जब शादी हो जायेगी और तू आराम से रहेगी; तब तुझे यह डर लगेगा कि यह मेरे को कहीं तलाक न दे दें। इसलिए अभी यह प्रश्न यहाँ खड़ा मत करना।

अज्ञान की भूमिका में तू यह निर्णय कैसे कर सकती है कि तुझे वहाँ कितने काल तक रहना है ?

कोई बेटा अपने बाप से कहे कि हम टोडरमल स्मारक में पढ़ने के

लिए जा रहे हैं तो वहाँ कितने दिन रहना पड़ेगा, घर आने की कब छुट्टी मिलेगी ? तो बाप कहता है कि बेटा अभी तुम जाओ। अभी पाँच साल तो रहना ही है, आगे का निर्णय पाँच साल बाद करना।

172

आधे से ज्यादा विद्यार्थी तो घर वापस जाते ही नहीं हैं। यदि वापिस आने का निर्णय उस दिन करते, तो क्या होता ? यदि माँ—बाप से ऐसा कहते कि हम अनन्तकाल के लिए जा रहे हैं तथा अब दोबारा तुम्हारे पास आयेंगे ही नहीं, तो क्या माँ—बाप तुम्हें यहाँ भेजते।

माँ—बाप के साथ तुम्हारा साथ तो अनन्तकाल के लिए छूट गया है; क्योंकि अब तुम बहुत धर्मात्मा बन जाओगे और वे इतने बने नहीं हैं, तो अगले भव में साथ कैसे रहनेवाला है ? यदि तुम उन्हें इतना धर्मात्मा बना लो तो बहुत बढ़िया बात है; पर यह बात इतनी सहज नहीं है।

आप इतने धर्मात्मा तो पाँच साल के अथक अध्ययन, दिन—रात की मेहनत और यह देशना प्राप्त होने से बने हैं।

यह जादू—मंतर थोड़े ही है कि तुम अपने मम्मी पर, पापा पर छोड़ दोगे, तो वे धर्मात्मा बन जायेंगे। यह कमाई थोड़े ही है, कि मैं अपनी एफ.डी. अपने नाम से पलट कर उसके नाम लिखवा दूँ, या मकान की रजिस्ट्री उनके नाम करवा दूँ।

यह तो ज्ञान की रजिस्ट्री है; यह थोड़े ही इसप्रकार होती है।

उनके और तुम्हारे रास्तें तो बदल जानेवाले हैं, रास्तें तो साथ में रहनेवाले हैं नहीं; क्योंकि यह मार्ग लौकिक मार्ग तो है नहीं, यह तो अलौकिक मार्ग है।

एक भाई मेडीकल लाईन में चला गया। एक भाई इंजीनियर बन गया और एक धर्म पढ़ने यहाँ आ गया। अब ऐसा कहो कि हम सब साथ में रहेंगे तो यह बात सही नहीं है।

इंजीनियर को तो किसी जंगल में रहना पड़ेगा। मान लो कोई बांध बनना है तो बांध तो जंगल में बनता है, तो उसे जंगल में रहना पड़ेगा। बांध बन जाने के बाद यद्यपि वहाँ मंगल हो जाता है, वह स्थान एक नगर बन जाता है; वहाँ नल, बिजली, सड़क आदि सभी

सुविधायें हो जाती हैं; लेकिन उस इंजीनियर को दूसरा बांध बनवाने के लिए फिर वनवास हो जाता है; इसप्रकार वह तो जीवनभर वनवासी ही रहेगा।

दूसरा भाई जो डॉक्टर है, वह सुबह से शाम तक बीमारों के बीच में रहेगा, रोगियों को ही देखता रहेगा और तीसरे तुम कहीं त्रिकाली-ध्रुव भगवान आत्मा के गीत गा रहे होंगे।

तुम्हारा और उनका किसीप्रकार भी साथ संभव नहीं है; क्योंकि उनका तो लौकिक मार्ग है और तुम्हारा अलौकिक।

यह जो पर को छोड़ने की बात है; पर से भेदविज्ञान की बात है; वह अनंतकाल तक के लिए छूटने की बात है। उस समय कहने की बात नहीं है; क्योंकि यह उस समय कह दोगे तो उस समय भी नहीं छूट पाओगे।

इसप्रकार इन चार गाथाओं में आचार्य कहते हैं कि भावनाओं को नचाते-नचाते जब भावना इतनी सबल हो जाए कि संसार में रहने की भावना से ही मुक्त हो जाय; तब समझ लो कि तुम्हारा मोक्ष हो गया।

यदि किसी को संसार में रहने की भावना हो, लौटकर वापिस आने की भावना हो तो उसकी स्थिति वास्तव में वैसी ही है; जैसी उस भिखारी की कि थी कि जिसको राजा बना दिया गया था -

पुराने जमाने में जब किसी राजा का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था और वह राजा किसी बच्चे को गोद लिए बिना ही मर जाता था; तब राजा बनाने के लिए उसके हाथी को भेजा जाता था और वह जिसको बैठाकर लाता था, उसे ही राजा बना दिया जाता था।

वह हाथी गया और एक भिखारी को बैठाकर ले आया। लोगों ने कहा कि यह नहीं चलेगा। हाथी भूल गया है, उसे दुबारा भेजो। हाथी फिर से उसी को बिठा लाया। तब लोगों ने कहा कि इसको कहीं छिपा देते हैं, फिर हाथी भेजते हैं, लेकिन वह हाथी उसी को खोजकर

लाता है। तब लोग कहते हैं कि अब तो इसे राजा बनाना ही पड़ेगा और उसे राजा बनाने की तैयारी करने लगते हैं।

173

ऐसा जानकर वह भिखारी अपने फटे-पुराने कपड़े समेटने लगा तो लोगों ने कहा कि ये तुम क्या कर रहे हो, इन कपड़ों को पहनकर तुम राजसिंहासन पर बैठोगे? वहाँ तुम्हारे लिए नये-नये बहुत बढ़िया कपड़े तैयार हैं। तुम्हें वहाँ नहा-धोकर एकदम तैयार करके बिठाया जायेगा।

वह भिखारी कहता है कि ऐसा है तो कोई बात नहीं; पर कम से कम इन्हें संभालकर तो रख लेने दो; क्योंकि मैं जब लौटकर जाऊँगा, तब तो फिर काम आयेगे, तब मैं क्या पहनूँगा?

उस भिखारी को यह पता नहीं कि वह क्या बन रहा है? क्योंकि उसका अभी भी लौटकर आने का विचार है।

वह भिखारी कहें कि वहाँ मन नहीं लगा तो? अरे भाई! उसका ऐसा विकल्प भी अपशुकन का विकल्प है, क्या उसे ऐसा विकल्प आना चाहिए? यदि उसे ऐसा विकल्प आए तो समझ लेना वह क्या है?

इसीप्रकार तुम सब भी इन गुदड़ियों से निकलकर सम्राट चक्रवर्ती बनने जा रहे हो? जो भी इस अध्यात्म के क्षेत्र में आए हैं, वे सभी भगवान बनने के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। यह कोई छोटी बात नहीं है।

आचार्य कह रहे हैं कि यह मोक्ष अधिकार है और मोक्ष अधिकार में मोक्ष की ही बात होगी।

प्रवचनसार की 200 वीं गाथा में कहा है कि तुम उस भेदविज्ञान की भावनाओं को तीव्रता से नचाओ, इसी से मोक्ष प्राप्त होगा और अन्य किसी से नहीं। यही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

कोई कहे कि मैंने तो गलतियाँ बहुत की हैं, मुझे मोक्ष कैसे होगा? उससे कहते हैं कि यह बात तू अपने दिमाग से निकाल दे; क्योंकि तूने मात्रा एक ही गलती की है आज तक।

नहीं, भाई! मैंने बहुत जीवों को सताया, बहुत जीवों की हिंसा की, इन्कमटैक्स, सैलटैक्स की चोरी की। आपको पता नहीं; मैंने बहुत पाप किए हैं साहब।

आलोचना पाठ में भी कहते हैं न —

हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर वनिता सों दृग जोरी।

आरंभ परिग्रह भीने, पन पाप जु या विधि कीने।।

इसके लिए तो आचार्य कहते हैं कि यह आलोचना—प्रतिक्रमण तो विषकुंभ है। तुमने यह सब कुछ किया ही नहीं है। तुम तो धोखे में हो कि तुमने कुछ किया है।

टी.वी. में सीरियल आते हैं तो एक सीरियल में ऐसा आया कि एक आदमी किसी के यहाँ जाकर उसके साथ बन्दूक से छीना झपटी कर रहा था, कि ऐसे में बन्दूक की गोली चल गई, लेकिन सामनेवाला आदमी उसकी गोली से नहीं मरा। उसकी गोली तो ऊपर से चली गई थी। लेकिन पीछे से किसी बदमाश ने गोली चलाई थी, उससे सामनेवाला मरा। लेकिन वह आदमी समझता है कि यह मेरी गोली से ही मरा है। वह बदमाश, जिसने गोली से मारा है, वह भी समझता है कि उस आदमी को स्वयं के द्वारा मारने का भ्रम हो गया।

वह बदमाश उस आदमी को कहता है कि भाग जा, भाग जा, छिप जा, नहीं तो पकड़ा जायेगा। इसप्रकार उसे भगाकर अपराधी बनाकर उस पर गोली मारने का इल्जाम लगा देता है।

भविष्य में जब अनेक कारणों से सिद्ध हो जाता है कि तेरी बन्दूक में से जो गोली निकली थी, वह गोली, तो वहाँ पेड़ में चिपकी है। जो गोली उसे लगी है, वह तो किसी दूसरे के बन्दूक की गोली है।

जिसप्रकार वह आदमी इस अपराधबोध से ग्रस्त हो गया था कि मेरे द्वारा गोली लगी है। उसीप्रकार यह जीव भी मैंने झूठ बोला, चोरी की इत्यादि के अपराधबोध से ग्रस्त है।

वह कहता है कि मैंने झूठ बोलने का अपराध किया तो कहते हैं कि तू झूठ बोल ही नहीं सकता है; क्योंकि भाषा तो पुद्गल की पर्याय

है और तू चेतनद्रव्य है। इन दो द्रव्यों के बीच में वज्र की दीवाल खड़ी है। जब तू बोल ही नहीं सकता है तो झूठ या सच बोलने की बात कहाँ से आई ?

174

तुमने चोरी भी नहीं की, क्योंकि परद्रव्यों के ग्रहण से भगवान आत्मा शून्य है। आत्मा में एक त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है। उसके कारण जब तू परद्रव्य को ग्रहण ही नहीं कर सकता है, तो चोरी कैसे कर सकता है ?

तू कहता है कि मैंने जीवों को मारा, जब तू मार ही नहीं सकता है तो फिर मारेगा कैसे ? तुझे तो मारने का भ्रम हो गया है।

तू कहता है कि मैंने इतना परिग्रह जोड़नेरूप पाप किया है, तो कहते हैं कि परिग्रह तुम्हारे जोड़ने से कहाँ जुड़ता है? वह तो पूर्व पुण्य के उदय से आता है। जब पाप का उदय आता है तो सड़क पर आ जाते हो और पाँच रुपये भी जेब में नहीं रहते। जिस पुण्य के उदय से सामग्री मिलती है, वह समाप्त होते ही सामग्री चली जानेवाली है।

तुम तो इस अपराधबोध से ग्रस्त हो गए हो कि मैंने इतना परिग्रह जोड़ा। वास्तव में न तो तुमने कुछ जोड़ा है और न ही कुछ छोड़ा है।

मोक्ष अधिकार में तो एक ऐसी गाथा आई है कि जिसमें कहा है कि मोक्ष और बंध तो जाने जाते हैं, होते नहीं हैं।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की 320 दिष्टी जहेव णाणं नामक गाथा में कहा है कि कुछ भी अपराध तेरे से नहीं हुआ है।

तुम कहते हो कि मैंने इतने पाप किए कि अनंत भव में नहीं कटेंगे और हमारे एक गुरुजी कहते थे कि एक अन्तर्मुहूर्त में सब भस्म हो जायेंगे।

तुम जो ये मानते हो कि मैंने बहुत पाप किए हैं, वह भी गलत है और गुरुजी जो ये कहते थे कि भस्म हो जायेंगे, यह भी गलत है।

ये सब तुम्हारे पास है ही नहीं, तो क्या भस्म होंगे ?

मैंने अपराध किए — इस मान्यता के कारण तूने इतने दुःख भोगें हैं।

उस आदमी को यह भ्रम हो गया था कि मेरी गोली से मरा है; इसलिए जंगल-जंगल में डरकर भागता रहा। 10-20 साल तक वह इसी भ्रम के कारण भटकता रहा।

उसीप्रकार तुम्हारे द्वारा भी एकमात्रा यह भूल हुई कि तुमने पर से भिन्न अपने को नहीं जाना। तुम तो अपने को भूल के आप हैरान हो गये हो।

कोई कहे कि मैंने इतनी सी गलती की और इतना बड़ा दंड ? क्या यह ककड़ी के चोर को कटार मारने जैसी सजा नहीं हुई ? तो कहते हैं कि तू अपनी इस झूठी मान्यता के कारण अनंत पर-पदार्थों का मालिक बना और उन पदार्थों पर अधिकार जमाया। इतनी-सी ही बात है कि तुमने उस पर सब कुछ करने का प्रयत्न किया और उसमें तेरे प्रयत्न निष्फल हो गए, यही अनंत दुःख है।

कदाचित् किसी पुण्य के उदय के योग से कुछ अनुकूल हो गया, तो मैं चौड़ा और बाजार संकरा जैसी स्थिति हो जाती है कि मैंने यह किया, मैंने वह किया।

इसप्रकार तुमने उस झूठी मान्यता को करनेरूप अपराध किया। अपराध का अर्थ भी यही होता है कि अपगतः राधः इति अपराधः। राध का अर्थ आत्मा होता है। उसको तुमने नहीं जाना, निज नहीं माना — बस इसी का नाम अपराध है।

उस अपराध को सुधारने का उपाय मात्र यही है कि तू पर से भिन्न भगवान आत्मा को जान। उस भगवान को प्रज्ञाछैनी से ही जानो, प्रज्ञाछैनी से पकड़े रखो, उसी प्रज्ञाछैनी से उसी में जम जाओ, उसी में रम जाओ। रमने व जमने का उपाय भी उस आत्मा को ही जानते रहना है और कोई दूसरा काम नहीं करना है।

बस एक ही काम है और वह तेरी प्रज्ञाछैनी पर्यायरूप है। यदि इसको आत्मा से अलग कर दे, तो वह फिर पराधीन हो जाती है। इसलिए यहाँ प्रज्ञाछैनी को वर्णादि और रागादि में शामिल नहीं किया।

सभी मुमुक्षुओं ने केवलज्ञान से भिन्न, केवलज्ञान से भिन्न — ऐसा तो बहुत सुना होगा; लेकिन रागादि के समान इस प्रज्ञाछैनी को भिन्न नहीं करना है। यह बहुत अद्भुत बात है।

175

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में तो यहीं से प्रारम्भ करते हैं कि प्रज्ञा-छैनी के साथ तेरा तादात्म्य संबंध है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पहली गाथा में कहते हैं —

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।

जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।।308।।

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।

तं जीवमजीवं वा तेहिमण्णं वियाणाहि।।309।।

इन्हीं गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है —

(हरिगीत)

है जगत में कटकादि गहनों से सुवर्ण अनन्य ज्यों।

जिन गुणों में जो द्रव्य उपजे उनसे ज्ञान अनन्य त्यों।।308।।

जीव और अजीव के परिणाम जो जिनवर कहे।

वे जीव और अजीव जानों अनन्य उन परिणाम से।।309।।

जिसप्रकार जगत में कड़ा आदि पर्यायों से सोना अनन्य है; उसीप्रकार जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है, उसे उन गुणों से अनन्य जानो।

जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्रा में बताये गये हैं; उन परिणामों से जीव या अजीव को अनन्य जानो।

कुन्दकुन्द शतक में समागत इसी भाव को स्पष्ट करनेवाली गाथाएँ इसप्रकार हैं —

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय-ध्रुव-युक्त सत् सत् द्रव्य का लक्षण कहा।

पर्याय गुणमय द्रव्य है — यह वचन जिनवर ने कहा।।55।।

पर्याय बिन ना द्रव्य हो ना द्रव्य बिन पर्याय ही।

दोनों अनन्य रहें सदा – यह बात श्रमणों ने कही।।56।।

इसप्रकार इस सर्वश्रेष्ठ अधिकार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में यहाँ से बात शुरू करते हैं कि जो द्रव्य है, वह अपनी पर्यायों में उत्पन्न होता है और उस द्रव्य को तुम अपनी पर्यायों से अनन्य जानो।

ये वही गाथाएँ हैं, जिनमें से गुरुदेवश्री ने क्रमबद्धपर्याय निकाली है।

इन्हीं गाथाओं की वह टीका है; जिसकी पहली पंक्ति इसप्रकार है—
जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव,
नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव
एव न जीवः।

प्रथम तो जीव अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं। यह भेदविज्ञान की पराकाष्ठा है।

टीका की इन पंक्तियों के बाद की जो विषयवस्तु है, वह सर्वविशुद्ध-
ज्ञानाधिकार में इस पंक्ति तक चली गई है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों का कर्ता है, अन्य का कर्ता नहीं; इसप्रकार यह आत्मा अकर्ता सिद्ध हुआ।

यह आत्मा अपनी पर्यायों का कर्ता है। यदि आत्मा अपनी पर्यायों का कर्ता नहीं होगा तो फिर अपनी पर्यायों का कर्ता किसी दूसरे को मानना होगा, तो फिर महासंकट खड़ा हो जायेगा; क्योंकि एक द्रव्य का कर्ता दूसरा द्रव्य खड़ा हो जायेगा। जबकि कर्ता-कर्म अधिकार में डंके की चोट यह बात कहकर आए हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के आधीन है ही नहीं।

बहुत से लोग कहते हैं कि इन गाथाओं से आप क्रमबद्धपर्याय निकालते हैं। वे कहते हैं कि इसमें तो यह लिखा है कि जीव जीव ही है, अजीव नहीं। इसमें तो अजीव से भेदविज्ञान कराया है। इसमें ऐसी बात कहाँ है कि पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं।

कोई प्रश्न करें कि जीव बदलता है कि नहीं बदलता ?

अरे भाई बदलता तो है; पर बदलकर अजीव नहीं हो जाता; इसलिए कहते हैं कि कभी नहीं बदलता। अनादि से अनंतकाल तक कितना भी कर्मों के बीच में रहे, कितने भी पाप करे, निगोद में रहें या नरक में रहना पड़े; तब भी वह कभी भी जीव से अजीव नहीं होगा।

और एकसमय भी ऐसा नहीं होता कि वह बदले नहीं। वह प्रतिसमय बदलकर भी नहीं बदलता है। जीव का स्वभाव तो जीवन है, चेतन है; वह बदलकर के कभी अजीव नहीं होता।

जब हम बदलने की बात कहते हैं तो उसका अर्थ पर्यायों में परिवर्तन से है और जब नहीं बदलने की बात कहते हैं तो उसका अर्थ है कि हम द्रव्यस्वभाव की बात कर रहे हैं।

कोई कहे कि बदलता है तो किसी दूसरे के कारण ही बदलता होगा ? तो कहा कि नहीं, यहाँ दो द्रव्यों के बीच में वज्र की दीवाल खड़ी करनी है; इसलिए कहा कि किसी दूसरे के कारण नहीं बदलता है। वह स्वयं पर्यायरूप में क्रम से बदलता है। अनादिकाल से अनंतकाल तक प्रत्येक जीव के बदलने का एक सुनिश्चित क्रम है, उसी नियमित क्रम से वह बदलता है, इसप्रकार इस पंक्ति में क्रमबद्धपर्याय आई है।

जीव कभी बदलकर अजीव नहीं होता और एक समय भी कभी बदले बिना रहता नहीं है।

कोई कहे कि यदि एक समय भी बदले बिना नहीं रहता है, तो नरक में जायेगा कि स्वर्ग में ?

पाप करेगा, खोटी संगति में पड़ेगा तो नरक में जायेगा और अच्छी संगति में रहेगा तो स्वर्ग जायेगा। अथवा स्वर्ग जानेवालों की संगति में रहने से वे स्वर्ग ले जायेंगे। नरक जानेवालों की संगति में रहने से वे नरक ले जायेंगे – ऐसा नहीं है; क्योंकि वह द्रव्य फिर स्वतंत्रा नहीं रहा।

जाना होगा का अर्थ यह भी नहीं है कि उसकी इच्छा होगी तो

स्वर्ग जायेगा; क्योंकि फिर तो इच्छा के अधीन वह द्रव्य हो जायेगा। जबकि इच्छा भी तो विकार है, पर है। हमने तो उसमें निर्मल पर्यायों को सम्मिलित किया है, विकारी पर्याय को नहीं। विकारी पर्याय को तो पर में घोषित किया है।

छहढाला में भी कहा है —

वर्णादि अरु रागादि तैं निजभाव को न्यारा किया

यदि कहो कि इच्छा के अधीन नहीं रखना तो फिर स्वतंत्रा तो तभी कहलायेगा जब ऐसा कहे कि जब हम चाहे तो प्रवचन में आए, जब नहीं चाहें तो प्रवचन में नहीं आए।

ऐसा नहीं है; क्योंकि चाह के अधीन हो जाना भी परतंत्राता है, स्वतंत्राता नहीं। चाह तो विकार है, पर है। यदि चाह के अधीन हुए तो पर के ही अधीन हुए।

तुम इसकी चिंता मत करो कि कैसे बदले या क्या करें; क्योंकि अनंतकाल पहले से ही प्रत्येक द्रव्य के बदलने का एक सुनिश्चित क्रम है। उस क्रम के अनुसार ही प्रतिसमय परिवर्तन होता है। इसप्रकार प्रतिसमय बदलकर ही तुम बिल्कुल नहीं बदलोगे।

यह सब जीवों के परिणमन के बारे में तो है ही तथा सभी अजीवों के परिणमन के बारे में भी है।

इसप्रकार यहाँ दो द्रव्यों की भिन्नता और उनके परिवर्तन को बड़ी गहराई से स्थापित किया है।

परिवर्तन तो द्रव्यों का स्वभाव है और स्वभाव तो उसे ही कहते हैं जो पर से निरपेक्ष हो। उसमें यदि पर की अपेक्षा हुई, वह पर के अनुसार ही बदला तो फिर यह तो अनंत पराधीनता हो गई।

किसी को अध्यक्ष बनने के लिए कहा गया और कहा गया कि इतने बजे हम आयेँगे और आपको ले जावेंगे, तो वह समझता है कि मैंने इसके माथे पर भार लाद दिया और मैं आजाद हो गया कि मुझे स्वयं नहीं जाना पड़ेगा, अपितु मुझे लेने आयेँगे।

वे साहब निश्चित समय पर तैयार होकर खड़े हो जाते हैं और दो घंटे तक कोई लेने नहीं आता है। यदि उसने ऐसा कह दिया होता कि मुझे लेने आना नहीं, यदि मुझे अनुकूलता होगी तो मैं स्वयं आ जाऊँगा। तब तो वह स्वाधीन हो जाता। उसके बाद यदि जाता तो ठीक, नहीं जाता तो ठीक।

वह ऐसा समझता है कि मैंने इसे बांध लिया। दूसरों को बांधने-वाला पहले स्वयं बंधता है।

जैसे आपने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा कि अब तुम कहीं नहीं जा सकते, तो मैंने कहा आप भी तो नहीं जा सकते।

आपने मुझे पकड़ कर रोका है तो आप भी तो स्वयं रुके हैं। जब तक आप मुझे रोके रहेंगे, तबतक आपका रुकना भी अनिवार्य है। यदि मुझे कहीं जाना होगा तो आपको मुझे ले जाना पड़ेगा और आपको कहीं जाना हुआ तो मुझे छोड़कर जाना होगा, तो आप बताओ कि ज्यादा कौन बंधन में है मैं या आप ?

एक चोर को पकड़कर चार पुलिसवाले बैठे हैं तो वह चोर बंधा है या पुलिसवाले ?

जगत को दिखता है कि चोर बंधा है; लेकिन पुलिसवाले भी बंधे हैं; क्योंकि वे कहीं नहीं जा सकते हैं और वे आठ घंटे में थककर चकनाचूर हो जाते हैं। फिर पुलिस वालों की ड्यूटी बदल जाती है और दूसरे चार पुलिसवाले आते हैं; इसप्रकार चौबीस घंटे में बारह पुलिसवाले आते हैं और थक जाते हैं; लेकिन वह चोर आराम से लेटा रहता है। जब सोना होता है, तब सोता है; जब जागना होता है, तब जागता है। इसप्रकार चोर नहीं, पुलिसवाले बंधे हैं।

इसप्रकार बांधनेवाला बंधता है।

अरे भाईसाहब ! दो द्रव्यों के बीच में बंधन का कोई सवाल ही नहीं है। वे तो अपने नियमित परिणामों के अनुसार सुनिश्चित रूप से

बदलेंगे। दुनिया की कोई ताकत उसे नहीं बदल सकती। जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि –

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा।।321।।
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिण्णिंदो वा।।322।।

(हरिगीत)

जगत-जन यों कहें विष्णु करे सुर-नरलोक को।
रक्षा करूँ षट्काय की यह श्रमण भी माने यही॥३२१॥
तो ना श्रमण अर लोक के सिद्धान्त में अन्तर रहा।
सम मान्यता में विष्णु एवं आत्मा कर्ता रहा॥३२२॥

जिस जीव का, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव का, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता।

इन्दो वा जिण्णिंदो वा में इन्द्र व जिनेन्द्र की जोड़ी छन्द के अनुरोध से नहीं बनाई, अपितु कोई कहे कि जिनेन्द्र भगवान या तीर्थंकर तो अनन्तवीर्य के धनी होते हैं, वे तो पलट देंगे; इसलिए कहा – जिनेन्द्र भगवान नहीं पलट सकते।

पुनः कोई कहे कि वे तो वीतरागी हैं, उनको पलटने की इच्छा ही नहीं होती है; इसलिए नहीं पलटते; लेकिन इन्द्र की तो इच्छा है, वह तो पलट सकता है। इसलिए कहा कि इन्द्र भी नहीं पलट सकता।

न तो रागियों में श्रेष्ठ इन्द्र और न वीतरागियों में श्रेष्ठ जिनेन्द्र – दोनों ही नहीं पलट सकते हैं।

करणानुयोग में जो ये लिखा है कि इन्द्र में इतनी शक्ति है कि वह जम्बूद्वीप को पलट सकता है, वह तो शक्ति के माप का कथन है;

लेकिन वह शक्ति कभी प्रयोग में आनेवाली नहीं है; क्योंकि वह जम्बूद्वीप को पलटनेवाला नहीं है ?

क्यों ?

178

क्योंकि जिसमें शक्ति होती है, उसे पलटने का भाव नहीं होता। वह कषाय के अभाववाला सम्यग्दृष्टि होता है। जिसमें पलटने का भाव होता है, उसमें शक्ति नहीं होती।

जैनदर्शन में जहाँ एक ओर यह लिखा कि एक द्रव्य परमाणु मात्रा को हिला नहीं सकता और यहाँ लिखा कि इन्द्र में इतनी शक्ति है कि वह जम्बूद्वीप को पलट दे – ये दोनों ही बातें शास्त्रों में हैं और दोनों ही सत्य हैं; क्योंकि परस्पर विरोधी कथन ये हैं ही नहीं।

इसमें पलट सकता है – ऐसा लिखा है, यह थोड़े ही लिखा कि इन्द्र ने जम्बूद्वीप को पलटा।

बहुत पहले मेरे पिताजी कहा करते थे कि एक आदमी कहता था कि जो यह मेरी अधमरी छोटी-सी कुतिया है, यह चाहे तो शेर को तोड़ खाए, लेकिन कभी चाहेगी नहीं, बुन्देलखण्डी भाषा में वह मन धरे तो शेर को तोड़ खाये, लेकिन कभी मन नहीं धरेगी।

इसीप्रकार इन्द्र चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट दे, लेकिन कभी चाहेगा नहीं। वह तो शक्ति के माप का कथन है।

जैसे मैं चाहूँ तो पाँच किलो दूध पी सकता हूँ, लेकिन कभी पिया नहीं और कभी पीऊँगा भी नहीं। यह तो शक्ति का निरूपण है, इसका मतलब यह थोड़े ही है कि मैं ऐसा करूँगा ही करूँगा।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है। यह समयसार के सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकार में प्रतिपादित परमसत्य है; इसलिए इसे द्रव्य से और पर्याय से सर्वविशुद्ध कहते हैं।

हे भाई ! यह जैनदर्शन तो अकर्तावादी दर्शन है। जो इसे मानकर अपने उपयोग को सारे जगत से हटाकर अपनी आत्मा पर ले जायेगा, उसे मुक्ति की प्राप्ति अवश्य होगी।



तेईसवाँ प्रवचन

समयसार परमागम की चर्चा चल रही है, इसमें जीवाजीवा-धिकार से लेकर मोक्ष अधिकार तक का विषय स्पष्ट किया जा चुका है।

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार ग्रन्थाधिराज को नाटक के रूप में सबसे पहले आत्मख्याति टीका में प्रस्तुत किया अर्थात् इस समयसार ग्रन्थ का नाटकीकरण किया। इसके बाद बनारसीदासजी ने नाटक समयसार लिखा। जिससे यह ग्रन्थ नाटक समयसार के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। बाद में भेद करने की दृष्टि से बनारसीदासजी के ग्रन्थ को नाटक समयसार और इस समयसार ग्रन्थ को समयसार के नाम से कहने लगे।

आज से हजारों वर्ष पूर्व पुरानी परम्पराओं में जो नाटक होते थे, उनमें एक सूत्राधार होता था, जो रंगमंच पर आकर सभी बातें बताता था।

चार सौ वर्ष पूर्व बनारसीदासजी के जमाने में नाटक के स्टेज को अखाड़ा कहा जाता था, इसलिए नाटक समयसार में भी बार-बार ऐसा कहा जाता है कि अब अखाड़े में स्वांग आया।

आजकल यह अखाड़ा शब्द पहलवानों के लड़ने की जगह के नाम से जाना जाता है और नाटक में इसका नाम हमने रंगमंच रख लिया है। हमें इन सभी बातों को भी स्पष्ट रूप से समझना होगा।

नाटक के पात्र जो वेश बनाकर आते हैं, उस वेश को स्वांग कहा जाता है। सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में स्पष्ट कहा है कि जीव से लेकर मोक्ष तक सभी स्वांग हैं।

जिस भगवान आत्मा की चर्चा हमें करनी है, वह अब करेंगे; क्योंकि अभी तक तो वह भगवान आत्मा अनेक स्वांगों में ही प्रस्तुत हुआ है। ये सब स्वांग भगवान आत्मा की वास्तविक स्थिति नहीं हैं

179

अर्थात् ये वह भगवान आत्मा नहीं है, जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रा की प्राप्ति होती है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति में जब मंगलाचरण करते हैं तो वे उस ज्ञान को नमस्कार करते हैं, जो ज्ञान उन वेशों में या स्वांगों में आनेवाले आत्मा को पहचान लेता है या जान लेता है कि यह स्वांग है और इससे भिन्न जो आत्मा है, वह अलग है।

बहुरुपिया बाजार में अलग-अलग वेश धारण करके आता है और उसकी विशेषता इसी बात में ही मानी जाती है कि वह जिसका वेश धारण करके आए तो अधिकांश लोग उसे उसी रूप में समझें। जब वह पुलिस इन्सपेक्टर का वेश बनाकर आए तो अधिकांश लोग उसे पुलिस इन्सपेक्टर ही समझें और उस के साथ पुलिस इन्सपेक्टर जैसा व्यवहार करें, तब वह सफल माना जायेगा।

यदि लोगों ने यह जान लिया कि यह तो बहुरुपिया है, पुलिस इन्सपेक्टर का वेश बनाकर आया है। तो पुलिस इन्सपेक्टर जब डांटे तो लोग हँसेंगे, घबड़ायेंगे नहीं। तब यह असफल स्वांग माना जायेगा।

सफल स्वांग तो वह तब कहलायेगा कि जब वह इन्कमटैक्स का ऑफीसर बनकर आए तो सेठजी का हार्टफैल के अतिरिक्त सबकुछ हो जाय।

इसीप्रकार नाटक समयसार में कहते हैं कि जो इन स्वांगों को पहचान ले कि यह तो बहुरुपिया है और वेश बनाकर आया है तो वह ज्ञानी है। तथा जो नहीं पहचान पाए और उसे वैसा ही समझें, वह अज्ञानी है।

इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रदेव हर अधिकार के आरम्भ में उस ज्ञान को नमस्कार करते हैं, जो ज्ञान इस स्वांग को पहचान लेता है और हर अधिकार के अंत में लिखते हैं कि बंध निकल गया, मोक्ष निकल गया।

दृष्टि के विषय में से मोक्ष को भी निकालना है, उसमें अपनापन स्थापित नहीं करना है; इसलिए मोक्ष: निष्क्रान्त: — ऐसा लिखा है।

जिसप्रकार वह बहुरूपिया किसी की दुकान पर जाकर के रौब झाड़ता है और जो उसे पहचान नहीं पाता है, वह तो आवभगत करता है, लेकिन जो उसे पहचान लेता है, वह मुस्कुराता है और उसकी आज्ञा नहीं मानता है। तब वह बहुरूपिया उसी समय वहाँ से निकल जाता है; क्योंकि वह सोचता है कि यदि मैं ज्यादा देर रुका तो मेरी पोल खुल जायेगी अर्थात् पहचाननेवाला ऐसा व्यवहार करेगा कि आसपास के लोग भी जान लेंगे कि मैं बहुरूपिया हूँ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान का उदय होगा, तब आस्रव आदि के भेदरूप विकल्प खड़े नहीं होंगे और भगवान आत्मा का अनुभव हो जायेगा।

अब इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में कहते हैं कि जब ये सारे स्वांग समाप्त हो गए, तब जो मात्रा ज्ञानस्वभावी आत्मा रहा, उसका नाम है सर्वविशुद्धज्ञान।

ज्ञान ने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी से जब बंध और आत्मा में, मोक्ष और आत्मा में भेद डाल दिया, तब जो त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा रहा, उसका नाम सर्वविशुद्धज्ञान है।

इसी बात को निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि वह सर्वविशुद्धज्ञान रूप भगवान आत्मा अकर्ता और अभोक्ता है।

यद्यपि इस समयसार ग्रन्थ के सबसे बड़े अधिकार कर्ता—कर्म अधिकार में यह बात कही थी, फिर भी उपसंहार के रूप में अब इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में पुनः उन्होंने इसी विषय को उठाया कि तुम यह निर्णय करो कि तुम ज्ञाता—द्रष्टा आत्मा हो, कर्ता—भोक्ता नहीं।

इसके पहले भी इस बात की चर्चा पूर्व में उन चार गाथाओं में की जा चुकी है।

यह स्पष्टीकरण तो किया जा चुका है कि ये भगवान आत्मा परद्रव्य का रंचमात्रा भी कर्ता—भोक्ता नहीं है और परद्रव्य भी इसके कर्ता—भोक्ता नहीं है। इन गाथाओं की टीका में सबसे अंत में लिखा

था कि तो आत्मा अकर्ता अवतिष्ठते — इसतरह यह आत्मा अकर्ता सिद्ध हुआ।

तात्पर्य यह है कि जीव अजीव में कुछ भी नहीं करता।

180

कोई ऐसा प्रश्न करे कि आप जो बात कह रहे हो, वह तो ठीक है; लेकिन यह भी बता दो कि फिर पर का करेगा कौन, जिससे मैं निश्चिन्त हो जाऊँ ?

अरे ! वह प्रश्न तो उसीप्रकार का है, जैसे आप कहें कि मेरे पास दो वर्ष का बच्चा है; इसलिए मैं प्रवचन में समयसार की बात सुनने में अपना उपयोग नहीं लगा पा रहा हूँ ? उससे कहते हैं कि बच्चे का विकल्प छोड़ो और मेरी बात ध्यान से सुनो, तो यह बात आपको अवश्य समझ में आयेगी।

फिर वह कहे कि यह तो बहुत अच्छी बात है, लेकिन आप यह तो बताओ कि फिर बच्चे को संभालेगा कौन? यदि कोई संभालेगा तो मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा।

साथ में वह यह भी कहता है कि मैं यह देखना चाहता हूँ कि वह आदमी कितना जिम्मेदार है, जो मेरे बच्चे को संभाल रहा है। कहीं ऐसा न हो कि मेरे से पहले वह निश्चिन्त हो जाये और वह बच्चा चाहे जो कुछ करे। मुझे संभालनेवाला बताओ, मैं साल—छह महीने उसको संभालते हुए देख तो लूँ, ताकि मैं शान्ति से मर सकूँ।

अरे भाई ! देखो, इसे शांति से जीना नहीं है, शांति से मरना है। जीवन भर तो अशांत रहता ही है और मरने के बाद क्या होगा ? इसकी भी चिंता इसे निरन्तर रहती है।

मुझसे भी बहुत सारे लोग कहते हैं कि आपने अपने मरने के बाद के लिए क्या इन्तजाम किया ? मैं उनसे कहता हूँ कि मैं तो वर्तमानकाल में ही सबकुछ छोड़ना चाहता हूँ और आप मेरे मरने के बाद की जिम्मेदारी भी मुझे सौंपना चाहते हैं।

अभी तक तो इतना था कि मरने के बाद छुटकारा मिल जाएगा,

लेकिन तुम तो कहते हो कि मैं मरने के बाद की भी चिन्ता करूँ। अरे भाई! हम लोग तो सात पीढ़ी के बाद आठवीं पीढ़ी की चिन्ता करनेवाले लोग हैं न।

हम निश्चिन्त नहीं हो पाते, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संकेत के रूप में क्रमबद्धपर्याय की चर्चा की कि प्रत्येक द्रव्य का किस समय क्या परिणमन होगा, यह पूर्णतः सुनिश्चित है।

अब कोई कहे कि ठीक है, सबकुछ सुनिश्चित है; लेकिन कोई उसे करेगा, तभी तो होगा; क्योंकि निमित्त भी तो होता है, भले ही वह कर्ता न हो, लेकिन निमित्त होता तो है ही।

तो कहते हैं कि जिस द्रव्य का जो होना है, उसके वैसा होने का निमित्त भी निश्चित है।

कोई मुझसे पूछे कि हमारा यह टोडरमल विद्यालय चलेगा कि नहीं चलेगा, उससे कहता हूँ कि आप विकल्प छोड़ दो, यह सब क्रमबद्ध है, भगवान के ज्ञान में जो-जो झलका होगा, वह सब होगा।

अब यदि आप कहो कि निमित्त भी झलका होगा, न सही कर्ता के रूप में, निमित्त के रूप में ही, अतः बताओ कि कौन चलाएगा ?

निमित्त चलाता थोड़े ही है, मैंने तो यह कहा था कि भगवान कहते हैं कि चलना होगा तो चलेगा और बंद होना होगा तो बंद होगा।

उसे इसमें निश्चिन्तता नहीं मिल सकती है कि ये विद्यालय तो चलेगा ही, आप चिन्ता मत करो; क्योंकि कोई न कोई आएगा और चलाएगा। अरे भाई ! यह तो कल्पना लोक की उड़ान है, वस्तुस्वरूप नहीं, जिसके आधार पर तू निश्चिन्त होना चाहता है।

वस्तुस्वरूप तो यह है कि जो होना होगा, वह होगा और जो नहीं होना होगा, वह नहीं होगा। ऐसा जानकर ही वह अकर्ता की ओर जायेगा।

जब ऐसा कह दिया कि अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव जीव ही है, अजीव नहीं और अजीव अपने क्रमनियमित

परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव है, जीव नहीं। तब पर में कुछ करने की बात तो समाप्त हो ही जाती है।

181

पर में वर्णादि से लेकर रागादि तक के 29 प्रकार के भाव शामिल हैं और उनमें तुम्हें कुछ नहीं करना है — यह आत्मा के अकर्ता स्वभाव की बात है।

किन्तु अपनी पर्यायों के कर्ता तो तुम स्वयं हो ही — ऐसा गाथा का मूल भाव है। तुम अपनी पर्यायों से अनन्य हो, वे तुम्हारी ही हैं, तुम उनके कर्ता भी हो, भोक्ता भी हो।

गाथा का स्पष्ट भाव यह है कि जो द्रव्य है, वह अपने गुणों/पर्यायों के रूप में स्वयं उत्पन्न होता है और उन्हीं पर्यायों का वह कर्ता है। अरे भाई ! जो होना है, उसके कर्ता तुम हो, उसकी चिन्ता के कर्ता तुम नहीं हो।

फिर भी तुम चिन्ता करते हो, तो ऐसा लगता है कि तेरे परिणमन में चिन्ता होना निश्चित है। अरे भाई ! जो होना निश्चित है, उसके लिए चिन्ता की क्या जरूरत है ? वह अपने क्रमनियमित परिणमन से अपने समय पर अवश्य आ जाएगा, तुम्हें उसके बारे में रंचमात्रा भी सोचने की आवश्यकता नहीं है।

क्रिकेट में गेंद का कैच लेनेवाला यह समझ जाता है कि गेंद किस रफ्तार से आ रही है व किस दिशा में जा रही है, तो वह उसी स्थान पर जाकर खड़ा हो जाता है। क्या कभी उसे ऐसा विकल्प आता है कि गेंद ने यदि बीच में ही रास्ता बदल लिया तो। यदि उसे ऐसा विकल्प आ जाए तो वह कभी कैच ले ही नहीं सकता।

इसप्रकार इन गाथाओं की टीका में क्रमबद्ध की संक्षिप्त चर्चा की।

पर के संबंध में जो यह बात कही कि आत्मा पर का कुछ करता नहीं है, भोक्ता नहीं है; तब फिर भगवान आत्मा क्या करता है ? इस संदर्भ में गाथा कहते हैं —

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाइण पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥319॥
दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मदयं णिज्जरं चव ॥320॥

(हरिगीत)

ज्ञानी करे-भोगे नहीं बस सभी विध-विध कर्म को।
वह जानता है कर्मफल बंध पुण्य एवं पाप को ॥३१९॥
ज्यों दृष्टि त्यों ही ज्ञान जग में है अकारक अवेदक।
जाने करम के बंध उदय मोक्ष एवं निर्जरा ॥३२०॥

अनेक प्रकार के कर्मों को न तो ज्ञानी करता ही है और न भोक्ता ही है; किन्तु पुण्य-पापरूप कर्मबंध को और कर्मफल को मात्रा जानता ही है।

जिसप्रकार दृष्टि (नेत्रा) दृश्य पदार्थों को देखती ही है, उन्हें करती-भोगती नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान भी अकारक व अवेदक है और बंध, मोक्ष, कर्मोदय और निर्जरा को मात्रा जानता ही है।

यह भगवान आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म, शरीरादि नोकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म — इन सबका न कर्ता है और न भोक्ता है; अपितु यह भगवान आत्मा कर्म को, कर्म के फल को, बंध को, पुण्य को और पाप को मात्र जानता है।

आत्मा निर्जरा का भी कर्ता नहीं है, मोक्ष और बंध का भी कर्ता नहीं है; मात्रा जानता है। इसप्रकार यहाँ पर को जानने की स्थापना की है।

दूर से देखनेवाला कोई व्यक्ति अग्नि को जलता हुआ देखे तो उसे कोयला भी जलता हुआ दिखेगा और लोहे का गोला भी जलता हुआ दिखेगा; लेकिन कोयला तो अग्नि को जला रहा है और लोहे का गोला जल रहा है। यद्यपि कोयला जलकर के राख हो जायेगा, लोहे का गोला राख नहीं होगा; फिर भी लोहे का गोला अकेला भोगता है, क्योंकि वह अग्नि की शिखा को प्रज्वलित करने में रंचमात्रा भी सहयोग नहीं देता है। जबकि ईंधन अग्नि से जलता भी है और

उसे जलने में सहयोग भी करता है। उसे देखनेवाली आँख (दृष्टि) न तो अग्नि को जलाती है और न उससे जलती है। इसप्रकार वह आँख न तो अग्नि के जलने रूप क्रिया की कर्ता ही है और न भोक्ता ही है, वह तो मात्रा जानती है कि यह ईंधन अग्नि को जला रहा है और लोहे का गोला अग्नि से जल रहा है।

जिसप्रकार दृष्टि अग्नि को देखती व जानती तो है, परन्तु उसको करती, भोगती नहीं है; उसीप्रकार ज्ञानी का ज्ञान कर्म को, कर्म के उदय को, निर्जरा को, बंध को और मोक्ष को देखता-जानता तो है; परन्तु उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है।

यह 320 वीं गाथा बहुत प्रसिद्ध है। जयसेनाचार्यजी ने मोक्ष अधिकार इस 320 वीं गाथा पर ही समाप्त किया है, जबकि आचार्य अमृतचन्द्र तो इसे पूर्व में ही समाप्त कर चुके हैं।

वास्तविकता यह है कि हमारे पूर्वाचार्य बहुत बड़े चिन्तक थे, वे अपने पूर्वाचार्यों के प्रति भगवान जैसी श्रद्धा रखते थे, उनकी प्रत्येक बात को प्रमाण मानते थे तथा जो भी नई बात समझ में आती, तो उसे भी बहुत दृढ़ता के साथ रखते थे, पर इस भाषा में कि इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने तो समयसार को अधिकारों में विभाजित किया नहीं था, वह तो टीकाकारों ने ही किया है। अमृतचन्द्राचार्यजी को ऐसा लगा कि यह मोक्ष अधिकार यहीं समाप्त हो गया है। अतः उन्होंने 308 गाथा से सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार शुरू कर दिया और जयसेनाचार्य ने 320 गाथा तक मोक्ष अधिकार को माना।

इस अधिकार में पर के कर्ता और भोक्तापने का निषेध किया है और पर को जानने का समर्थन किया है।

गुरुदेवश्री ने भी कहा था कि बंध और मोक्ष तो जाने जाते हैं।

न तो तुम द्रव्यमोक्ष के कर्ता हो और न ही भावमोक्ष के। इसीप्रकार न ही द्रव्यबंध के कर्ता हो और न ही भावबंध के। यदि

तुम बंध के कर्ता होते, तो मोक्ष के भी कर्ता होते। जब तुम बंध के ही कर्ता नहीं हो, तो मोक्ष के कर्ता कैसे हो सकते हो?

इस संदर्भ में जयसेनाचार्य ने अपनी टीका में एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है कि हल्दी होती है पीले रंग की और चूना होता है सफेद रंग का। दोनों के मिल जाने पर लाल रंग हो जाता है।

उस लाल रंग का कर्ता हल्दी है या चूना? वह लाल रंग हल्दी का है या चूने का है? हल्दी का रंग तो पीला है और चूने का रंग सफेद है? यदि दोनों का मिलकर है — ऐसा कहो तो दोनों से मिलकर तो कुछ होता ही नहीं है और दोनों मिलकर एक क्रिया करते ही नहीं हैं।

कोई कहे कि लाल रंग देखने में तो आ रहा है, तो वह लाल रंग किसका है?

आचार्य कहते हैं कि वह लाल रंग है ही नहीं, हल्दी और चूना कभी मिलते ही नहीं हैं; क्योंकि दोनों के बीच में वज्र की दीवार खड़ी है।

वे मिले हुए नहीं हैं, अपितु अज्ञानी को मिले हुए दिखते हैं। उस लाल रंग में भी ज्ञानीजन तो चूने को सफेद और हल्दी को पीला ही देखते हैं।

इसीप्रकार आत्मा रागादि का कर्ता अशुद्धनिश्चयनय से है और व्यवहारनय से रागादि का कर्ता पुद्गल है। परमशुद्धनिश्चयनय से तो रागादि होते ही नहीं हैं; इसलिए इस नय से कोई कर्ता नहीं है; क्योंकि परमशुद्धनिश्चयनय तो त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के अलावा कुछ भी नहीं देखता है। उसकी दृष्टि में रागादिक की सत्ता ही नहीं है।

परमशुद्धनिश्चयनय हल्दी और चूना को कभी मिला हुआ देखता ही नहीं है; वह तो उन्हें पृथक्-पृथक् ही देखता है।

इसप्रकार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आत्मा के अकर्तापने और अभोक्तापने की सिद्धि की।

अब आगामी गाथाओं की उत्थानिका रूप अत्यन्त मार्मिक कलश काव्य कहते हैं, जो इसप्रकार है —

183

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यति तमसा तताः।

सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥199॥

अपने अज्ञान अंधकार के कारण जो लोग आत्मा को पर का कर्ता मानते हैं; वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हो; तथापि लौकिकजनों की भांति, उन्हें भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

उत्थानिकारूप 199 वें कलश में जो बात कही गई है; वही बात अब इन गाथाओं में कहते हैं —

लोयस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणं पि अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥321॥
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणं वि अप्पओ कुणदि ॥322॥
एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाणं दोण्हपि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥323॥

(हरिगीत)

जगत-जन यों कर्हे विष्णु करे सुर-नरलोक को ।
रक्षा करूँ षट्काय की यह श्रमण भी माने यही ॥३२१॥
तो ना श्रमण अर लोक के सिद्धान्त में अन्तर रहा ।
सम मान्यता में विष्णु एवं आत्मा कर्ता रहा ॥३२२॥
इसतरह कर्तृत्व से नित ग्रसित लोक रु श्रमण को ।
मोक्ष दोनों को दिखाई नहीं देता है मुझे ॥३२३॥

लौकिकजनों के मत में देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्यरूप प्राणियों को विष्णु करता है और यदि श्रमणों के मत में भी छहकाय के जीवों को आत्मा करता हो तो फिर तो लौकिकजनों और श्रमणों का एक ही सिद्धान्त हो गया; क्योंकि उन दोनों की मान्यता में हमें कोई भी अन्तर दिखाई नहीं देता। लोक के मत में विष्णु करता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है। इसप्रकार दोनों की कर्तृत्व सम्बन्धी मान्यता एक जैसी ही हुई।

इसप्रकार देव, गुरु, मनुष्य और असुरलोक को सदा करते हुए ऐसे वे लोक और श्रमण — दोनों का ही मोक्ष दिखाई नहीं देता।

एक दृष्टि से देखा जाय तो लौकिकजन ज्यादा अच्छे हैं; क्योंकि उन्होंने तो भगवान को कर्ता माना और स्वयं को अकर्ता माना; किन्तु उक्त श्रमण ने तो यह माना कि मैं कर्ता हूँ।

माथे पर बोझा तो तब बढ़ता है, जब हम स्वयं को कर्ता मानते हैं। ईश्वरवादी का बोझा तो इसलिए उतर जायेगा; क्योंकि वह तो ईश्वर को कर्ता मानता है; उसने तो अपने माथे पर बोझा रखा ही नहीं, लेकिन श्रमणों ने तो अपने माथे पर बोझा रखा है।

जब श्रद्धान की दृष्टि से देखेंगे तो लौकिकजन और श्रमण में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि लौकिकजन विष्णु को कर्ता मानते हैं और श्रमण आत्मा को। अकर्तास्वभाव को दोनों ने ही नहीं माना।

अरे ! हम गुलाम चाहे अंग्रेजों के रहें या मुसलमानों के, रहे तो गुलाम ही। भगवान ने बचाया तो तू भगवान के आभार से दब जायेगा, मुनिराज ने बचाया तो मुनिराज के आभार से दब जायेगा।

इसप्रकार लौकिकजन और स्वयं को पर का रक्षक माननेवाले श्रमणों — इन दोनों के सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है। अतएव आचार्य कहते हैं कि मुझे इस लौकिक आदमी और श्रमण — इन दोनों में से किसी को भी मोक्ष होता दिखाई नहीं देता।

कितना कठोर लिखा है आचार्यदेव ने। एक भाई मेरे से कहते थे कि आपने अपनी एक किताब में ऐसा लिखा है कि मुनिराज सांसारिक प्रपंचों से दूर रहते हैं; इसके कारण बहुत हो-हल्ला हो रहा है, इसे आप हटा दें तो अच्छा है।

मैंने कहा — यह तो पण्डित टोडरमलजी का वाक्य है, मैंने तो इसे मात्रा उद्धृत किया है। इसमें तो मुनिराजों की प्रशंसा है, निन्दा नहीं।

इसके बाद इसी भाव का पोषक काव्य कहते हैं, जो इसप्रकार है—
नास्ति सर्वोऽपि संबन्धो परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबन्धबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥200॥

(दोहा)

जब कोई संबंध ना पर अर आतम मांहि।

तब कर्ता परद्रव्य का किसविध आत्म कहाँहि ॥२००॥

184

परद्रव्य और आत्मतत्त्व में कोई भी संबंध नहीं है। इसप्रकार आत्मा का परद्रव्य के साथ कर्तृत्व—कर्मत्व संबंध का अभाव होने से आत्मा परद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है ?

इस कलश में एकत्व—ममत्व—कर्तृत्व—भोक्तृत्व आदि संभी संबंधों का तो निषेध कर रहे हैं; लेकिन ज्ञाता—ज्ञेय संबंध का नहीं, अपितु इसमें तो पर के साथ ज्ञाता—ज्ञेय संबंध की तो स्थापना की है।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में सबसे अधिक चर्चा कर्तृत्व—भोक्तृत्व के निषेध की है, एकत्व—ममत्व—स्वामित्व की चर्चा कम है।

आज से 25 वर्ष पहले ही मैंने अपनी क्रमबद्धपर्याय पुस्तक में यह बात लिखी थी कि जैनदर्शन को चाहे अकर्तावादी कहो या स्वकर्ता—वादी या फेरफार नहीं करता है — ऐसा कहो — तीनों का एक ही अर्थ है। अकर्तावाद में स्व के कर्ता का निषेध नहीं है; अपनी पर्यायों के कर्तापने का भी निषेध नहीं है।

अब इन गाथाओं के समग्रभाव के निष्कर्ष के कथनरूप कलशकाव्य कहते हैं —

एकस्य वस्तु न इहान्यतरेण सार्धं

संबन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।

तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे

पश्यन्त्ववकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥

(रोला)

जब कोई संबंध नहीं है दो द्रव्यों में,

तब फिर कर्ताकर्मभाव भी कैसे होगा ?

इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो;

सदा अकर्ता अरे जगतजन अरे मुनिजन ॥२०१॥

क्योंकि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सभीप्रकार के संबंधों का निषेध किया गया है; इसलिए जहाँ वस्तुभेद है, वहाँ कर्ता-कर्मपना घटित नहीं होता। इसप्रकार हे मुनिजनों एवं लौकिक-जनो! तुम तत्त्व को अकर्ता ही देखो। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा पर का अकर्ता ही है – ऐसा जानो।

अब इसके बाद 202 वाँ कलश कहते हैं कि –

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः।।202।।

(रोला)

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,
अरे विचारे वे तो डूबे भवसागर में।
विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे,
भावकर्म के कर्ता होते अन्य कोई ना॥२०२॥

अत्यन्त खेदपूर्वक आचार्य कहते हैं कि अरे ! जो लोग इस वस्तु-स्वभाव के नियम को नहीं जानते हैं; अज्ञान में डूबे हुए वे बेचारे कर्मों को स्वयं करते हैं; इसलिए भावकर्म के कर्ता होते हैं। भावकर्मों का कर्ता चेतन स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं। तात्पर्य यह है कि अज्ञान अवस्था में अज्ञानी आत्मा चेतन कर्मों का कर्ता होता है।

इसप्रकार यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की चर्चा की। ●

पर से भिन्नता का ज्ञान ही भेदविज्ञान है और पर से भिन्न निज चेतन भगवान का जानना, मानना, अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, आत्मसाधना है, आत्माराधना है। सम्पूर्ण जिनागम और जिन-अध्यात्म का सार इसी में समाहित है।

हृदय का विषय, पृष्ठ-७९

चौबीसवाँ प्रवचन

185

समयसार परमागम में सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की चर्चा चल रही है। आचार्यश्री ने कर्ताकर्म अधिकार के बाद पुनः 320 वी गाथा में इस संबंध में अपने विचार व्यक्त किए कि यह भगवान आत्मा आस्रव, बंध और मोक्ष का कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्रा ज्ञाता ही है। इस संबंध में उदाहरण भी दिया कि जिसप्रकार हमारी दृष्टि अर्थात् आँख परपदार्थों को मात्रा देखती-जानती ही है, उन्हें करती या भोगती नहीं है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी परपदार्थों को मात्रा जानता-देखता है, उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है।

जिसप्रकार ईंधन अग्नि का कर्ता है, लोहे का गोला भोक्ता है और आँख अग्नि को मात्रा जानती है; उसीप्रकार यह आत्मा रागादि भावों का ईंधन के समान न तो कर्ता है, लोहे के गोले के समान न ही भोक्ता है; वह तो आँख के समान मात्रा जानता-देखता है।

इसप्रकार अभी तक यह चर्चा की कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है। अब इस व्याख्यान में इस कथन पर चर्चा करना है कि कर्म आत्मा को करते हैं या नहीं ?

भारत में एक सांख्यमत है, जो ऐसा मानता है कि प्रकृति और पुरुष, ये दो तत्त्व हैं। पुरुष निष्क्रिय अकर्ता है, सब कुछ प्रकृति ही करती है। उसी सांख्य मत के समान जैनियों में भी कुछ ऐसी मान्यता-वाले लोग हैं, जो यह मानते हैं कि कर्म ही जीव को रुलाते हैं, खान-पान आदि कराते हैं और पुण्य-पाप संबंधी जितने कार्य होते हैं, वे सब कर्म ही कराते हैं।

गाथा 332 से 344 तक इस संबंध में जो विषय स्पष्ट किया गया है, उसका भाव इसप्रकार है कि कुछ जैनी ऐसा मानते हैं कि निद्रादर्शनावरण कर्म के उदय से नींद आती है, दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से हम जाग जाते हैं, सातावेदनीय कर्म के उदय से लौकिक

सुख होता है, असातावेदनीय कर्म के उदय से दुख होता है, स्त्रीवेद का उदय होने पर पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होती है, पुरुषवेद कर्म का उदय होने पर स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है। उनके अनुसार आत्मा कुछ नहीं करता है, जितने भी पुण्य-पाप के कार्य होते हैं, उन सबका कर्ता कर्म ही है।

ऐसी मान्यतावाले जैनियों के लिए आचार्य अमृतचन्द्र कलश 205 में कहते हैं –

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वम् तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥205 ॥
(रेला)

अरे जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,

इस आत्म को सदा अकर्ता तुम मत जानो।

भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्ता आत्म;

भेदज्ञान होने पर सदा अकर्ता जानो ॥२०५॥

आर्हत् मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी, आत्मा को सांख्यमतियों की भांति अकर्ता मत मानो; भेदज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो और भेदविज्ञान होने के बाद उद्धत ज्ञानधाम में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तृत्व रहित, अचल, एक परमज्ञाता ही देखो।

बहुत ही मार्मिक कलश है। यह कलश वर्तमान के समस्त विवादों को भी सुलझानेवाला है।

अभी तक तो हम यह समझ रहे थे कि आचार्य अगले कदम पर यह कहेंगे कि आत्मा पर को जानता भी नहीं है; लेकिन आचार्य तो यहाँ यह कह रहे हैं कि आत्मा को मात्रा अकर्ता मत मानो, नहीं तो सांख्य जैसे हो जाओगे। उसे अज्ञान अवस्था में कथंचित् कर्ता मानो तथा भेदज्ञान होने के बाद उसी आत्मा को अकर्ता मानो।

कालभेद करके आचार्य ने कहा है कि जबतक भेदविज्ञान नहीं हुआ है, तबतक अज्ञान अवस्था में आत्मा को कर्ता मानो और ज्ञान अवस्था में आत्मा को अकर्ता मानो।

186

ध्यान रहे कि यहाँ अज्ञान अवस्था में कर्ता मानने की बात रागादिभावों के बारे में है न कि पर को कर्ता मानने के संबंध में।

इसी बात को जयचन्द्रजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

इसलिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि सांख्यमतियों की भांति जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानो; जबतक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो, तबतक तो उसे रागादि का, अपने चेतन रूप भावकर्मा का कर्ता मानो और भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानो।

इसी बात को बनारसीदासजी ने भी डंके की चोट लिखा है, जो इसप्रकार है –

ग्यानभाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।

दर्वकर्म पुद्गल करै, यों निहचै परवान ॥17 ॥

प्रश्न – यहाँ अज्ञान अवस्था में रागादि का कर्ता मानने का जो कथन किया है, वह कथन निश्चयनय का है या व्यवहारनय का है ?

उत्तर – यह निश्चयनय का कथन है, क्योंकि व्यवहारनय से तो रागादि का कर्ता पर है, कर्मोदय है।

आत्मा अज्ञान अवस्था में रागादिभावों का कर्ता है और ज्ञान अवस्था में अकर्ता है – ये दोनों ही कथन निश्चयनय के हैं और प्रमाण से यह आत्मा रागादि भावों का कथंचित् कर्ता है तथा कथंचित् अकर्ता है।

प्रश्न – आपने अज्ञान अवस्था में कर्ता और ज्ञान अवस्था में अकर्ता माना, ये तो दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं, जबकि दोनों नय एक ही समय में लगना चाहिए।

उत्तर — वास्तव में अज्ञान अवस्था में अज्ञानभाव का कर्ता माना है और ज्ञानी के अज्ञानभाव अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी राग—द्वेष तो हैं नहीं, इसलिए ज्ञानी को उनका कर्ता मानने का सवाल ही नहीं है।

प्रश्न — ज्ञानी अज्ञानभावों का कर्ता नहीं है, ऐसा आप कैसे कह रहे हो ? उनके भी तो अज्ञानभाव होते हैं ?

उत्तर — नहीं; ज्ञानी के मिथ्यात्व संबंधी रागादि नहीं हैं, व मिथ्यात्व सहित रागादि ही अज्ञानभाव की श्रेणी में आते हैं और मिथ्यात्व के बिना प्रत्याख्यानावरण व अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो रागादि होते हैं, वे अज्ञानभाव के खाते में नहीं आते।

प्रश्न — चारित्रामोह के उदय से जो रागादि चौथे गुणस्थान में होते हैं, उनका कर्ता कौन है ? इन रागादि का कर्ता अज्ञानी को तो कह नहीं सकते; क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले तो ज्ञानी हैं।

उत्तर — प्रवचनसार में इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि कर्तानय से आत्मा उनका कर्ता है और अकर्तानय से आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

यः परिणमति स कर्ता — इस नियम के अनुसार रागादिरूप भगवान आत्मा स्वयं ही परिणमित हुआ है; इसलिए कर्तानय से वह कर्ता है और उसी समय इनमें एकत्वबुद्धि नहीं है; इसलिए उसी समय अकर्तानय से उनका कर्ता नहीं है, मात्रा ज्ञाता है।

प्रश्न — यह तो प्रवचनसार की बात है ?

उत्तर — देखो भाई ! बात चाहे प्रवचनसार की हो या समयसार की, लेकिन नय लगाकर लिखी है, तो बिल्कुल सत्य है।

समयसार में भी लिखा है कि अशुद्धनिश्चयनय से भगवान आत्मा रागादि का कर्ता है।

इसप्रकार पूर्वोक्त कलश में कहा कि हे जैनियो ! तुम सांख्यों के समान भगवान आत्मा को रागादि का सर्वथा अकर्ता मत मानो।

सांख्यों के पक्ष के विपरीत एक बौद्धों का पक्ष है। हम जैनी तो कर्ता और भोक्ता के संबंध में आत्मा को रागादिक का कथंचित् कर्ता—भोक्ता मानते हैं और कथंचित् अकर्ता—अभोक्ता; लेकिन बौद्धों का मत है कि आत्मा कर्ता तो है, किन्तु वह भोक्ता नहीं है।

187

बौद्ध क्षणिकवादी होने से कहते हैं कि जिसने किया, वह तो उसी क्षण समाप्त हो गया; अतः करनेवाला अगले क्षण उसे किसप्रकार भोगे? इसलिए बौद्धों के अनुसार जो कर्ता है, वह भोक्ता नहीं है।

वे जैनी इन बौद्धों के समान ही हैं, जो कहते हैं कि आत्मा रागादि का कर्ता तो है, लेकिन भोक्ता नहीं है। जबकि आत्मा अज्ञान अवस्था में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि रागादि का कर्ता—भोक्ता है और ज्ञान अवस्था में अप्रत्याख्यानावरणादि संबंधी रागादि का कर्ता—भोक्ता है; इसलिए कर्ता और भोक्ता दोनों हैं।

एक आदमी ने मनुष्यगति में नरकायु का बंध किया, तब पर्याय की दृष्टि से नरकायु बांधने की क्रिया का कर्ता तो मनुष्य है और अगले भव में भोगेगा नारकी। इसप्रकार करे मनुष्य और भोगे नारकी।

यह तो ऐसा ही हुआ कि करे मूँछवाला और पकड़ा जाए दाड़ी—वाला; क्योंकि किया मनुष्य ने था और भोगा नारकी ने।

अतएव आचार्य कहते हैं कि आत्मा को कथंचित् कर्ता—भोक्ता व कथंचित् अकर्ता—अभोक्ता मानो। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो तुम सांख्यों या बौद्धों जैसे हो जाओगे।

द्रव्यार्थिकनय से जो कर्ता है, वही भोक्ता है; क्योंकि वह सदाकाल रहता है और पर्यायार्थिकनय से जो करता है, वह भोगता नहीं है; क्योंकि पर्याय एकसमय में ही नष्ट हो जाती है।

जबतक हम यह सब नहीं समझते, तबतक आत्मा का ध्यान नहीं हो सकता है।

209 वाँ कलश, इन सब विकल्पों को तोड़कर आत्मा के ध्यान की प्रेरणा देनेवाला कलश है, जो इसप्रकार है —

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सचिन्त्यताम्।
प्रोक्ता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भक्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः।।209।।

(रोला)

कर्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
भले भेद हो अथवा दोनों ही न हों।
ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके,
त्यों अभेद आत्म का अनुभव हमें सदा हो।।२०९।।

कर्ता-भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो या अभेद हो अथवा
कर्ता और भोक्ता दोनों न हों; तुम तो वस्तु का ही अनुभव करो।

जिसप्रकार चतुर पुरुषों के द्वारा डोरे में पिरोयी गई मणियों की
माला भेदी नहीं जा सकती; उसीप्रकार आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप
चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती – ऐसी
यह आत्मारूपी माला एक ही, हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो अर्थात्
नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विकल्प छूटकर हमें आत्मा का निर्विकल्प
अनुभव हो।

इसके बाद ज्ञाता-ज्ञेय संबंधी प्रकरण आता है।

दीवाल जुदी है और कलई जुदी है। कलई सफेद होती है, तो
कलई के पोतने से क्या दीवाल सफेद हो जाती है ?

नहीं। जब कलई बोरे में थी, तब सफेद थी और अब जब वह
दीवार पर पुत गई है, तब भी वह कलई ही सफेद है। दीवाल तो जैसी
थी, वैसी ही अभी भी है। दीवाल तो कलई से भिन्न ही है।

जैसे सफेद कपड़ा पहनने से कोई व्यक्ति सफेद नहीं हो जाता;
उसीप्रकार दीवाल पर भी कलई की सफेद चादर डाल देने से दीवाल
सफेद नहीं हो जाती है। जो सफेदी हमें दिखाई देती है, वह तो कलई
की ही है, दीवाल की नहीं। दीवाल तो कलई के पोतने से पूर्व जैसी
थी, अभी भी वैसी ही है।

उसीप्रकार ज्ञेयों को जानने से ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता।
ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है। ज्ञेय भी जानने में आने से ज्ञानरूप
नहीं हो जाते, ज्ञेयरूप ही रहते हैं। जानने या जानने में आने से
ज्ञान और ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं आता। ज्ञान ज्ञेय को जानता
है, तब भी ज्ञान ज्ञान ही है और ज्ञेय को नहीं जानता है, तब भी
ज्ञान ज्ञान ही है; ज्ञेयों को जानने या नहीं जानने से ज्ञान के
ज्ञानत्व में कोई अन्तर नहीं आता।

शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य
का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखाई नहीं देता। ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित
होते हैं; वह तो ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है। ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं
करता। ऐसा होने पर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर
लोग ऐसा मानते हुए ज्ञान-स्वरूप से च्युत होते हैं कि ज्ञान का परज्ञेयों
के साथ परमार्थ संबंध है – यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा
करके आचार्यदेव कहते हैं कि वे लोग तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं ?

ज्ञान ज्ञेय को जानता है, यह तो ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का
उदय है। पर को जानने से ज्ञान विकृत नहीं होता है। फिर भी
लोग ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से
आकुलबुद्धिवाले होते हुए तत्त्व से या शुद्धस्वरूप से क्यों च्युत होते
हैं ? ऐसा कहकर आचार्यदेव आश्चर्य व्यक्त करते हैं।

लोगों को ऐसा लगता है कि जिसप्रकार अपवित्रा वस्तु के छू लेने
से हम अपवित्रा हो जाते हैं; वैसे ही परज्ञेयों को जानने से ज्ञान अपवित्रा
हो जायेगा; पर उनकी यह धारणा एकदम गलत है; क्योंकि ज्ञेयों को
जानने से ज्ञान में कोई अपवित्राता नहीं आती।

पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाला कलशकाव्य कहते हैं –

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-

मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ?

ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-

ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव।।216।।

(रोला)

शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणमन होता।

वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते॥

अरे चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती।

त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के॥२१६॥

शुद्ध द्रव्य का निजरसरूप परिणमन होता है, इसलिए क्या कोई अन्य द्रव्य उस स्वभाव का हो सकता है अथवा क्या वह किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है ? चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है; तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती। इसप्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है, तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता।

इसी आशय को किसी कवि ने इसप्रकार व्यक्त किया है—

भूमि न होत चाँदनी की ज्यों, त्यों नहिं धनी ज्ञेय को ज्ञानी।

दहन दहत पर गगन न तद्गत गगन दहनता की विधि हानी॥

जैसे चाँदनी की भूमि नहीं होती है, उसीप्रकार ज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान ज्ञेय का मालिक नहीं होता है।

जिसप्रकार अग्नि जलती है, पर वहाँ उपस्थित आकाश द्रव्य नहीं जलता है। अग्नि का स्वभाव जलना है; इसलिए वह जलती है। आकाश का स्वभाव जलने का नहीं है, इसलिए वह नहीं जलता है। उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय का नहीं हुआ; क्योंकि उसका ऐसा ही स्वभाव है। ज्ञान का पर को जानने का तो स्वभाव है, किन्तु उसे अपना बनाने का स्वभाव नहीं है। आत्मा पर को जानने से नहीं, पर को अपना मानने से विकृत होता है।

सबको जाननेरूप जो स्वभाव है, अर्थात् सर्वज्ञत्वशक्ति है, वह पारिणामिकभाव है, क्षायिकभाव नहीं; क्योंकि वह किसी कर्म के उदय से नहीं है, न ही कर्म के क्षय से और न कर्मों के क्षयोपशम से है। स्व—पर को जानने का जो स्वभाव है, वह उसकी स्वयं की संपत्ति है और जब बाधककारण का अभाव हो जाता है, तब वह संपत्ति सहज ही प्रगट हो जाती है।

अतएव आचार्य कहते हैं कि हे जैनियो ! तुम सांख्यमत के समान आत्मा को सर्वथा अकर्ता मत मानो और बौद्ध के समान कर्ता और भोक्ता में अंतर मत मानो। यही सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का प्रतिपाद्य विषय है।

189

आचार्य कहते हैं कि यह मानो कि जो करे, सो कथंचित् भोगे और कथंचित् न भोगे; क्योंकि जो पर्याय करती है, वह भोगती नहीं है और जो पर्याय भोगती है, वह पर्याय करती नहीं है — यह कथन पर्याय की अपेक्षा है और जो करे, वही भोगे — यह कथन द्रव्य की अपेक्षा है; इसलिए जो द्रव्य करता है, वही भोगता है।

जगत में ऐसा कहा जाता है कि अपराध जीभ करती है, गालियाँ जीभ देती है और पिटाई माथे की होती है। इससे तो ऐसा हो जाता है कि करे कोई और भोगे कोई। इसी बात को इसप्रकार भी तो प्रस्तुत किया जा सकता है कि जिसकी जवान है, उसी के माथे की ही तो पिटाई होती है। इससे जो करे, सो भोगे — यह भी हो गया और करे कोई व भोगे कोई — यह भी हो गया — यही जैनदर्शन की अपेक्षा है।

इसलिए सर्वथा ऐसा भी मत मानो कि जो करता है, वह भोगता है और सर्वथा ऐसा भी मत मानो कि कर्ता कोई अन्य है और भोक्ता कोई अन्य।

लोक में तो ऐसा भी कथन है कि बाप—दादाओं की खा रहे हैं और बाप—दादाओं को भोग रहे हैं; लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में स्पष्ट किया है कि जानने में भी ऐसा ही है; क्योंकि ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान भी ज्ञान का है, ज्ञेयों का नहीं जाननेवाला ज्ञान भी ज्ञान का ही है। इसके संबंध में उदाहरण दिया था कि जो कलई की सफेदी दीवाल पर दिख रही है, वह सफेदी कलई की है, दीवाल की नहीं।

शिष्य को अभेद स्वस्वामीसंबंध समझ में नहीं आता है, उसे भेदवाला स्वस्वामीसंबंध ही समझ में आता है।

कलई दीवार आदि की नहीं है, तो कलई किसकी है ?

कलई की ही कलई है।

इस कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है कि जिसकी यह कलई है ?

इस कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे स्व-स्वामिरूप दो अंश ही है।

यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ?

कुछ भी साध्य नहीं है। इसलिए कलई किसी की नहीं है, कलई कलई की है – यह निश्चय है।

कोई अपनी दुकान चलाता हो तो वह अपने आपको मालिक भी कहता है, मुनीम भी कहता है और चपरासी भी कहता है; क्योंकि तीनों काम वही सम्भालता है।

व्यक्ति तो एक है, उसमें ऐसे भेद करने से क्या लाभ ?

अरे ! वह तीन काम करता है; इसलिए वह अपने को तीनरूप भी कह सकता है और एकरूप भी।

किसी स्कूल में एक ही अध्यापक हो तो वही अध्यापक है और वही प्रधानाध्यापक भी है। कोई कहे कि अकेले हो तो प्रधानाध्यापक क्यों कहते हो ? ऐसा कहना अच्छा नहीं लगता है।

वह कहता है यदि मैं अपनी प्रधानाध्यापक की मोहर कागजों पर नहीं लगाऊँगा तो मेरे इस स्कूल का परीक्षा केन्द्र ही रद्द हो जायेगा। अतएव अपने आपको प्रधानाध्यापक कहना भी आवश्यक है।

प्रत्येक स्कूल में अध्यापक का भी काम होता है और प्रधानाध्यापक का भी काम होता है। दोनों काम अलग-अलग हैं। वह दोनों ही काम करता है; अतः वह अध्यापक भी है और प्रधानाध्यापक भी है।

इसीप्रकार मेरी सम्पत्ति भी ज्ञान है और उस संपत्ति का स्वामी भी ज्ञान है।

जिसप्रकार कलई की कलई है – ऐसा नहीं कहकर कलई कलई

है – ऐसा बोला जाता है; उसीप्रकार ज्ञेय का ज्ञान नहीं कहकर ज्ञान ज्ञान है – ऐसा कहा जाता है।

फिर भी कहना तो यही पड़ेगा कि ज्ञेय का ज्ञान है, क्योंकि जैसे किसी ने समयसार को जाना तो उस ज्ञान को समयसार का ज्ञान कहेंगे या ज्ञान का ज्ञान ?

अनंत ज्ञेयों को जाननेवाले प्रत्येक ज्ञान को यदि ज्ञान का ज्ञान कहें तो यह पता ही नहीं चलेगा कि इस ज्ञान का ज्ञेय कौन पदार्थ बना ?

इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ज्ञेय का ज्ञान कहा जाता है; किन्तु वह ज्ञान कभी भी ज्ञेय की सम्पत्ति नहीं होता। अतएव ज्ञान का ज्ञान – ऐसा कहा जाता है; क्योंकि ज्ञेय का ज्ञान कहने से कोई उसे ज्ञेय की सम्पत्ति न मान ले।

अब कोई कहे कि तो फिर वह दूसरा ऐसा कौन-सा ज्ञान है, जिस ज्ञान का यह ज्ञान है ?

दूसरा कोई ज्ञान नहीं है, एक में ही स्व-स्वामी संबंध है।

यहाँ ज्ञान का ज्ञान कहकर तो समझाया जा रहा है, वास्तव में या तो यह कहा जायेगा कि ज्ञेय का ज्ञान है या फिर ज्ञान ज्ञान है – ऐसा कहा जायेगा।

अरे भाई ! ज्ञेय को ज्ञान ने जाना, इतने मात्र से ज्ञेय का ज्ञान होना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान ने ज्ञेय में प्रवेश ही नहीं किया और ज्ञेय ने भी ज्ञान में प्रवेश नहीं किया। ज्ञान तो ज्ञान में रहा और ज्ञेय, ज्ञेय में रहा, दोनों एक दूसरे के पास गए ही नहीं।

यदि ज्ञान को ज्ञेय का ज्ञान ज्ञेय के पास जाकर ही होता तो सर्वज्ञ भगवान को अलोकाकाश का ज्ञान कभी नहीं होता; क्योंकि आत्मा तो अलोकाकाश में कभी जाता ही नहीं है।

अलोकाकाश के ज्ञान का दूसरा उपाय यह भी है कि अलोकाकाश स्वयं लोकाकाश के अंदर आ जाए लेकिन ऐसा भी संभव नहीं है।

विभिन्न ज्ञेयों में से इस समय ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय कौन बना? मात्रा इतने प्रयोजन की सिद्धि के लिए ज्ञेय का ज्ञान कहा जाता है। ऐसा जानकर ऐसा न मान ले कि ज्ञान ज्ञेय का हो गया, इसलिए ऐसा कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेय का नहीं है, ज्ञान तो ज्ञान का है।

कोई कहे कि जैसे किसी ने अपनी एक जेब से पाँच सौ रूपए निकालकर दूसरी जेब में रख लिए तो ऐसा करने से क्या लाभ है? इसमें लेने-देने की बात करने से क्या फायदा है? माल तो उसी के पास ही रहा न !

वैसे ही ज्ञानी का ज्ञान, ऐसा क्यों कहना ? क्योंकि ज्ञान तो ज्ञान है और कुछ नहीं।

तात्पर्य यह है कि वहाँ भेद के विकल्प का निषेध जानना, वहाँ जानने का निषेध नहीं है। यही वस्तु का स्वरूप है और यही सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का सार है।

इसी प्रकरण में वे 373 से 382 तक की गाथाएँ हैं, जिनमें यह कहा गया है कि शब्द यह नहीं कहते कि तू मुझे जान, रस यह नहीं कहता कि तू मुझे चख, रूप भी यह नहीं कहता कि तू मुझे देख और ज्ञान भी रूपादि के पास उसे देखने-जानने नहीं जाता।

ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही निरपेक्ष है। ज्ञान में ज्ञेय जानने में आ जाए तो ठीक, नहीं आए तो नहीं आए – यही निरपेक्षता ज्ञान का स्वभाव है।

पर्यायगत योग्यता से सहज भाव से जो जानना हो जाय तो हो जाय, नहीं हो तो नहीं हो। यही सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का संदेश है।

अपने को नहीं पहचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है।

॥ तीर्थ. महा. और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-८४

पच्चीसवाँ प्रवचन

191

समयसार परमागम के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में ज्ञाता-ज्ञेय के संदर्भ में चर्चा हो चुकी है तथा आचार्यदेव ने पूर्व में यह कहा था कि नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धो परद्रव्यात्मतत्त्वयोः अर्थात् परद्रव्य व आत्मा के बीच में न तो एकत्व, ममत्व का ही संबंध है और न कर्तृत्व व भोक्तृत्व का। आचार्यदेव ने यह भी कहा था कि यह भगवान आत्मा पर को मात्रा जानता है।

यह सुनकर किसी के मन में प्रश्न उपस्थित हो कि आत्मा परद्रव्यों को जानता है, इसलिए आत्मा और परद्रव्यों के बीच में ज्ञाता-ज्ञेय संबंध तो है कि नहीं? तो इसका उत्तर यह है कि जानना आत्मा का स्वभाव है, यह कोई संबंध नहीं है।

जैसा कि गाथा नं. 361 में कहा है कि –

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।

तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएण भावेण।।361।।

(हरिगीत)

परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।

बस त्योंहि ज्ञाता जानता परद्रव्य को निजभाव से।।३६१।।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को जानता है। ज्ञान अपने स्वभाव से पर को जानता तो है, किन्तु पर में रंचमात्रा भी प्रवेश नहीं करता है।

यह मात्रा ज्ञानगुण के साथ ही नहीं, अपितु दर्शन व चारित्रा गुण के साथ भी है।

ज्ञान की तरह दर्शन, चारित्रा व श्रद्धागुण के लिए भी आचार्य निम्न गाथाएँ कहते हैं –

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।

तह परदव्वं परस्सदि जीवो वि सएण भावेण।।362।।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण ॥363 ॥
 जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परदव्वं सदहदि सम्मदिही सहावेण ॥364 ॥
 (हरिगीत)

परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
 बस त्योंहि दृष्टा देखता परद्रव्य को निजभाव से ॥३६३॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
 बस त्योंहि ज्ञाता त्यागता परद्रव्य को निजभाव से ॥३६३॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
 सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता परद्रव्य को निजभाव से ॥३६४॥

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार जीव अपने स्वभाव से परद्रव्यों को देखता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को त्यागता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्यों का श्रद्धान करता है।

इसप्रकार जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रा में व्यवहारनय का विषय कहा है; अन्य पर्यायों में भी इसीप्रकार जानना चाहिए।

कलई ने दीवाल को सफेद किया — यह तो व्यवहार कथन है, इसीतरह अन्य गुणों के लिए भी व्यवहार कथन कहे जाते हैं; किन्तु ज्ञान गुण के संबंध में निश्चय कथन यह है कि ज्ञान ने परद्रव्य में रंचमात्रा भी प्रवेश नहीं किया।

उपर्युक्त समस्त कथन को यदि समग्र सारांशरूप में कहा जाय तो ज्ञाता-ज्ञेय संबंध कोई संबंध नहीं है, वह तो नाम मात्र का संबंध है।

इसी बात को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं कि मान लो कोई आदमी मुझे बाजार में मिलता है, वह मुझे प्रेम से नमस्कार करता है और मैं भी प्रेम से उसका जबाब देता हूँ।

तब मेरा साथी मुझसे पूछता है कि ये कौन थे, इनका आपसे क्या संबंध है ?

मैं कहूँ कि मैं इन्हें नहीं जानता। तब वह साथी फिर कहता है कि आपने जिस गहराई के साथ उन्हें नमस्कार किया है, उससे सिद्ध होता है कि आपके और उनके बीच में कोई न कोई संबंध अवश्य है। तब मैंने कहा जब हम बम्बई से आ रहे थे, तो रेल के डिब्बे में सामने की बेंच पर ये बैठे थे तथा बारह घंटे ये हमारे ज्ञान के ज्ञेय बने रहें अर्थात् बारह घंटे लगातार ये हमें देखते रहे और हम इन्हें देखते रहे। हमारे और इनके बीच में मात्रा इतना ही संबंध है।

इसीप्रकार परपदार्थों और हमारा संबंध यही है कि परपदार्थ हमारे जानने में आते हैं। जिसप्रकार सिद्ध भगवान के जानने में नारकी और निगोदिया आ रहे हैं, इसकारण वे नारकी और निगोदिया सिद्धों के संबंधी नहीं हो जाते; उसीप्रकार हमारे ज्ञान में विभिन्न ज्ञेय जानने में आने मात्र से उनमें और हममें कोई संबंध नहीं हो जाता है।

अतएव ज्ञाता-ज्ञेयसंबंध कोई संबंध ही नहीं है।

इस ज्ञाता-ज्ञेय के सन्दर्भ में प्रमुख दो बिन्दु हैं, जिनका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

पहला तो यह कि इस संबंध को निषेध करने के बहाने, आत्मा के ज्ञानस्वभाव का निषेध नहीं करना।

दूसरा बिन्दु यह है कि पर को जानने को अपना स्वभाव या अधिकार मानकर पर को जानने में अपना सम्पूर्ण समय नष्ट नहीं करना।

परपदार्थों को जानना गलत नहीं है, किन्तु परपदार्थों को लगातार

रसपूर्वक जानने में हानि अवश्य है। कोई खूबसूरत महिला सड़क पर जा रही हो और आप सड़क पर गाड़ी चला रहे हो तो उस महिला को देखना चाहिए कि नहीं?

यदि उस महिला को नहीं देखोगे तो भी एक्सीडेन्ट हो जायेगा और उसे रसपूर्वक निरन्तर देखते रहोगे, तब भी एक्सीडेन्ट हो जायेगा। उस महिला के प्रति रागात्मक विकल्प खड़ा किए बिना ही सामान्यरूप से देखकर उसके बगल से निकल जाने में ही भलाई है।

उसीप्रकार निषेध न तो जानने का है और न ही नहीं जानने का है। यदि सहजता में जानने में आए तो जानना, अन्यथा नहीं जानना। यदि जानने से राग, एकत्व—ममत्व आदि उत्पन्न हो जाता है तो उन रागादि को रोकने के लिए कभी—कभी देखने—जानने का भी निषेध किया जाता है।

जैसे कोई बालक पड़ौसी के घर जाकर तोड़—फोड़ करे या पड़ौसी के बच्चे से लड़े तो उसकी माँ उस बच्चे से कहती है कि यदि तू पड़ौसी के घर गया तो मैं तेरी टाँगे तोड़ दूँगी; लेकिन उसकी माँ का भाव पड़ौसी के घर जाने से रोकने का रंचमात्रा भी नहीं है। वह तो यह चाहती है कि उसका लड़का कोई ऐसा काम न करे, जिससे उसे उलाहना सुनना पड़े।

उस माँ ने भी उस बालक को पहले शिक्षा तो यही दी थी कि किसी के यहाँ ऊधम नहीं करते हैं, लड़ते—झगड़ते नहीं हैं, बिना माँगे किसी चीज को हाथ नहीं लगाते हैं; किन्तु उस बालक ने ये बातें नहीं मानीं, तब माँ ने पड़ौसी के घर जाने का निषेध किया। वास्तव में तो पड़ौसी के यहाँ ऊधम करने का निषेध है, लेकिन उस माँ को यह संभव नहीं दिखा, इसलिए उसने वहाँ जाने का निषेध किया।

उसीप्रकार यह आत्मा भी परपदार्थों को बार—बार जानता है और एकत्व—ममत्वरूपी ऊधम करता है; तब श्रद्धा में, चारित्र में विकृति उत्पन्न हो जाती है और उस विकृति का निषेध करने के

लिए कभी—कभी जानने का भी निषेध कर दिया जाता है, वास्तव में वह ज्ञेयों के जानने का निषेध तो है ही नहीं।

193

उस बालक की तरह कई जबान या बूढ़े लोग भी होते हैं, जो झगड़ा या तोड़—फोड़ किए बगैर रहते ही नहीं है। उन लोगों के लिए मैं हमेशा कहता हूँ कि ये लोग या तो नरक गति से आए हैं या नरकगति में जाने की तैयारी में हैं, क्योंकि उनका बचपन यह बताता है कि वे कहाँ से आए हैं और उनका बुढ़ापा यह बताता है कि उन्हें कहाँ जाना है।

उपर्युक्त समस्त कथन का सार यही है कि विकृति के निषेध के लिए जानने का निषेध किया जाता है, वास्तव में ज्ञान का जो जानना स्वभाव है, उसका निषेध नहीं किया जाता है।

इसप्रकार यहाँ ज्ञाता—ज्ञेय से संबंधित वह प्रथम बिन्दु समाप्त होता है, जिसमें यह कहा था कि ज्ञाता—ज्ञेय संबंध के निषेध करने के बहाने कभी ज्ञानस्वभाव का निषेध नहीं करना।

जानने के निषेध के भी दो अर्थ होते हैं — पहला यह कि परपदार्थों को मत जानो, मात्र अपनी आत्मा को जानो — यह चरणानुयोग की भाषा अर्थात् उपदेश की भाषा का निषेध है। और आत्मा पर को जानता ही नहीं है — यह द्रव्यानुयोग की भाषा अर्थात् तत्त्वज्ञान की भाषा का निषेध है।

अपनी आत्मा का कल्याण करना है तो मात्रा अपनी आत्मा को जानो, परपदार्थों को मत जानो — यह उपदेश की भाषा है। यह तत्त्व की निरूपक भाषा नहीं है। तत्त्वज्ञान की भाषा का जो निषेध है, वह जिनागम में इष्ट नहीं है। उपदेशी भाषा के आधार पर तत्त्वज्ञान का निरूपण करना यह भी उचित नहीं है और तत्त्वज्ञान की भाषा को उपदेश की भाषा समझना, यह भी उचित नहीं है।

इसप्रकार यहाँ कहा कि जानना आत्मा का स्वभाव है और यह आत्मा स्व—परप्रकाशक है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के अंत में आत्मख्याति टीका में अमृतचन्द्राचार्यजी ने 47 शक्तियों का वर्णन किया है, उनमें एक सर्वज्ञत्वशक्ति है, जिसका अर्थ है सबको जानना;

एक सर्वदर्शित्व शक्ति है, जिसका अर्थ है सभी को देखना तथा स्व-पर-प्रकाशक आदि अनेक शक्तियों का वर्णन है और ये समस्त शक्तियाँ आत्मा का स्वभाव है, विभाव नहीं।

इसप्रकार जब यह सिद्ध हो चुका कि जानना तो आत्मा का स्वभाव है, तब फिर प्रश्न हुआ कि पर को जानना आत्मा का स्वभाव है या विभाव ? तो कहा कि आत्मा और परपदार्थ दोनों को ही जानना आत्मा का स्वभाव है और दोनों को जानने की प्रक्रिया भी एक-सी ही है।

यहाँ कोई ऐसा नहीं कह सकता कि पर तो आत्मा में झलक जाते हैं और आत्मा अपने को जानता है। यदि झलकने की बात है तो स्व भी झलकेगा ही। यदि प्रयत्नपूर्वक जानने की बात है तो दोनों को प्रयत्नपूर्वक ही जाना जाता है।

भगवान आत्मा भी इसतरह के विकल्पों से जानने में नहीं आता है कि मैं आत्मा को जानूँ या पर से उपयोग को समेटकर आत्मा में ले जाऊँ। वह भगवान आत्मा भी आत्मा की रुचि से सहज ही ज्ञान का ज्ञेय बनता है।

इसके बाद सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के अंत में प्रतिक्रमण आदि की चर्चा है। दिगम्बर समाज में आलोचना का ज्यादा प्रचलन है, जबकि श्वेताम्बर समाज में प्रतिक्रमण करने का रिवाज ज्यादा है। लेकिन आगम में प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान — इन तीनों का एक साथ ही वर्णन आता है। यह अलग बात है कि दिगम्बर समाज में आलोचना को महत्त्व दिया और श्वेताम्बर समाज ने प्रतिक्रमण को।

वास्तव में ये तीनों वर्तमान में ही होते हैं, किन्तु एक (आलोचना) में विगत अपराधों के पश्चाताप का चिंतन है, दूसरे (प्रतिक्रमण) में वर्तमान के अपराधों के पश्चाताप का चिंतन है और भविष्य में अपराध नहीं करने के संकल्प का नाम प्रत्याख्यान है। यथार्थ में भूत,

भविष्यत्, वर्तमान तो ज्ञेय के रूप में आते हैं और जो चिंतन कर रहा है, वह तो वर्तमान में ही है।

इस समयसार ग्रन्थाधिराज में प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान का जो वर्णन है, वह बहुत ही अद्भुत है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं —

रागजन्मनि निमित्तां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।

उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः।।221।।

(रेला)

अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को।

एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी॥

शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में।

अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे॥२२१॥

जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्त मानते हैं, वे शुद्धज्ञान से रहित बुद्धिवाले अंधे लोग हैं और वे मोहनदी को पार नहीं कर सकते। अर्थात् जो अपनी गलती स्वीकार नहीं करते हैं और राग का कर्ता अपने को नहीं मानते हैं, बस यही कहते हैं कि राग तो कर्म के उदय ने किया है; वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं, अन्धे हैं और उन्हें कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा।

यदि राग का कर्ता आत्मा को नहीं माना जाय तो प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना का क्या अर्थ रह जाता है अर्थात् जब गलती की ही नहीं तो माफी माँगने का क्या अर्थ है?

ज्ञानी भी अपने जीवन में किसी न किसी नय से यह स्वीकार करते ही हैं कि मेरे जीवन में गलती हुई है। यदि वे ऐसा नहीं माने तो वे भी सांख्य के समान हो जायेंगे।

प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान अपनी गलती स्वीकारने का ही नाम है और ऐसा करने से हमारी गलतियाँ निकल जाती हैं। इसलिए पहले अप्रतिक्रमणादि को विषकुंभ और भूत-भविष्यत्-वर्तमान

की गलतियों की माफी माँगने को अर्थात् प्रतिक्रमणादि को अमृतकुंभ कहा था।

बाद में प्रतिक्रमणादि को विषकुंभ और अप्रतिक्रमणादि को अमृत-कुंभ भी कहा। अन्त में यह भी लिखते हैं कि माफी माँगना अर्थात् प्रतिक्रमण जहाँ विषकुंभ है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृतकुंभ कैसे हो सकता है?

इसी संदर्भ में आचार्य 189 कलश के पूर्वार्द्ध में कहते हैं कि —

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं।

तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्॥

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष-जहर कहा हो,

अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को ॥

जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा जाता है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है ?

उक्त सम्पूर्ण प्रतिपादन के पीछे आचार्यदेव का स्पष्ट चिंतन यह है कि यदि अपराध हमारे जीवन में हुआ है, तब तो अपराध का परिमार्जन अर्थात् प्रतिक्रमण अमृत ही है; लेकिन उससे अच्छा तो यही है कि अपराध हमारे जीवन में हो ही नहीं, अर्थात् ऐसा मौका ही क्यों आए कि हमें माफी माँगनी पड़े।

अपराध होने के बाद माफी नहीं माँगना तो सबसे बड़ा अपराध है ही, लेकिन माफी माँगना भी कोई निरपराध दशा तो नहीं है अर्थात् माफी माँगना भी अपराध का ही सूचक है।

ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि यदि तुम अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अपना उपयोग लगाओगे तो न प्रतिक्रमण की जरूरत पड़ेगी और न अप्रतिक्रमण की। प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण के विकल्पों से पार हो जाओगे। लेकिन यदि अपनी आत्मा से अपने उपयोग को निकाला, तो बाहर खतरा ही खतरा है।

उपयोग को बाहर निकालने का तात्पर्य पर को जानना नहीं है, क्योंकि स्व और पर — दोनों को जानना तो आत्मा का स्वभाव है। पर में राग करना, पर में एकत्व स्थापित करना — इसी का नाम उपयोग को बाहर निकालना है। इसी उपयोग को बाहर निकालने का नाम ही अपराध है।

अपराध के संबंध में आचार्य जयसेन ने मोक्ष अधिकार में स्पष्ट किया है कि जो अपने को अपराधी समझता है, वह डरता है और जो निरपराधी है, वह डरता नहीं है।

चोरों को पुलिस का डर रहता है और जिनके पास चोरी का माल होता है, उन्हें चोरों का डर रहता है। चोरी के माल से तात्पर्य उस माल से है, जिसको चुराया जा सकता है। जैसे — विद्या चुराई नहीं जा सकती; अतः विद्या असली माल है। जिस माल में चोरी हो जाने की योग्यता हो, वह चोरी का माल है। इसलिए चोरी के माल के चोरी हो जाने का भय रहता है।

यदि कोई कहे कि माल चोरी न हो — इसका कोई उपाय है? उससे कहते हैं कि इसका एक ही उपाय है कि इस चोरी के माल में अपना एकत्व-ममत्व छोड़ दो और यह समझ लो कि जबतक मेरे पुण्य का उदय है, तभी तक ये संयोग रहनेवाले हैं।

यह जो पुण्य की व्यवस्था है, वह भी बड़ी विचित्रा है। किसी ने दस कारें खरीदीं; उसमें पैसा खर्च हुआ और पुण्य भी खर्च हुआ। अब वह आदमी उन दस कारों में एकसाथ तो बैठेगा नहीं, वह तो किसी एक कार में ही बैठेगा। तो भी वे दस कारें जितने समय तक उसके पास रहेंगी, वह उनका उपयोग करे या न करे, तबतक उसका पुण्य निरन्तर खर्च होता रहेगा। यदि कोई कार उसकी चोरी हो जाती है, तो उसका कारण यह है कि उसका तत्संबंधी पुण्य समाप्त हो गया है। जैसा कि किसी कवि ने कहा भी है —

जब तक तेरे पुण्य का बीता नहीं करार।

तब तक तेरे माफ हैं, औगुण करो हजार।।

उस कार के चोरी हो जाने में भी लाभ है; क्योंकि वह कार उपयोग में तो आ नहीं रही थी और उसके रहने से पुण्य निरन्तर खर्च हो रहा था।

इस जगत के जीवों को ऐसी परिग्रह संज्ञा है कि घर में पच्चीस जोड़ी पुराने जूते रखते हैं। यद्यपि जिन्दगी में कभी भी उन जूतों को नहीं पहनेगा; पर यदि उन जूतों को फेंकने की बात आती है तो कहता है कि रखे रहने दो, कभी काम आयेंगे। वह समझता है कि ये मुफ्त में पड़े हैं, लेकिन वास्तव में उसमें उसका पुण्य क्षीण हो रहा है।

यदि कोई कहे कि ज्ञेय को जानना तो मेरा स्वभाव है, अधिकार है; तो कहते हैं कि पर को जानने का रस किसी भी दृष्टि से अच्छा नहीं है; क्योंकि यदि पर को जानने में रहोगे तो भगवान आत्मा को नहीं जान पाओगे।

इसप्रकार यदि अपराध हमारे जीवन में हुआ हो, तब अपराध का परिमार्जन अर्थात् प्रतिक्रमण अमृत ही है, लेकिन उससे अच्छा तो यही है कि अपराध हमारे जीवन में हो ही नहीं। यही कारण है कि आचार्यदेव ने ऐसा कथन किया कि जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है ?

इसके बाद सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि—
मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चय।

तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।412।।

हे भव्य ! तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत — अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

इस गाथा में कहा है कि अपनी आत्मा में ही चेत अर्थात् अपनी आत्मा का अनुभव कर। चेतना तीनप्रकार की हैं — कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना।

करने-करने की धुन सवार होने को कर्मचेतना कहते हैं और

कर्मफल भोगने की धुन सवार होने को कर्मफलचेतना कहते हैं और मात्र सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव रूप रहने को ज्ञानचेतना कहते हैं अर्थात् कर्ता, भोक्ता व ज्ञाता को क्रमशः कर्मचेतनावाला, कर्मफलचेतनावाला और ज्ञानचेतनावाला कहते हैं।

196

एकेन्द्रियादि जीव से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक कर्मफलचेतना की प्रधानता है; क्योंकि कीड़े-मकोड़े को जो भी मिलता है, वही खा लेते हैं। उन्हें तो मात्रा अनुकूलता-प्रतिकूलता का वेदन होता है। इसप्रकार एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक कर्मफलचेतना की ही प्रधानता है।

फिर सैनी पंचेन्द्रिय होकर जो मनुष्य बड़े-बड़े नेता बन जाते हैं, उनमें कर्मचेतना की प्रधानता पाई जाती है।

कोई यदि ऐसा सोचे कि हमें जो खाने को मिल जाय, वही खा लेंगे, नहीं मिले तो नहीं खायेंगे — ऐसे लोग कहते हैं —

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।

दास मलूका कह गए सबके दाता राम।।

ये लोग ज्ञानचेतनावाले नहीं हैं, अपितु कर्मफलचेतना वाले ही हैं। ज्ञानचेतना वाले वे हैं जो यह मानते हैं कि जो होना होगा वह पर्याय की योग्यता के अनुसार होगा, मैं तो मात्रा सहज ज्ञाता-दृष्टा हूँ।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि मैं न तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ और न ही मैं कर्ता हूँ और न ही भोक्ता हूँ। तो उनके लिए कहते हैं कि वे पुद्गल हैं, क्योंकि वे सभी का निषेध कर रहे हैं।

किसी अपेक्षा पर को जानने का निषेध भी है, क्योंकि क्षयोपशम-ज्ञान में दो काम एकसाथ नहीं हो सकते।

कहा भी है —

दो पथ पंथी चले न पंथा, दो मुख सुई सुए न कंथा।

दोय काम नहीं होय सयाने, विषय भोग अरु मोक्ष भी जाने।।

जिनवाणी में ऐसा उपदेश कदम-कदम पर मिलेगा कि तू अपने

भगवान आत्मा को जान और इस जगत से दृष्टि हटा। जगत को तो बहुत बार जाना, लेकिन उसके जानने से तुम्हें आज तक क्या मिला ? यह उपदेश की भाषा है, तत्त्वप्रतिपादन की नहीं।

तत्त्वप्रतिपादन में तो ऐसा कहेंगे कि केवलज्ञान में सारा लोकालोक एकसाथ झलकता है; इसलिए केवलज्ञान में तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि किसे जाने और किसे नहीं जाने ? यह प्रश्न तो क्षयोपशम-ज्ञान में ही संभव है; परन्तु क्षयोपशमज्ञान की प्रत्येक समय की पर्याय में यह योग्यता तो अनादिकाल से ही सुनिश्चित है कि वह कब और किसको जाने ?

अतएव इसमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं होना चाहिए कि मैंने ऐसा किया, तो ऐसा हुआ। अरे ! तुम्हारा ऐसा होना था, इसलिए ऐसा हुआ। टोडरमलजी भी कहते हैं –

भली होनहार है; इसलिए जिस जीव को ऐसा विचार आता है.... अर्थात् जिनके संसार समुद्र का किनारा निकट आ गया है, उन्हीं को ऐसी बुद्धि आती है, इसलिए पर में कर्तृत्व का अभिमान नहीं करना।

अतएव 412 गाथा में कहा कि अपने भगवान आत्मा में ही विहार करो अर्थात् अपने भगवान आत्मा को ही जानो।

इसी भाव को प्रदर्शित करनेवाली गाथा का पद्यानुवाद इस प्रकार है –

मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर।

निज में ही नित्य विहार कर, परद्रव्य में न विहार कर।।412।।

आचार्य कहते हैं कि यही मेरा आदेश है, यही मेरा उपदेश है और यही समयसार का सार है।

इस जगत में न कुछ ग्रहण करना है और न किसी का त्याग करना है; क्योंकि आत्मा त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति से युक्त है। त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति आत्मा का स्वभाव है, जिसका अर्थ है कि

आत्मा ने आजतक न कुछ ग्रहण किया है और न ही त्याग किया है; क्योंकि त्याग ग्रहणपूर्वक ही होता है।

197

यदि कोई कहे कि हमें कुछ छोड़ना नहीं पड़ेगा तो कहते हैं कि तुम्हें सिर्फ इतना जानना पड़ेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है अर्थात् अपनी मान्यता में परिवर्तन करना पड़ेगा। समस्त जीवों को बाह्य पदार्थों का छोड़ना ही छोड़ना लगता है, जबकि आत्मा उनके ग्रहण और त्याग से शून्य है।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि आत्मा को जानने के अलावा कोई दूसरा काम नहीं है, आत्मा की मर्यादा ज्ञान तक ही है।

यदि इन पच्चीस प्रवचनों को सुनकर या पढ़कर कोई कहे कि आप जो भी कहें, हम सब छोड़ने को तैयार हैं; तो समझ लेना चाहिए कि यह समयसार का सार उसकी समझ में आया ही नहीं; क्योंकि जब ये पदार्थ तुम्हारे हैं ही नहीं, तो तुम इनको क्या छोड़ेंगे?

महाभारत में एक कथा आती है कि पाण्डवों ने दिग्विजय के बाद अश्वमेघ यज्ञ किया; जिसमें किमिच्छिक दान दिया। यज्ञ के अंत समय में सभी पाण्डव व श्रीकृष्ण वहाँ बैठे थे, तभी एक नेवला आया; जिसका आधा शरीर सोने का था और आधा नेवले जैसा। वह नेवला यज्ञ की राख में लोट रहा था तो युधिष्ठिर और अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा।

यह नेवला यहाँ क्यों आया है और यह क्या कर रहा है ?

युधिष्ठिर को इस बात का गर्व था कि जैसा यज्ञ मैंने किया है, वैसा यज्ञ न तो आज तक कभी हुआ है और न कभी होगा।

तब श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसी नेवले से पूछो, तो युधिष्ठिर उस नेवले से पूछते हैं और वह नेवला कहता है कि –

“एक घर में चार सदस्य रहते थे – ब्राह्मण, ब्राह्मण की पत्नी और उनके लड़का व लड़की। एक बार अब अकाल पड़ा और उन सभी सदस्यों को सात दिन तक कुछ भी खाने को नहीं मिला। सात

दिन के बाद उन्हें थोड़ा सत्तू मिला, तो वे मिलकर खाने ही वाले थे कि उसी समय एक आदमी ने बाहर से आवाज लगाई कि मैं चौदह दिन से भूखा हूँ तथा मुझे कुछ खाने को दे दो।

तब वह ब्राह्मण परिवार सोचता है कि हम तो सात दिन से ही भूखे हैं और यह तो चौदह दिन से भूखा है। इसप्रकार वह ब्राह्मण, उसकी पत्नी और उसके बच्चे सभी अपना-अपना हिस्सा उसे दे देते हैं और वह आदमी उन चारों को आशीर्वाद देकर चला जाता है और वे चारों प्राणी भूख के कारण मर जाते हैं।

इतनी कहानी सुनाने के बाद नेवला फिर कहता है कि जब मैं वहाँ से निकला और जो सत्तू थोड़ा-बहुत वहाँ गिर गया था, वह सत्तू मेरे शरीर के जिस-जिस हिस्से को लगा, वह हिस्सा सोने का हो गया। इसप्रकार मेरा आधा शरीर तो सोने का हो गया और आधा शरीर नेवले जैसा रहा। तब मैं अपना शेष शरीर भी सोने का बनाने के लिए बहुत से महिमावंत तीर्थों पर गया, लेकिन उन तीर्थों से कुछ भी नहीं हुआ।

तभी मैंने यह सुना कि युधिष्ठिर ने महायज्ञ किया है और यदि उस यज्ञ की राख में मैं लोटूँगा, तो मेरा शेष आधा शरीर भी सोने का हो जायेगा। इसी भावना से मैं इस राख पर घंटे भर से लोट रहा हूँ, लेकिन कुछ भी नहीं हो रहा है।

नेवले की इस कहानी को सुनकर श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि तुम्हें कुछ समझ में आया कि नहीं?

अब युधिष्ठिर यदि ऐसा कहते हैं कि यह समझ में आया कि मेरा यह यज्ञ उस आदमी के दान के बराबर है, तो युधिष्ठिर की समझ में कुछ नहीं आया; क्योंकि यदि यह महायज्ञ उस आदमी के दान के बराबर होता तो उस नेवले का आधा शरीर भी सोने का हो जाता, लेकिन नहीं हुआ।

इसीप्रकार यदि समग्र समयसार को सुनकर कोई यह कहे कि हम स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद छोड़कर साधु बनने को तैयार हैं, तो

समयसार उसकी समझ में नहीं आया; क्योंकि समयसार में तो यह कहा है कि ये स्त्री, पुत्रा, मकान, जायदाद तुम्हारे हैं ही नहीं। आत्मा तो त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति से युक्त है अर्थात् आत्मा ने आज तक किसी पर का न कुछ ग्रहण किया और न ही कुछ छोड़ा है।

इसलिए आचार्यदेव गाथा नं. 412 में कहते हैं कि अन्य सभी विकल्पों को तोड़कर अपनी आत्मा में ही स्थिर हो जाओ और उसी का ही ध्यान करो।

वास्तव में यह ध्यान भी करने की चीज नहीं, अपितु होने की चीज है। यह करने की भाषा तो उपदेश की भाषा है। समयसार की भाषा तत्त्वप्रतिपादन की भाषा है, द्रव्यानुयोग की भाषा है। 'ऐसा होता है' — यह करणानुयोग की भाषा है, 'ऐसा हुआ' — यह प्रथमानुयोग की भाषा है, 'ऐसा करना चाहिए' — यह चरणानुयोग की भाषा है और 'वस्तुस्वरूप ऐसा है' — यह द्रव्यानुयोग की भाषा है।

समयसार में द्रव्यानुयोग की भाषा का प्रयोग करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ और आत्मानुभूति से प्राप्त होनेवाला तत्त्व हूँ।

यह ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व आत्मानुभूति में ही प्राप्त होता है — इस सार को बतानेवाला समयसार का सार यहीं समाप्त होता है।



दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य, अनादि-अनन्त-त्रिकाली ध्रुव नित्य, असंख्यातप्रदेशी-अभेद एवं अनंतगुणात्मक-अखण्ड, एक कहा गया है।

इसमें जिसप्रकार सामान्य कहकर द्रव्य को अखण्ड रखा गया है, असंख्यातप्रदेशी-अभेद कहकर क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है और अनंत-गुणात्मक अखण्ड कहकर भाव को अखण्ड रखा गया है; उसीप्रकार अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव नित्य कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। अन्त में एक कहकर सभीप्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है।

इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव द्रव्य में स्वकाल का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है। इह दृष्टि का विषय, पृष्ठ-७९

समयसार का सार

(समयसार के सार विषय पर डॉ. भारिल्ल के २५ प्रवचनों का संकलन)

प्रवक्ता एवं संपादक
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी.

संकलनकर्ता
ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

प्रकाशक
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५
फोन : २७०७४५८, २७०५५८१

प्रथम संस्करण : ५ हजार
(२ अक्टूबर, २००३)
द्वितीय संस्करण : २ हजार
(१० मार्च, २००५)

मूल्य : पच्चीस रुपये

टाइपसेटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची	
१. श्री भगवानजी कचराभाई शाह परिवार, लंदन	₹५०००.००
२. श्रीमती कांताबेन अमृतलाल कोठारी हस्ते सुनीताबेन नितिनभाई शाह, मुम्बई	₹०००.००
३. श्रीमती शान्तिदेवी कमलचन्दजी मुसरफ, जयपुर	₹१००.००
४. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	₹०१.००
कुल राशि :	₹२४६०१.००

विषय-सूची

१.	पहला प्रवचन	५-२०
२.	दूसरा प्रवचन	२१-३५
३.	तीसरा प्रवचन	३६-५४
४.	चौथा प्रवचन	५५-६९
५.	पाँचवाँ प्रवचन	७०-८६
६.	छठवाँ प्रवचन	८७-१००
७.	सातवाँ प्रवचन	१०१-११७
८.	आठवाँ प्रवचन	११८-१३६
९.	नौवाँ प्रवचन	१३७-१५३
१०.	दसवाँ प्रवचन	१५४-१६८
११.	ग्यारहवाँ प्रवचन	१६९-१८०
१२.	बारहवाँ प्रवचन	१८१-१९८
१३.	तेरहवाँ प्रवचन	१९९-२१६
१४.	चौदहवाँ प्रवचन	२१७-२३०
१५.	पन्द्रहवाँ प्रवचन	२३१-२४६
१६.	सोलहवाँ प्रवचन	२४७-२५९
१७.	सत्रहवाँ प्रवचन	२६०-२७६
१८.	अठारहवाँ प्रवचन	२७७-२९२
१९.	उन्नीसवाँ प्रवचन	२९३-३०६
२०.	बीसवाँ प्रवचन	३०७-३२५
२१.	इक्कीसवाँ प्रवचन	३२६-३४०
२२.	बाईसवाँ प्रवचन	३४१-३५९
२३.	तेईसवाँ प्रवचन	३६०-३७२
२४.	चौबीसवाँ प्रवचन	३७३-३८४
२५.	पच्चीसवाँ प्रवचन	३८५-३९९